पूर्वी और पश्चिमी दर्शन

(द्वितीय परिवर्धित संस्करण)

डॉ० देवराज

इस पुस्तक में पूर्व और पश्चिम की महत्त्वपूर्ण दर्शन-पद्धतियों का **स्पष्ट, प्रमाणिक** और **तुलनात्मक** विवेचन किया गया है। हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में यह ग्रन्थ सहज अद्वितीय है, और अंग्रेजी में भी ऐसी कृति सुलभ नहीं है।...इस संस्करण में मूल विषय-वस्तु में काफ़ी विस्तार हुआ है और साथ ही, हिन्दी में पहली बार, **चीनी दर्शन का विशद परिचय** देने का प्रयत्न किया गया है। **इस्लामी दर्शन** का भी संक्षिप्त परिचय जोड़ा गया है।

पुस्तक के पहले संस्करण पर बंगाल हिन्दी मंडलने १२५०) **का पुरस्कार** दिया था।....सम्मतियों के लिये अन्त का कवर-पृष्ठ देखें।

भारत प्रेस, सदर बाजार, लखनऊ

परिचय

डॉ० देवराज उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग (रामपुर) के निवासी हैं। सन् १९३६ में आपने काशी विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में प्रथम हो बी० ए० (अंग्रेज़ी आनर्स सहित) किया; उसी वर्ष वेदान्त शास्त्री का द्वितीय खंड (वहीं से) प्रथम श्रेणी में पास किया। सन् '३८ में प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में प्रथम हो दर्शन में एम्० ए० किया, और सन् '४२ में वेदान्त-विषयक थीसिस पर डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की। कुछ वर्ष बिहार में व्यतीत कर पिछले ढाई-तीन वर्ष से आप लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापन कर रहे हैं।

डॉ० देवराज जन्मजात प्रतिभा से साहित्यकार हैं, स्वभाव से चिन्तक, और शिक्षा से दार्शनिक। आपके दो काव्य-संग्रह, दो आलोचनात्मक पुस्तकें, और तीन दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। एक काव्य-संग्रह और एक बृहत्काय उपन्यास शीघ्र प्रकाशित होने वाले हैं।

(कवर का तीसरा पृष्ठ देखिए)

নবনীতা
২৫ জুন '৫৫.

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन

(द्वितीय परिवर्धित संस्करण)

लेखक

डॉ० देवराज बी. ए. (आनर्स) एम. ए., डी. फ़िल्.

लखनऊ विश्वविद्यालय

बुद्धिवादी प्रकाशगृह, उत्तर प्रदेश

मुद्रक और विक्रेता

भारत प्रेस, सदर बाज़ार, लखनऊ

द्वितीयावृत्ति] [मूल्य ३॥)

प्रकाशक:—
बुद्धिवादी प्रकाशगृह
लखनऊ

मुद्रक:—
विष्णुनारायण भार्गव
भारत प्रेस,
४, नेहरू रोड, लखनऊ

श्रद्धेय

महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज

और

पंडित अमरनाथ झा

को

दूसरे संस्करण की प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक का पहला संस्करण सन् १९४५ ई० में प्रकाशित हुआ था, प्रायः सन् '४६ के अन्त से पुस्तक अप्राप्य रही है। अनेक कारणों से दूसरा संस्करण अब तक नहीं छापा जा सका था। वास्तव में हिन्दी प्रकाशन बड़ी अव्यवस्थित दशा में है। पाठ्य-पुस्तकों तथा उपन्यासों से व्यतिरिक्त ग्रन्थों को प्रकाशत करना प्रकाशिक लोग लाभ-प्रद नहीं समझते। इसका एक कारण यह भी जान पड़ता है कि हिन्दीभाषी जनता में गम्भीर पुस्तकों के क़द्रदाँ कम हैं। हमारे देश में अभी तक यह नहीं समझा जाता कि घर में सौ-पचास पु तकों का संग्रह रखना संस्कृत एवं सुरुचि-सम्पन्न होने का प्रमाण है।*

* प्रकाशकों की विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टि और जनता की लापर्वाही के फलस्वरूप बहुत कम अच्छे विद्वान् हिन्दी में लिखने की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी पन्द्रह क्या पचास वर्ष तक भी उच्च शिक्षा का माध्यम बनने योग्य नहीं होगी। पाठक आगे पढ़ेंगे कि चीनी भाषा में हक्सले, डार्विन, मिल, जेम्स, काएट, डेकार्ट, स्पिनोजा, रसेल, ड्यूई आदि दर्जनो पश्चिमी विचारकों के ग्रन्थ अनूदित हो चुके हैं—हिन्दी में इनमें से एक योरपीय चिन्तक का अनुवाद नहीं हुआ है। हिन्दीभाषी जनता और युवकों के लिये यह बड़ी लज्जा और परिताप की बात है। हिन्दीभाषी प्रान्तों में विश्वविद्यालयों के शिक्षक भी हिन्दी में बहुत कम दिलचस्पी लेते पाये जाते हैं। विश्वविद्यालयों में हिन्दी-साहित्य के शिक्षक जहाँ प्रायः कूप-मण्डूक होते हैं (अन्य विषय तो क्या वे दूसरी भाषाओं के साहित्य भी नहीं पढ़ते) वहाँ दूसरे विषयों के शिक्षक हिन्दी के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं। इस अन्तिम स्थिति का एक कारण

पहले संस्करण की प्रेस में जहाँ काफ़ी प्रशंसा हुई थी वहाँ लेखक पर दो-एक रोचक अभियोग भी लगाये गये थे। एक पत्रिका की शिकायत थी कि भाषा बड़ी कठिन है। एक पत्र के आलोचक ने संकेत किया था कि लेखक, निष्पक्ष अथवा तटस्थ होने का दावा करते हुए भी, भारतीय दर्शन के पक्षपात से मुक्त नहीं है। इसके विपरीत "मॉडर्न रिव्यू" के समीक्षक का विचार था कि लेखक ने योरपीय दर्शन का कुछ पक्षपात किया है! उक्त सज्जन ने पुस्तक की भाषा को सरल एवं पारिभाषिक दुरूहता से मुक्त कहकर उसकी प्रशंसा की थी। इन विरोधी सम्मतियों के बीच यदि लेखक अपने को बहुत हद तक संकेतित कमियों से मुक्त मान ले तो उसे दोषी नहीं समझा जाना चाहिए!

एक अधिक महत्त्वपूर्ण शिकायत यह की गई थी कि लेखक ने पहले पृष्ठ के फुटनोट में चीनी दर्शन के सम्बन्ध में कुछ ग़लत अथवा अन्यायपूर्ण वक्तव्य दे डाला था। इस शिकायत में कुछ बल था और उसका प्रतिकार करने के लिए इस संस्करण में चीनी (और साथ ही इस्लामी) दर्शन पर एक लम्बा परिशिष्ट दिया जा रहा है। सम्भवतः हिन्दी भाषा में चीनी दर्शन पर कुछ लिखने का यह पहला प्रयास है। लेखक को इस प्रयत्न से विशेष संतोष नहीं है, यद्यपि चीनी

यह भी है कि हिन्दीभाषी प्रान्तों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी लेखकों को विशेष सम्मान नहीं मिलता। इसका वर्त्तमान और भविष्य दोनो के लिये दुष्ट परिणाम होता है। पिछले तीन वर्ष में लखनऊ वि० वि० से दर्शन में एम्० ए० करनेवाला मुझे एक भी ऐसा छात्र नहीं मिला जिसमें हिन्दी में कुछ लिखने की उमंग हो।....और कोई भी लिखकर क्या करे जब न प्रकाशक हैं, न पढ़नेवाली जनता, न विद्वानों से सम्मान पाने की संभावना। विश्वविद्यालयों में समझा जाता है कि हिन्दी में लिखना या तो अंग्रेजी में लिखने की अक्षमता का द्योतक है अथवा उच्च कोटि की चिन्तन-शक्ति या विद्वत्ता की कमी या अभाव का।

दर्शन का यत् किञ्चित् अध्ययन करते हुए उसकी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि दर्शन के क्षेत्र में चीन और भारतवर्ष में कोई तुलना नहीं है। दार्शनिक चिन्तन का प्राण ज्ञान-मीमांसा है जिसका चीन में व्यवस्थित विकास न हो सका।

जब यह ग्रन्थ लिखा गया था तब से जहाँ प्रस्तुत लेखक के ज्ञान में कुछ परिवर्द्धन हुआ है वहाँ उसकी दृष्टि और मनोवृत्ति में परिवर्त्तन या संशोधन भी हुआ है। तब से देश की परिस्थिति भी बदल गई है। अब हम स्वतंत्र हो गये हैं जिसके फलस्वरूप, जीवन के सब क्षेत्रों में, हमारा दायित्व बहुत बढ़ गया है। ग़ुलामी की दशा में हमारे लिए यह स्वाभाविक और उचित था कि हम संसार के सामने अपने प्राचीन सांस्कृतिक वैभव को उज्ज्वल रूप में प्रदर्शित करें, और उसमें गौरव का अनुभव करते हुए यह सिद्ध करें कि न सिर्फ़ हम ग़ुलाम रहने योग्य नहीं हैं, अपितु हमारा यह पैतृक अधिकार है कि हम विश्व-संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योग दें। आज, बदली हुई परिस्थिति में, हमारी जिम्मेदारी और कर्तव्य अधिक भारी हो गये हैं। अब हमें यह सिद्ध करना है कि हम अपने पूर्वजों के योग्य वंशधर हैं और उन्हीं की तरह प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी चिन्तन एवं प्रयोग करने की क्षमता रखते हैं। संक्षेप में, आज हमें दर्शन-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र, विज्ञान आदि क्षेत्रों में मौलिक चिंतन का बीजारोपण एवं विकास करना है।

प्रस्तुत लेखक की यह धारणा दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती जा रही है कि प्रत्येक युग, प्रत्येक जाति एवं प्रत्येक पीढ़ी के मनुष्यों को जीवन के प्रत्येक पक्ष के सम्बन्ध में स्वतंत्र चिन्तन करके अपने उपयुक्त जीवन-विवेक को स्वयं प्राप्त करना पड़ता है। जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति के शारीरिक व्यायाम से हमारे शरीर को लाभ नहीं पहुँचता, उसी प्रकार दूसरे युग अथवा जाति के बौद्धिक व्यायाम अथवा चिन्तन से भी हम विशेष लाभ नहीं उठा सकते। यह व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकती कि योरप के वैज्ञानिक

अन्वेषण एवं आविष्कार करें, और हम उनकी नकल करके उनका लाभ उठायें; वे राजनीति में जनतन्त्र आदि के प्रयोग करें, और हम उनका अधूरा अनुकरण करते रहें। जिस प्रकार एक देश के शील-स्वभाव अथवा चारित्रिक बल से दूसरे देश का कल्याण नहीं होता (अन्यथा आज हमारे देश की ऐसी दुर्दशा न होती क्योंकि ब्रिटेन आदि देशों में ईमानदारी तथा निःस्वार्थ जन-सेवा-भाव की कमी नहीं है) इसी प्रकार दूसरे देशों की बौद्धिकता अथवा चिन्तनशीलता से हमारा कल्याण नहीं हो सकता। यह बहुत ज़रूरी है कि आज हम प्रत्येक प्रश्न पर स्वतन्त्र ढंग से सोचने की आदत डालें और इस झूठे गर्व में न फूले फिरें कि हमारे प्राचीन दार्शनिकों ने जीवन-मरण की सब समस्याओं का हल सदा के लिए प्रस्तुत कर दिया है। वस्तुतः स्वतन्त्र रूप में विचारशील बने बिना हम प्राचीन विचारकों का उचित मूल्यांकन भी नहीं कर सकते। आज हालत यह है कि प्राचीन दर्शनों आदि के पढ़ने वाले यदि एक फी-सदी हैं तो उनकी दुहाई देने वाले पिच्चानवे फी-सदी।

आज विभिन्न विज्ञानों की प्रगति दर्शन के क्षेत्र में नये-नये प्रश्न उठा रही है; ये प्रश्न प्राचीन युगों में उठ ही नहीं सकते थे, इसलिए उन युगों में उनका समाधान भी नहीं दिया जा सकता था। एक जीवित जाति के सदस्य विगत युगों के विचारकों से चिन्तन का अभ्यास सीखते हैं और उस अभ्यास का उपयोग करते हुए निरन्तर नये प्रश्न उठाते और उनका समाधान ढूँढते हैं।

पाठकों से मेरा निवेदन है कि वे इस पुस्तक को इसी स्पिरिट में पढ़ें। वे इन पृष्ठों से विविध दार्शनिक प्रश्नों एवं उनके पूर्वी-पश्चिमी वैकल्पिक समाधानों की चेतना प्राप्त करें, लेकिन यहाँ दिये हुए समाधानों को—फिर चाहे वे स्वदेशी हों या विदेशी—अन्तिम न समझें। यदि मेरे पाठकों ने इस पुस्तक से ऐसी प्रेरणा ली तो मैं अपने इस प्रयत्न को विफल नहीं समझूँगा।

परिशिष्टों के अतिरिक्त पुस्तक के कलेवर में भी जहां-तहां परिवर्धन-संशोधन किये गये हैं, विशेषतः 'ज्ञानमीमांसा' और 'विश्व की व्याख्या' शीर्षक अध्यायों में। 'स्याद्वाद', 'प्रैग्मेटिज्म' (जिस के लिये इस संस्करण में 'व्यवहारवाद' शब्द का प्रयोग हुआ है), 'प्रामाण्यवाद', 'बुद्धिवाद की समीक्षा—बर्गसाँ और धर्मकीर्ति' विषयों में अन्तिम जोड़ा गया है, शेष फिर से लिखे गये हैं। 'विश्व की व्याख्या' अध्याय में 'मार्क्सवाद' का विवरण जोड़ दिया गया है। 'नव्योत्क्रान्तिवाद' तथा 'बर्गसाँ' का प्रतिपादन विस्तृत कर दिया गया है।

प्रस्तुत लेखक को महसूस हुआ है कि ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में बौद्ध दार्शनिकों के विचार हिंदू विचारकों से भी अधिक आधुनिक अतएव महत्वपूर्ण हैं। स्पष्ट ही हिन्दू तत्वमीमांसा के अनेक प्रश्न (जैसे मोक्षवाद, परमाणुवाद, सांख्य का विकासवाद) आज रुचिकर नहीं रह गये हैं; इसके विपरीत बौद्ध तत्वमीमांसा के कतिपय विमर्श (जैसे क्षणिकवाद, सामान्यों का स्वरूप आदि) आज के विचारकों को भी रोचक लगेंगे। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में न्याय आदि हिन्दू दर्शनों की कुछ चिन्तनाएँ काफी आधुनिक और महत्वपूर्ण हैं।

'अध्यात्मवाद' अध्याय (बार्कले तथा विज्ञानवाद के प्रतिपादन में किंचित् परिवर्धन के व्यतिरिक्त) प्रायः ज्यों-का-त्यों है। इस युग के दार्शनिक अध्यात्मवाद में कम दिलचस्पी ले रहे हैं। सब प्रकार का अध्यात्मवाद मानव व्यक्तित्व का सम्बन्ध एक ऐसे परम तत्त्व से जोड़ना चाहता है जो अशेष मूल्यों का शाश्वत आधार है। शायद ऐसे तत्त्व की कल्पना मनुष्य की अहन्ता को पुष्ट करती है, संभवतः वह अस्तित्व की सार्थकता में आस्था रखने के लिये अनिवार्य लगती रही है। भारतीय तथा योरपीय अध्यात्मवाद इस प्रकार की कल्पना के विभिन्न रूप हैं; ये रूप काफी भिन्न हैं। ज्ञानमीमांसा और अध्यात्मवाद के क्षेत्रों में भारतीय सिद्धान्त योरपीय सिद्धान्तों के समान अथवा उनकी आवृत्ति जैसे न होकर अक्सर नये-निराले विकल्पों से जान पड़ते हैं।

ऐसे दर्शन की पृष्ठभूमि रहते हुए भी आज हम देश में मौलिक दार्शनिक चिन्तन की प्रतिष्ठा नहीं कर पा रहे हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है। दूसरे परिशिष्ट में इस परिस्थिति पर विचार करके कुछ सुझाव दिये गये हैं।

'नीतिधर्म' वाले अध्याय में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इस समय प्रस्तुत लेखक की धारणा है कि अब भारतीय मस्तिष्क को परलोकवाद तथा मोक्षवाद से विरत होकर मानववाद अथवा लोककल्याणवाद का अवलम्ब लेना चाहिए। सम्भव है योग आदि क्रियाओं में कुछ सार हो, किन्तु यह निश्चित है कि हमारी लौकिक समस्याओं का हल विज्ञान-सम्मत उपायों से ही हो सकता है, अलौकिक अथवा दैवी चमत्कारों द्वारा नहीं। जब सोमनाथ का मन्दिर तोड़ा गया और हमारा देश यवनों द्वारा आक्रान्त हुआ तब किसी देवी-देवता अथवा योगी ने हमारे देश की रक्षा नहीं की, किसी योगी ने अपने चमत्कार से हमारी दासता का बन्धन भी नहीं काटा, और न किसी अलौकिक शक्ति ने बंगाल के भीषण अकाल अथवा पंजाब के पारस्परिक रक्तपात से ही हमारी रक्षा की। आज भी हमारे देश में अन्न-वस्त्र की कमी है; कहाँ कोई योगी या तपस्वी हमारी मदद को आता है? हमें इस कटु सत्य को (यदि सत्य कड़वा हो सकता है तो) मानना ही पड़ेगा कि सीमित मनोवैज्ञानिक बुद्धि ही हमारे त्राण का एकमात्र साधन है। हमें समझ लेना चाहिए कि अपनी बुद्धि और अपने चरित्र का परिष्कार किये बिना हम कभी अपने देश को समुन्नत नहीं बना सकते। गीता कहती है—आप अपना उद्धार करे; अपने समुन्नत युग में हम भारतीय ईश्वर अथवा भाग्य पर नहीं स्वयं अपने पर निर्भर रहते थे। रघुवंशियों के सम्बन्ध में कालिदास ने लिखा है—स्ववीर्य गुप्ता हि मनोः प्रसूतिः, अर्थात् मनु के वंशज अपनी रक्षा स्वयं अपने वीर्य (शक्ति) से करते थे। ईश्वर पर तो क्या वे सेना पर भी निर्भर नहीं करते थे:—

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम्
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धि मौर्वी धनुषि चातता।

अर्थात् उस (दिलीप) की सेना तो मात्र शोभा के लिये थी ; उसकी कार्य-सिद्धि के साधन तो दो ही थे, शास्त्रों में अकुण्ठित बुद्धि और धनुष में चढ़ी डोरी। मध्य युग की ईश्वरशरणागति की मनोवृत्ति इससे कितनी भिन्न है !

'शास्त्रों में अकुण्ठित बुद्धि,' आज भी अमरीका आदि की महत्ता का रहस्य ज्ञान-विज्ञान की उन्नति है। प्रस्तुत लेखक को वेदान्त का मायावाद मान्य नहीं, पर यह सिद्धान्त मान्य है कि सब जीवों में एक ही (अद्वैत) जीवन-शक्ति का निवास है—आत्मतत्त्व एक है। आश्चर्य की बात है कि वेदान्त के इस देशमें आज सब से अधिक स्वार्थपरता और छल-प्रपंच है। वेदान्तीय आत्माद्वैत का एकमात्र व्यावहारिक निष्कर्ष यही हो सकता है कि हम सब को आत्म-रूप, कम-से-कम अपने जैसा, समझें और 'सर्वभूत-हित' को, जन-हित को, अपना हित समझते हुए कर्म करें। मेरी दृष्टि में भारतीय धर्म और दर्शन, विशेषतः वेदान्त की, शिक्षा का यही सार है।

लखनऊ
२६ जनवरी,
१९५१

देवराज

पहले संस्करण की प्रस्तावना

प्रायः तीन वर्ष हुए कि मैंने अपनी थीसिस, 'क्राइटीरियालोजी इन् शंकर' में तुलनात्मक दर्शन पर कुछ विचार प्रकट किये थे। तभी से मेरी इच्छा थी कि उन विचारों के अनुरूप पद्धति से तुलनात्मक दर्शन पर कुछ लिखूं। मेरी यह भी इच्छा थी कि 'थीसिस' के कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को हिन्दी माध्यम में अनूदित करूं। प्रसन्नता की बात है कि आज मेरी ये दोनो इच्छाएं पूर्ण हो रही हैं। सब से अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात की है कि यह पुस्तक अपने मूलरूप में मातृ-भाषा में लिखी गई है।*

तुलनात्मक दर्शन का आदर्श क्या होना चाहिए ? जीवन और जगत् के बारे में सत्य की उपलब्धि तुलनात्मक दर्शन का साक्षात् उद्देश्य नहीं है। तुलनात्मक अध्ययन में हम जिस सत्य को खोजते हैं वह विभिन्न दर्शन-पद्धतियों विषयक सत्य है, जीवन और जगत्-विषयक नहीं। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन से जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण बनाने में, जो एकांगी नहीं है और जो देश-काल

---

* 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' नाम पर आक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि पुस्तक में सब पूर्वी दर्शनों की पश्चिमी दर्शनों से तुलना नहीं की गई है। उत्तर में निवेदन है कि भारतीय दर्शन सहज ही पूर्वी देशों का प्रतिनिधि-दर्शन कहा जा सकता है। प्राचीन चीनी दर्शन में तत्त्व-मीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा व्यवस्थित रूप न ले सके; बाद में वह बौद्ध दर्शन से प्रभावित भी हुआ। इस्लामी दर्शन मौलिक न था, वह एक प्रकार से यूनानी दर्शन की व्याख्या या अनुवाद-रूप था। उस पर भी भारतीय दर्शन का प्रभाव पड़ा था।

एवं जातीय पक्षपातों के प्रभाव से न्यूनाधिक मुक्त है, सहायता मिलती है। वस्तुतः तुलनात्मक दर्शन का प्रधान उद्देश्य उन विभिन्न दृष्टिकोणों, प्रयोजनों और पद्धतियों का विशद निरूपण होना चाहिए, जिन्होंने विभिन्न दर्शनों की प्रगति को निर्धारित किया है। उदाहरण के लिए पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के तुलनात्मक अध्येयता को यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि वे दर्शन किस उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए थे, दार्शनिक चिन्तन के विषय अर्थात् अनुभव-जगत् के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण था, उनकी चिन्तन-पद्धति क्या थी और वे किन मान्यताओं (Pre-suppositions) को आवश्यक मानकर चले थे। संक्षेप में, तुलनात्मक दर्शन को यह बताना चाहिए कि विभिन्न देशों या युगों के दर्शन कहाँ से चिन्तन प्रारम्भ करते हैं और किस पद्धति का अवलम्ब लेकर कहां पहुंचना चाहते हैं। विभिन्न दर्शनों के **निष्कर्षों** पर ध्यान देना तुलनात्मक दर्शन के लिए अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है।* इसीलिए तुलनात्मक दर्शन में विभिन्न पद्धतियों का, विशेषतः यदि वे पद्धतियां भिन्न देशों की हैं, मूल्य आंकने की कम-से-कम चेष्टा होनी चाहिए। बात यह है कि किसी प्रकार का मूल्यांकन एक विशेष दृष्टिकोण को अपना लेने पर ही सम्भव हो सकता है, और जिसने एक खास दृष्टिकोण बना लिया

---

*The primary purpose of a comparative study is to faithfully describe the various approaches to, and the various methods employed in the systematization of, the same subject matter...It is of utmost importance...to pay greater attention to the *assumptions*, *starting-points* and *methods* of different systems than to the actual conclusions at which they have arrived...The cultural value of comparative studies consists in their tendency to promote tolerance of divergent outlooks and approaches, methods and opinions ("क्राइटीरियालोजी"—से उद्धृत।)

है वह निष्पक्ष दृष्टि से विभिन्न देशों और युगों की विशेषताओं का वर्णन नहीं कर सकता। दुर्भाग्यवश अधिकांश तुलनात्मक अध्येताओं ने अब तक यही किया है। दृष्टिकोणों और पद्धतियों (Methods) की अपेक्षा निष्कर्षों पर अधिक दृष्टि रखी जाने का परिणाम यह हुआ है कि जहां कुछ लेखकों ने शाङ्कर वेदान्त की (यह एक उदाहरण पर्याप्त होगा) पार्मिनिडीज़, प्लेटो, काण्ट, हीगल, फिच्टे, एखार्ट, बर्कले, ब्रेडले आदि विचारकों से यथारुचि तुलना कर डाली है, वहां ईसाई पण्डितों ने उसे कोरा मिथ्यावाद या भ्रमवाद (Illusionism) कह कर उड़ाने की चेष्टा की है। ऊपर हमने जिन योरपीय दार्शनिकों का उल्लेख किया उनकी पद्धतियां परस्पर नितान्त भिन्न हैं, फिर शाङ्कर वेदान्त उन सब के समान कैसे हो सकता है ? वस्तुतः दो-एक दार्शनिक निष्कर्षों या सिद्धान्तों की समानता से कोई पद्धतियां समान नहीं हो जातीं। क्योंकि योरप के अधिकांश बड़े दार्शनिक अध्यात्मवादी हैं, और शाङ्कर वेदान्त भी अध्यात्मवादी है, इसलिए उन योरपीय विचारकों में पारस्परिक तथा वेदान्त की अपेक्षा से भी कुछ समानताएं पाई जा सकती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन सब के दर्शनों में महत्वपूर्ण भेद नहीं हैं, या वे लगभग समान हैं।

इसका यह मतलब नहीं है कि जहाँ विभिन्न दर्शनों में समानताएं हों वहां भी उन्हें देखने से इन्कार कर दिया जाय। योरप के कुछ पण्डितों ने आक्षेप किया है कि भारतीय लेखक अपने प्राचीन विचारकों में उन नये सिद्धान्तों को ढूंढ़ निकालते हैं जो कि वस्तुतः आधुनिक योरप में अन्वेषित और प्रचारित हुए हैं।* यह आक्षेप निराधार नहीं है। दो शताब्दियों की गुलामी ने भारतीयों में हीनता-भाव उत्पन्न कर दिया है, जिससे वे अपने विचारकों की पश्चिमी विचारकों से तुलना करने को लालायित हो जाते हैं। किन्तु यह समझना भ्रम है कि इस प्रकार की तुलनाएं भारतीय पण्डितों ने ही की हैं। वस्तुतः,

* दे० Keith, Buddhist Philosophy, Preface.

भारतीय दर्शनों की पश्चिमी पद्धतियों से लम्बी-चौड़ी तुलनाओं का आरम्भ पश्चिमी लेखकों ने ही किया था, और आज भी वे इससे विरत नहीं हैं।* इसके अतिरिक्त, यदि कहीं योरप के आधुनिक विचार प्राचीन भारतीय दर्शन में पाये ही जायँ, तो चारा ही क्या है? यदि बार्कले से पहले विज्ञानवाद, और ब्रेडले से पहले नागार्जुन का जन्म हो गया, तो इसके लिए बेचारे भारतीयों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

इस पुस्तक में हमने यथाशक्ति सिर्फ निष्कर्षों के आधार पर समानताएं या विषमताएं देखने की चेष्टा नहीं की है। विशेषतः अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में हमारा अपना निष्कर्ष यह है कि भारतीय वेदान्त और योरपीय अध्यात्मवादियों में विशेष समानता नहीं है। इस पुस्तक में हमने प्रधानतया पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के दृष्टिकोणों, प्रयोजनों और पद्धतियों का निर्देश करने का प्रयत्न किया है। साथ ही हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार ऊपर की विशेषताओं ने पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक प्रगति को निरन्तर निर्धारित किया है। हमने जहाँ कहीं मूल्यांकन का प्रयत्न किया है, वहां उसका आधार या तो तर्क-शास्त्र का प्रसिद्ध मापदण्ड आत्मसंगति (Self-consistency) है, या सहज बुद्धि (Common sense)। उदाहरण के लिए हमने बर्गसां के प्रतिभानवाद (Intuitionism) की तुलना में वेदान्त के प्रत्यक्ष के विश्लेषण को अधिक पूर्ण बतलाया है, और यह मत प्रकट किया है कि योरप ने भारत की अपेक्षा विश्व-व्याख्या के अधिक साहसपूर्ण और विविध प्रयत्न किये हैं।

प्रस्तुत लेखक की शिक्षा-दीक्षा प्रायः पश्चिमी ढंग पर हुई है, इसलिए उस में पश्चिमी पक्षपातों का पाया जाना आश्चर्य की बात नहीं

*** भारतीय दर्शनों में वेदांत सब से अधिक तुलनाओं का शिकार हुआ है। विशेष विवरण के लिए देखिये,** N.K.dutt, the Vedanta, पृ० ३२-३६; तथा 'Hinduism Invades America, (1930)

है। साथ ही उसने पूर्वी ढंग से भारतीय दर्शनों का भी किंचित् अध्ययन किया है, और, इसके सिवाय, उसकी धमनियों में प्राचीन भारत का रक्त है। ऐसी दशा में उसके लिए पूर्व और पश्चिम दोनों को सहानुभूति दे सकना असम्भव नहीं है। उसने बार-बार अपने भीतर पूर्व और पश्चिम को युद्ध करते, सांस्कृतिक विजय के लिए लड़ते, पाया या अनुभव किया है। पश्चिम का आदर्श है निघृ्ण आलोचनात्मक दृष्टि और तटस्थता। पश्चिमी मस्तिष्क ऐसे किसी सत्य को चाहे वह कितना ही प्यारा और आकर्षक हो, स्वीकार नहीं कर सकता जो बुद्धि की कसौटी पर खरा न उतरे; वह परुष तर्कशास्त्र के अप्रिय-से-अप्रिय निष्कर्षों को ग्रहण करने को तैयार रहता है। इसके विपरीत भारतीय हृदय सहिष्णु और सम्वेदनशील है। भारतीय मस्तिष्क सत्य को समझना ही नहीं चाहता, वह उसे आत्मसात् भी करना चाहता है। सीमित विश्व की दुःखानुभूति से व्याकुल भारतीय हृदय सदैव अनन्त के लिए साधनाशील रहा है। भारतीय दर्शन विश्व की व्याख्या करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह 'भूमा' की प्राप्ति का पथ-निर्देश भी करना चाहता है। 'भूमा' के अस्तित्व में उसकी अटल श्रद्धा है, उसकी सिद्धि के लिए वह तर्क का मुंह नहीं जोहता; वह उसकी आवश्यक मान्यता (Postulate) है। अपने इस विश्वास को बनाये रखने के लिए वह सम्भवतः तर्क का परित्याग भी कर देगा। इसके विपरीत योरपीय दर्शन किसी दशा में मात्र श्रद्धा से समझौता नहीं करेगा। इस विषय में मेरी पूर्व और पश्चिम दोनों से सहानुभूति है, जिसका परिणाम दुविधा और मानसिक सन्तुलन का खोया जाना है।

ऐसी दशा में मेरा विश्वास है कि मैंने पूर्व और पश्चिम दोनों को समान सहानुभूति देने की चेष्टा की है। फिर भी यदि पाठकों को कहीं-कहीं भारतीय पक्षपात की गंध मिले, तो आश्चर्य नहीं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि भारत के पराधीन होने के कारण प्राया उसकी विभूतियों का उचित मूल्य नहीं लगाया जाता। इस अन्याय

का प्रतिकार करने के लिए कभी-कभी भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य को अतिरंजित करके दिखाना पड़ जाता है। दूसरे, संस्कृत ग्रन्थों तक सीधी पहुँच होने के कारण तथा अंग्रेजी के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा, विशेषतः प्राचीन ग्रीक और आधुनिक जर्मन, न जानने के कारण सम्भवतः मैं योरपीय दर्शन को उतने आन्तरिक रूप में नहीं समझ सकता जैसे कि भारतीय दर्शन को; फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं अपने को राष्ट्रवाद (Nationalism) के अंध पक्षपातों से ऊपर रख सका हूं। मेरी अभिलाषा है कि मेरे पाठक जहाँ भारतीय दर्शन और संस्कृति के उदात्त रूप को ठीक-ठीक हृदयंगम करें, वहां योरप के नितान्त साहसपूर्ण विचारकों का, जो मात्र मानव-बुद्धि का सम्बल लेकर विश्व की गहराइयों में पैठ जाते हैं, महत्त्व देखने से वञ्चित न रहें।

भारतीय और योरपीय दर्शन की समानताएं और विषमताएं दोनों ही विस्मयजनक हैं। आश्चर्य की बात है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने बहुत-सी उन समस्याओं को उठाया जिन पर योरपीय दर्शन आधुनिक काल में बराबर विचार करता रहा है। उदाहरण के लिए वर्त्तमान सम्वित्-शास्त्र के प्रायः सभी प्रश्नों पर प्राचीन भारतीय दर्शन में आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है; प्रमा के स्वरूप और उसकी परख (Criterion) पर चिन्तन करते हुए भारतीय दार्शनिकों ने विलियम जेम्स के व्यवहारवाद (Pragmatism) जैसे अति आधुनिक मन्तव्यों को भी अकल्पित नहीं छोड़ा, जबकि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद जैसे सिद्धान्त आधुनिक यथार्थवाद को भी कुछ सिखा सकते हैं। प्रमा या यथार्थज्ञान के सम्बन्ध में प्लेटो और वेदान्त का सादृश्य अद्भुत है। इसी प्रकार वेदान्त और बर्गसां के प्रातिभ ज्ञान (Intuition) सम्बन्धी विचारों में आश्चर्यजनक समता है। विज्ञानवाद और बार्कले, तथा नागार्जुन और ब्रेडले में भी कम सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार स्पेन्सर के विकासवाद और सांख्य के परिणामवाद में अद्भुत साम्य है।

समानताओं की अपेक्षा विषमताएं और भी अधिक चकित करनेवाली हैं। दर्शन-शास्त्र का व्याख्येय एक ही अनुभव-जगत् है; जीवन, मृत्यु और मोक्ष की समस्या भी सारी मानवता के लिए एक ही है; फिर पूर्वी और पश्चिमी दर्शन एक-दूसरे से इतनी भिन्न प्रणालियों में क्यों बढ़े हैं? एक दर्शन मोक्ष को ध्येय बनाकर चलता है, दूसरा विश्व की व्याख्या को; एक का चिन्तन निरुपयोगी है, दूसरे का असीम आत्मा को पकड़ने के लिए; एक का प्रधान अस्त्र बुद्धि है, दूसरा अपरोक्षानुभूति पर जोर देता है। यही नहीं, ज्ञान का विश्लेषण करते समय योरपीय दर्शन जहां प्रत्ययात्मक या धारणात्मक (Conceptual) ज्ञान पर दृष्टि रखता है, वहां भारतीय विचारक प्रत्यक्ष अनुभव पर ध्यान जमाये रहते हैं; और जहां भारतीय अध्यात्मवाद ब्रह्म को प्रज्ञानघन अथवा प्रत्यक्ष-चेतनारूप कथित करता है, वहां योरपीय परब्रह्म अक्सर प्रत्यय-समष्टि-रूप या धारणात्मक कल्पित किया गया है। शङ्कर एवं प्लेटो और हीगल की पद्धितयां हमारे इस कथन की पुष्टि करेंगी। जहां योरपीय चेतना को प्राचीन काल से सीमित और समञ्जस पदार्थों से प्रेम रहा है, वहां भारतीय हृदय प्रारम्भ से ही 'भूमा' या असीम का अनुरागी रहा है। इसलिए जहां योरपीय नीति-शास्त्र समझ में आने योग्य ऐहिक पूर्ण जीवन को अपना लक्ष्य बनाता है, वहां भारतीय नीतिधर्म नैतिक जीवन से परे मोक्षादर्श के लिए साधना का रूप धारण कर लेता है।

पूर्वी और पश्चिमी दोनों दर्शनों के अध्येता को दोनों जगह के चिन्तन की एकरसता खलने लगती है। योरपीय दर्शन लगातार विश्व की व्याख्याएं प्रस्तुत करता आया है, और भारतीय दर्शन निरन्तर मोक्ष के उपायों को खोजता चला आया है। तुलनात्मक दर्शन का विद्यार्थी जितनी सरलता से विभिन्न दृष्टिकोणों की एकांगिता और रूढ़िवादिता को देख और पकड़ सकता है, उतनी कोई नहीं; साथ ही वह विभिन्न दृष्टिकोणों और चिन्तन-प्रकारों के प्रति सहिष्णु होना भी सीखता है। मेरी समझ में तुलनात्मक अध्ययन के यह दोनों महत्व-

पूर्ण उपयोग है। विभिन्न मान्यताओं (Presuppositions) को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों से निर्मित होनेवाली भिन्न-देशीय दर्शन-पद्धतियों का दृश्य उपस्थित करके तुलनात्मक अध्ययन दार्शनिक चिन्ता को अधिक सजग और सचेतन (Self-conscious) बनाने में सहायक हो सकता है।

हिन्दी माध्यम में दर्शन पर, विशेषतः योरपीय दर्शन पर, लिखने की कठिनाइयों का ठीक-ठीक अनुमान वे ही कर सकते हैं जिन्होंने इस दिशा में कभी प्रयत्न किया है। विभिन्न आधुनिक शास्त्रों और विज्ञानों की विषय-वस्तु के लिए हिन्दी-शब्द पाना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। मैंने यथा-साध्य पुस्तक की भाषा सरल रखने का प्रयत्न किया है। किन्तु इस पुस्तक में मैंने कठिन-से-कठिन समस्याएं उठाने में संकोच नहीं किया है, इसलिए कहीं भाषा अनिवार्य रूप से कठिन हो गई होगी। पाठकों से मैं केवल यही निवेदन कर सकता हूं कि विचारों की गम्भीरता के अनुपात में वे पुस्तक की भाषा कठिन नहीं पायेंगे।

भाषा को सुबोध रखने के लिए मैंने पारिभाषिक शब्दों का कम-से-कम प्रयोग किया है। कुछ प्रचलित शब्दों के बदले दूसरे शब्द भी पसन्द किए हैं। उसका उद्देश्य भी पाठकों को यथाशक्ति अस्वाभाविक व्यञ्जनाओं से बचाए रखना है। लाइबनिज़ के मोनाड को शक्त्यणु या आत्मकण न कह कर 'चिद्बिन्दु' कहना मुझे ज्यादा रोचक लगा। इसी प्रकार रियलिज़्म का अनुवाद यथार्थवाद किया गया है और मैटीरियलिज़्म का जड़वाद; यह दोनो शब्द सामान्य भाषा के निकट हैं। हिन्दी संसार के प्रसिद्ध विद्वान श्री गुलाबराय की सम्मति थी कि 'आइडियलिज़्म' का अनुवाद प्रत्ययवाद ही किया जाय, अध्यात्मवाद नहीं, क्योंकि उक्त शब्द हिन्दी दार्शनिक ग्रन्थों में बराबर व्यवहृत होता है और अंग्रेज़ी शब्द का भाव भी देता है। किन्तु मुझे 'प्रत्यय-वाद' शब्द में वाचकता नहीं लगती। दूसरे, वह विज्ञानवाद का

पर्याय-सा जान पड़ता है। तीसरे, भले ही योरपीय अध्यात्मवाद प्रत्यय-तत्व को प्रधानता देता आया हो, भारतीय वेदान्त की पद्धतियों में ऐसा नहीं है। वस्तुतः 'अध्यात्मवाद' में Idealism शब्द का पूरा लचीलापन है, और उसके अनुषंग (Associations) भी अंग्रेज़ी शब्द से मिलते-जुलते हैं।

विभिन्न दर्शन-पद्धतियों का विस्तृत प्रतिपादन करना न तो इस पुस्तक का उद्देश्य था, और न सम्भव ही था। दर्शनों का केवल उतना ही विवरण दिया गया है जितना लेखक के तुलनात्मक निर्णयों का आधार स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था। सम्भवतः 'विश्व की व्याख्या' अध्याय इस नियम का कुछ अंशों तक अपवाद कहा जा सकता है। किन्तु मेरा विश्वास है कि दर्शन-पद्धतियों की, विशेषतः योरपीय दर्शनों की, समग्र-दृष्टि देने में यह अध्याय अवश्य ही सहायक होगा।

दर्शनशास्त्र बहुत गहन विषय हैं, और पूर्व और पश्चिम के समग्र दर्शनों का सन्तोषप्रद अध्ययन करने के लिए पूरा जीवन भी काफी नहीं है। इस विचार से मैं अपनी वाचालता पर लज्जित हो उठता हूं। किन्तु फिर भी जल्दी-से-जल्दी हिन्दी के पाठकों को विश्व के विचार-वैभव से परिचित करा देने की इच्छा मुझे विवश कर देती है। 'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है', यह उद्गार सदा की भांति आज भी सत्य है। विश्व की ज्ञान-राशि को आत्मसात् करके ही हम भारतीय आगे बढ़ सकते हैं।

इस पुस्तक के तैयार करने में मुझे जिन-जिन पूर्वी और पश्चिमी लेखकों से सहायता मिली है, उन्हें धन्यवाद देने की चेष्टा व्यर्थ होगी। श्री गुलाबराय के कतिपय परामर्शों से मैं लाभान्वित हुआ हूं। मेरे सहयोगी प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा ने अपने स्वर्गीय पिता पं० श्री रामावतार शर्मा की लाइब्रेरी का स्वच्छन्द उपयोग करने दिया; एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूं। जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा,

के भूतपूर्व सहृदय अध्यक्ष श्री पं० भुजबली शास्त्री का भी मैं आभारी हूं। इन सज्जनों की सहायता के बिना सम्भवतः मुझे यह पुस्तक लिखने का साहस भी नहीं होता, क्योंकि आरा जैसे स्थान में आवश्यक पुस्तकें मिलना नितान्त कठिन था। इसके अतिरिक्त मैंने समय-समय पर पटना यूनिवर्सिटी-लाइब्रेरी का भी उपयोग किया है, इसके लिए उसके अधिकारियों को धन्यवाद देता हूं।

देवराज

संक्षेप-संकेत-विवरण

ऋ०	ऋग्वेद
उप०	उपनिषद्
छा०	छान्दोग्य उपनिषद्
तै०	तैत्तिरीय उपनिषद्
बृह०	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० शां० भा०	ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (रत्नप्रभा-भामती-न्याय-निर्णय सहित, बम्बई)
वि० प्र० सं०	विवरणप्रमेयसंग्रह
भा०	भाष्य
न्या० भा०	न्याय भाष्य (वात्स्यायनकृत)
मनु०	मनुस्मृति
हि० इ० ला०	हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक
मुं०	मुण्डकोपनिषद्
सं०	संस्करण, संस्कृत
सी०	सीरीज़

अन्य संक्षेप सहज ही समझ में आ सकेंगे।

पारिभाषिक शब्द-कोष (हिन्दी-अंग्रेजी)

अचेतन Unconscious
अतात्त्विक Phenomenal
अधिष्ठान Ground
अध्यात्मवाद Idealism
अनुभव-निरपेक्ष A priori
अनेकवाद Pluralism
अंतरंग सम्बन्ध Internal Relation
आगमन Induction
आभास Appearance
आवश्यक, अवश्यंभावी } Necessary
आवश्यक मान्यता Postulate
आन्तरिक हेतु Immanent Cause
आत्मगत, आत्मनिष्ठ, आत्मपाती } Subjective
ईश्वर-विज्ञान Theology
उदात्त Sublime
उपपत्ति Demonstration
उपयोगितावाद Utilitarianism
एकवाद Monism
कृतिशक्ति Will
कृत्यबुद्धि Practical Reason

गत्यात्मक Dynamic
चरमतत्त्व Reality
चिद्बिन्दु Monad
चैतन्यवाद Spiritualism
जड़वाद Materialism
तत्त्वमीमांसा, तत्त्व-दर्शन } Ontology
तारतम्यात्मक श्रेणी Hierarchy
दर्जे Degrees
द्वन्द्वनियम, द्वन्द्व न्याय, द्वन्द्ववाद } Dialectic
द्वैतवाद Dualism
धर्म Attribute
धारणा Concept
नामवाद Nominalism
निगमन Deduction
निषेध Negation
नियतवाद Determinism
नीतिधर्म, नीतिशास्त्र Ethics
पक्षवाक्य Premise
परमार्थ वस्तुएँ Things-in-themselves
पारमार्थिक Noumenal
पुद्गल Matter

पुद्गलाद्वैत Material Monism
पुनर्जागृति Renaissance
पूर्ण प्रत्यय Absolute Idea
पूर्वस्थापित सामंजस्य Pre-established Harmony
प्रकार Mode
प्रत्यय Idea
प्रतिभान Intuition
प्रतिज्ञा Judgment
प्रतिभास Appearance
प्रागनुभविक Apriori
बुद्धिवाद Rationalism
बोध Thought
प्रकृतिवाद Naturalism
प्रतिवाद Antithesis
प्रयोजनवाद Finalism
प्राणात्मा Elan Vital
भाववाद Positivism
भूमिका Plane
मान्यता, मन्तव्य Tenet
मोक्षधर्म Religion
यथार्थवाद Realism
युक्तवाद Synthesis
वाक्य, कथन Proposition
वाद Thesis
विवर्त्त Appearance
वियोजक (प्रतिज्ञायें) Analytical
विषयता Objectivity
विस्तार Extension
विश्व-तत्त्व Reality
व्यक्तित्व Personality
व्यवहार-शास्त्र Ethics
शुद्ध बुद्धि Pure Reason
संगति Coherence, Consistency
संगतिवाद Coherence Theory
संयोजक (प्रतिज्ञा) Synthetic
सदसद्बुद्धि Conscience
समष्टि System
समानान्तरवाद Parallelism
सहज प्रत्यय Innate Idea
सार्वभौम Universal
सीढी, सोपान Stage
सृजनात्मक विकास Creative Evolution
सौख्यवाद, सुखवाद Hedonism
सन्देहवाद Scepticism
स्थित्यात्मक Static
स्वयंभू Causa Sui
हेतुहीन Unconditioned
ज्ञानमीमांसा Epistemology

विषय-सूची

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन

पहला अध्याय

दर्शन की समस्या, प्रयोजन और महत्त्व

विषय-प्रवेश—यदि विभिन्न दार्शनिकों को एकत्रित करके उनसे पूछा जाय कि दर्शनशास्त्र किसे कहते हैं तो वे सम्भवतः कोई एक उत्तर नहीं देंगे। दर्शन की धारणा के विषय में यह मतभेद जिज्ञासु को निराश या निरुत्साहित कर सकता है, किन्तु वास्तव में स्थिति इतनी असन्तोषजनक नहीं है। उन्हीं दार्शनिकों से दर्शन की परिभाषा पूछने के बदले यदि उस पर एक वर्णनात्मक पैराग्राफ लिखने को कहा जाय तो उनमें इतनी मत-विभिन्नता न होगी। बात यह है कि किसी वस्तु का लक्षण करने की अपेक्षा उसका वर्णन करना अधिक सरल है, विशेषतः यदि वह वस्तु दर्शनशास्त्र की भांति जटिल एवं अनेक अंगोंवाली हो। ऐसी वस्तु की परिभाषा करते समय विभिन्न विचारक उसके विभिन्न तत्त्वों या पहलुओं पर गौरव देने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके मतभेद की सीमा नहीं रहती।

हमने कहा कि विश्व के विभिन्न दार्शनिक दर्शनशास्त्र का वर्णन करने में उसके जो चित्र खीचेंगे उनमें कुछ समानता अवश्य रहेगी। दर्शनशास्त्र में किन-किन समस्याओं पर विचार होता है, यह प्रायः दर्शन के सभी गम्भीर विद्यार्थी जानते होंगे। इसलिये, दर्शन का वर्णन करते समय, वे उन सभी प्रश्नों की ओर इंगित कर सकेंगे जिन पर प्राचीन काल से अब तक दार्शनिक लोग विचार करते आये हैं, यद्यपि यह सम्भव है कि विभिन्न व्याख्याता विभिन्न समस्याओं को अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित करें।

किन्तु हमें भय है कि दर्शन के विषय में यह वर्णनात्मक ऐक्य भी एक सीमा तक ही प्राप्त हो सकेगा। बात यह है कि यद्यपि दर्शन के विद्यार्थी अपनी दृष्टि को अधिकतम व्यापक बनाने की चेष्टा करते हैं, फिर भी वे अपने देश-काल के वातावरण (Environment), अपनी जाति और देश के वर्तमान और अतीत पक्षपातों एवं संस्कारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। विज्ञान की उन्नति और ऐतिहासिक खोजों ने विभिन्न देशों और उनके राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहासों को एक-दूसरे की समीपता में उपस्थित कर दिया है सही, फिर भी, रूढ़िगत संस्कारों की प्रबलता और राष्ट्रीय तथा जातीय अभिमान के कारण, अथवा अध्ययन के लिए शक्ति तथा समय के सीमित होने के कारण, दूरवर्ती देशों के विचारक आसानी से एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझ और अपना नहीं पाते। इसलिए हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि दर्शनशास्त्र की समस्या और प्रयोजन के सम्बन्ध में पूर्वी और पश्चिमी विचारकों ने नितान्त भिन्न मत स्थिर किये हैं।

योरपीय दर्शन

अनिवार्य वैयक्तिक मतभेदों के होते हुए भी वर्तमान योरप और अमेरिका के विचारक दर्शनशास्त्र का लगभग एक ही चित्र खींचेंगे। यही बात भारतवर्ष के प्राचीन विचारकों के बारे में कही जा सकती है। भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रायः प्राचीनकाल में ही (ईसा की बारहवीं शताब्दी तक) हुआ है, इसलिए आधुनिक और प्राचीन भारतीय विचारकों के दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य या समानता होने-न-होने का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु योरप की बात दूसरी है, वहां पिछली तीन-चार शताब्दियों में बड़ी वेगपूर्ण दार्शनिक प्रगति रही है और वहां के विषय में उपर्युक्त प्रश्न काफी महत्त्व रखता है। योरपीयों का विचार है कि जीवन एवं दर्शन के प्रति उनका वर्तमान दृष्टिकोण यूनानियों से विशेष भिन्न नहीं है, किन्तु वह मध्य-युगीय योरप के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है।

दर्शनशास्त्र की समस्या और प्रयोजन के सम्बन्ध में वर्त्तमान योरप की कुछ सर्वसम्मत धारणाएँ हैं। दार्शनिक-प्रक्रिया के प्रयोजन के बारे में योरप की वर्त्तमान धारणा यह है कि दर्शन का उसके बाहर कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है। दर्शन या दार्शनिक चिन्तन का ध्येय स्वयं वहीं है, दर्शन दर्शन के लिए है।* आधुनिक व्याख्याताओं के अनुसार यूनानी दर्शन भी अपने से बाहर किसी ध्येय को लेकर प्रवृत्त नहीं हुआ था—यूनानियों के निकट भी दार्शनिक चिन्तन स्वयं ही अपना साध्य था। दर्शन की समस्या क्या है? वर्त्तमान योरप के विचारक दर्शन और विज्ञान में काफ़ी समानता देखते हैं।‡ दोनों की प्रवृत्ति ज्ञान के लिये है; दोनों की प्रेरणा निरुपयोगी जिज्ञासा-वृत्ति है। विज्ञान की भांति दर्शन भी अपने अन्वेषणों में एक विशेष पद्धति या प्रणाली का आश्रय लेता है।† दोनों में मुख्य भेद यही है कि विज्ञान की अपेक्षा दर्शन का क्षेत्र अधिक विस्तृत या व्यापक है। अपने क्षेत्रों को सीमित रखकर जहां विभिन्न विज्ञान अपनी-अपनी विषय-वस्तु का अधिक विस्तृत और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, वहां दर्शन सम्पूर्ण विश्व के बारे में कतिपय अत्यन्त सामान्य या व्यापक प्रश्न ही उठा सकता है और उन्हीं पर आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा अपने सिद्धान्त प्रतिपादित कर सकता है। विज्ञान की अपेक्षा दर्शन में कम सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है, किन्तु उसमें कल्पना-शक्ति का अधिक प्रयोजन रहता है।§

* 'कला कला के लिए है,' इस सिद्धान्त की जो कुछ दिन पहले योरप में बहुत प्रसिद्ध था, टॉलस्टॉय जैसे मनीषियों ने काफी आलोचना की है (दे० उनका What is Art ?;) किन्तु 'दर्शन दर्शन के लिए है,' इस विषय में योरप में कभी गम्भीर मतभेद नहीं हुआ। ‡ देखिये ए० के० रोजर्स, A Student's History of Philosophy, पृ० १-२

† दे फ़ाल्किनबर्ग, History of Modern Philsophy, पृ० १

§ दे० Science and the Modern World by Whitehead (Penguin), पृ० १८

ज्ञान और जिज्ञासा की दृष्टि से दर्शन-शास्त्र को सार्वभौम विज्ञान (Universal Science) कह सकते हैं। आधुनिक पण्डितों के अनुसार दर्शन के मुख्य अवयव तत्त्व-मीमांसा (Ontology), ज्ञान-मीमांसा या सम्वित्-शास्त्र (Epistemology) और नीति अथवा व्यवहारशास्त्र (Ethics) हैं। इनमें सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) को और जोड़ा जा सकता है। तत्व पदार्थ कितने हैं और उनका स्वरूप क्या है, इस प्रश्न पर तत्त्व-मीमांसा में विचार होता है। सम्वित्-शास्त्र में ज्ञान के स्वरूप, सम्भावना और सीमा के निर्णय करने का प्रयत्न रहता है। कभी-कभी दर्शन से इन्हीं दो शाखाओं का अभिप्राय रहता है। इन दो शाखाओं को मिलाकर अँग्रेज़ी में Metaphysics कहते हैं। नीतिशास्त्र का विषय मनुष्य का नैतिक जीवन और उसके धर्माधर्म-सम्बन्धी निर्णय हैं। इस प्रकार आधुनिक योरपीय व्याख्याताओं के अनुसार दर्शन का काम अनुभव जगत् के विभिन्न विभागों की अलग-अलग और सम्मिलित व्याख्या करना है। दर्शनशास्त्र अनुभव जगत् का विभाजन एक खास दृष्टिकोण से करता है जिसके अध्ययन के लिए उसकी विभिन्न शाखाएँ हैं।

दार्शनिक समस्या और प्रयोजन का उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण हमने योरप के वर्तमान दार्शनिक साहित्य के आधार पर दिया है; योरपीय दर्शन की आलोचना और व्याख्या करते समय हम अपने समकालीन योरप के व्याख्याताओं की अवहेलना नहीं कर सकते। वर्तमानकालिक दर्शन के सम्बन्ध में ही नहीं, प्राचीन दर्शन की व्याख्या में भी हमें उसके वर्त्तमान व्याख्याताओं की सम्मतियों से परिचित होना आवश्यक हो जाता है। अब हम योरपीय दर्शन की समस्या के विकासशील अनेकात्मक स्वरूप को ठीक से समझने के लिए वहां के चिन्तन के सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे। पाठकों को याद रखना चाहिये कि यह इतिहास लगभग छठवीं शताब्दी ई॰ पू॰ से प्रारम्भ होकर हमारे अपने समय तक

अक्षुण्ण भाव से निर्मित और विकसित होता आया है।

प्राचीन यूनानी विचारक—प्राचीन यूनानी चिन्तन का आरम्भ एशिया माइनर के आयोनिया नामक प्रान्त में हुआ। जैसा कि भूगोल के विद्यार्थी जानते हैं एशिया माइनर योरप की अपेक्षा एशिया महाद्वीप से अधिक सम्बद्ध है। यह बहुत सम्भव है कि यूनानी चिन्तन के वहाँ प्रारम्भ होने का मिश्र तथा अन्य प्राचीन पूर्वी सभ्यताओं की समीपता से कोई सम्बन्ध था, किन्तु यहाँ पर हम इसका विचार नहीं करेंगे। यहाँ हम यह मान लेंगे कि यूनान में चिन्तन की प्रेरणा स्वयं वहीं की भूमि से मिली। प्राचीन यूनानी विचारकों ने दार्शनिक समस्या को किस रूप में समझा, और उनका चिन्तन किस प्रयोजन को लेकर प्रस्फुरित हुआ, यहाँ हम इसी का विचार करेंगे।

यूनानी चिन्तन का आरम्भकर्त्ता थेलीज़ (६४०-५५० ई० पू०) बताया जाता है। उसके दार्शनिक विचारों का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। उसका एक ही दार्शनिक विचार ठीक-ठीक मालूम है। थेलीज़ ने कहा कि 'सब चीज़ों का कारण जल है।' विश्व जगत् का मूलतत्त्व जल है। थेलीज़ के बाद एनेग्जीमेण्डर ने मूलतत्त्व को "निर्विशेष" या "अनिर्वाच्य" कथित किया। इस निर्विशेष या अनिर्वाच्य से, एनेग्ज़ीमेण्डर के मत में, विरुद्ध गुण उद्भूत होते हैं। तीसरे विचारक एनेग्ज़ीमिनीज़ (५६०-५५० ई० पू०) ने कहा कि विश्व का मूलतत्त्व वायु है। जब वायु घनीभूत होती है, तब उससे पिण्ड पदार्थ बनते हैं; उसके विरलभाव से सूक्ष्म पदार्थों का जन्म होता है।

आयोनिया के इन प्रारम्भिक विचारकों के लिए दर्शनशास्त्र की समस्या और प्रयोजन क्या थे? यह स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य दीखने वाले विविध जगत् के मूल कारण का निर्देश करना था। यही नहीं, मूलतत्त्व का स्वरूप निर्धारित करने के लिए उन्होंने ऐसे पदार्थ की कल्पना करने की चेष्टा की जो भौतिक जगत् के विभिन्न तत्त्वों को उत्पन्न कर सके। यह दार्शनिक एक ऐसे उपादान कारण की खोज में थे जिसमें से जड़ जगत्

के विभिन्न पदार्थों का उद्भव या निस्सरण सम्भव हो। अर्डमान का मत है कि इन आदिम विचारकों की अभिरुचि मुख्यतः स्थिरता और परिवर्त्तन की धारणाओं में थी, न कि विशिष्ट स्थिर या परिवर्त्तनशील पदार्थों में,*किन्तु यह व्याख्या अस्वाभाविक प्रतीत होती है। सीधी बात यह है कि ऊपर के विचारक यह जानना चाहते थे कि क्या जड़ जगत के नाना पदार्थ किसी एक पदार्थ का विकार समझे जा सकते हैं। एनेग्ज़ीमेण्डर की घन-विरलभाव की कल्पना यह भी स्पष्ट कर देती है कि वे विचारक, 'एक पदार्थ अनेक रूप कैसे धारण कर सकता है,' इस प्रश्न का भी उत्तर पाना चाहते थे। इसका स्पष्ट आशय यह है कि वे जड़-जगत के विविध रूपों को किसी प्रकार एकता के सूत्र में बांधकर समझना, अथवा उनकी व्याख्या करना, चाहते थे। वास्तविकताओं (Facts) के किसी समूह की व्याख्या करने का अर्थ उन्हें किसी प्रकार एक करके देखना है; आयोनिया के विचारक भी विश्व के विभिन्न रूपों को किसी एक में केन्द्रित करके उन्हें बुद्धिगम्य बनाना चाहते थे। आदिम विचारकों की दृष्टि में भौतिक जगत् ही एकमात्र वास्तविकता थी। अभी जीव-जगत् जड़-जगत् का ही एक भाग प्रतीत होता था--जीवित और जीवनहीन में अभीतक भेदक रेखा नहीं खींची गई थी।। जीवन के व्यापार भी जड़ जगत् के व्यापारों से अलग महत्त्व नहीं रखते थे। इस प्रकार उन विचारकों की दृष्टि सीमित थी। किन्तु फिर भी उन्होंने, जितना जगत् दिखाई देता था, उस सबको एक दृष्टि और एक व्याख्यात्मक धारणा (Explanatory Principle) में बांधने का प्रयत्न किया। इसलिए, यद्यपि वे आधुनिक अर्थ में प्रायः वैज्ञानिक ही थे, तथापि उन्हें दार्शनिक ही कहना चाहिये।

योरपीय दर्शन के इतिहासकार आयोनिया के इन विचारकों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उन्होंने एक वास्तविक **दार्शनिक प्रश्न** पूछा, यह धार्मिक प्रश्न नहीं कि इस जगत को किसने बनाया? धार्मिक और दार्शनिक प्रश्नों की धारणा अथवा परिभाषा में मतभेद

*दे० A History of Philosophy (१८६८), भाग १, पृ० २६

हो सकता है। पर इसमें संदेह नहीं कि उक्त विचारकों ने शुद्ध दार्शनिक प्रश्न उठाया। यहाँ हमें इसका निर्णय नहीं करना है कि उन्होंने ऊपर के प्रश्न के जो उत्तर दिये, उनका क्या महत्त्व है--इतने प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण समाधानों की खोज व्यर्थ है। देखने की बात केवल यही है कि इन अत्यन्त प्राचीन विचारकों ने दर्शनशास्त्र का उसके बाहर कोई प्रयोजन नहीं बतलाया और साथ ही अपनी चिन्तन-प्रणाली से इस बात का आभास दिया कि दार्शनिक-प्रक्रिया का उद्देश्य, उसकी प्रमुख समस्या, दीखने वाले जगत की व्याख्या करना, उसे बुद्धिगम्य बनाना है।

सुकरात से पहले के प्रायः सभी यूनानी दार्शनिकों में दर्शन की समस्या का यही रूप रहता है। पाइथेगोरस, हेराक्लाइटस, एम्पीडॉक्लीज़, एनेग्ज़ेगोरस और डिमोक्राइटस सभी थेलीज़ के उठाये हुये प्रश्न का हल करने में लगे हुये दिखाई देते हैं। इन नियम का एकमात्र अपवाद पार्मिनिडीज़ है। पर्मिनिडीज़ और उसके शिष्यों की आलोचना के फलस्वरूप दर्शन की गति एकवाद को छोड़कर अनेकवाद की दिशा में मुड़ गई।

पार्मिनिडीज़ की इस अपवादात्मकता का क्या रहस्य है? प्रो० बर्नेट तथा अन्य आधुनिक अनुसंधान-कर्त्ताओं के अनुसार हम मान लेते हैं कि पार्मिनिडीज़ का चिन्तन हेराक्लाइटस का परवर्त्ती है। हेराक्लाइटस से पहले पाइथेगोरस ने 'विश्व की वस्तुएँ संख्यात्मक हैं' यह विचित्र सिद्धान्त प्रतिपादित करके यूनानी दर्शन में पहली बार पदार्थ और उसके सारभूत आकार या "फार्म" का भेद करने की चेष्टा की। किन्तु उसकी "फार्म" की कल्पना उसी तक सीमित रही; उसके निकटवर्ती उत्तराधिकारियों ने उक्त कल्पना को ग्रहण नहीं किया।* हेराक्लाइटस ने फिर

*पाइथेगोरस ने दर्शन के प्रयोजन के बारे में एक नई बात कही, यह कि वह आत्मा की शुद्धता का सर्वश्रेष्ठ साधन है। विद्वानों का अनुमान है कि इस विचारक पर पूर्वी देशों का प्रभाव पड़ा था। पाइथे-

विश्व के मूल-तत्त्व-विषयक प्रश्न को उठाया। अपना समाधान देते हुये इस विचारक ने कहा कि मूल-तत्त्व वस्तुतः प्रवाहमय है, और स्थिरता की प्रतीति केवल भ्रम है। हेराक्लाइटस की क्रान्तिदर्शिनी दृष्टि को विश्वजगत् अनवरत घटित होने वाले परिवर्त्तनों की शृंखलामात्र जान पड़ा। उसने कहा कि मूल-तत्त्व अग्निरूप है।

पार्मिनिडीज़ के चिन्तन का आधार दृश्य जगत् का अनुभव नहीं, अपितु पूर्ववर्त्ती विचारकों के सिद्धान्त हैं। हेराक्लाइटस मानता है कि मूल-तत्त्व एक है, साथ ही वह यह भी मानता है कि यह एक तत्त्व गतिमय, प्रवाहमय है। यह दोनों सिद्धान्त परस्पर-विरोधी हैं। यदि मूल-तत्त्व एक है तो उसमें गति नहीं हो सकती। "एक" किसी एक स्थान से दूसरे स्थान में तभी जा सकता है जब कोई स्थान "एक" से रिक्त हो। खाली जगह या शून्याकाश की तो सत्ता ही नहीं है, वह अलीक है, इसलिए "एक" में गति या परिवर्त्तन नहीं हो सकता। पार्मिनिडीज़ में विश्व-सम्बन्धी निरीक्षण या अनुभव का स्थान युक्तिवाद ने ले लिया।

पार्मिनिडीज़ के बाद के दार्शनिक अपने को इस कोरे युक्तिवाद के जाल से बचाकर फिर उसी पुरानी समस्या का हल करने में लग गये। पार्मिनीडीज़ ने यह स्पष्ट कर दिया था कि मूल-तत्त्व को एक मानने पर उसमें गति या परिवर्त्तन की सम्भावना नहीं सिद्ध की जा सकती। इस पर परवर्त्ती विचारकों ने मूल-तत्त्व की एकता का आग्रह छोड़ दिया। एम्पीडॉक्लीज़ ने कहा कि मूल-तत्त्व चार हैं; एनेग्ज़ेगोरस ने बतलाया कि मूल-तत्त्व अनन्त-बीजात्मक है। और ल्यूकिपस तथा डिमोक्राइटस ने घोषणा की कि मूल-तत्त्व असंख्य परमाणुओं का समूह है। अन्तिम विचारक ने गति की सम्भावना के लिए शून्याकाश की वास्तविकता में

गोरस के इस मत का अनुवर्त्ती दर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। पाठकों को यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि पाइथेगोरस की आत्मा भी अन्य वस्तुओं के भांति संख्यात्मक है। (दे० अर्डमान, भाग १, पृ० ३५-३६)

भी विश्वास प्रकट कर डाला। इस प्रकार थेलीज़ के उठाये हुये प्रश्न का एक बहुत ही पूर्ण और संगत उत्तर मिल गया।

इसी बीच दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में एक नई समस्या का बीज पड़ रहा था। हेराक्लाइटस ने साफ शब्दों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को अप्रामाणिक घोषित नहीं किया था; उसके चिन्तन में मानवी बुद्धि ने आत्म-विश्वास अथवा आत्म-महत्ता की अधिकारपूर्ण घोषणा-मात्र की थी। किन्तु हेराक्लाइटस के बाद पार्मिनिडीज़ ने यह स्पष्ट कह दिया कि चक्षु आदि इन्द्रियां विश्वसनीय नहीं हैं। पार्मिनिडीज़ ने ज्ञान के स्वाभाविक स्रोत, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, में पहली बार गम्भीर अविश्वास प्रकट किया। इसके बाद जब एम्पीडॉक्लीज़ ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'समान के द्वारा समान जाना जाता है'—हम बाह्य पदार्थों को इसलिए जान सकते हैं कि हममें वे चारों तत्त्व मौजूद हैं जिनसे जगत का निर्माण हुआ है,—तो अज्ञातभाव से उसने यह मान लिया कि हमें 'ज्ञान कैसे सम्भव होता है' इस प्रश्न पर भी विचार करना चाहिये। एम्पीडॉक्लीज़ के बाद डिमोक्राइटस ने भी पार्मिनिडीज़ की भांति इन्द्रियों पर विश्वास करने से इनकार कर दिया और बताया कि रूप, रस, स्पर्श आदि गुण जो हमें इन्द्रियों के माध्यम से वस्तुओं में दिखाई देते हैं, वास्तव में वस्तुओं के धर्म नहीं हैं; वे इन्द्रियों की कल्पनामात्र हैं। विश्व-जगत् में परमाणुओं और गति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

सोफिस्ट-संशयवाद—इस प्रकार यूनान की दार्शनिक चेतना में धीरे-धीरे निश्चयात्मक ज्ञान की सम्भावना-विषयक शंका अंकुरित हो रही थी। ज्ञान अथवा ज्ञान के स्रोत के सम्बन्ध में एक बार सन्देह हो जाने-पर फिर उसे इच्छित सीमा के भीतर रखना सम्भव न था। यूनान की तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति ने भी संशयवाद के पल्लवित होने में सहायता दी। दर्शनशास्त्र के प्रारम्भिक प्रश्न का काफी संतोषप्रद उत्तर दिया जा चुका था, उस दिशा में विशेष उन्नति की आशा न थी। साथ ही साथ इस समय यूनान का आसपास के देशों से

भौतिक एवं राजनैतिक सम्पर्क बढ़ रहा था। परिणाम यह हुआ कि यूनानी मस्तिष्क व्यावहारिक प्रश्नों की ओर झुकने लगा। अधीत नागरिकों की गोष्ठियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य-सम्बन्धी चर्चा और विवाद होने लगे। सोफिस्ट शिक्षकों ने, जिनका मुख्य काम युवकों को राजनैतिक वाद-विवादों एवं अन्य शासन-सम्बन्धी चर्चाओं के लिए कुशल बनाना था, पहले-पहल व्यवहार-क्षेत्र में संशयवाद का प्रवेश कराया। उन्होंने कहा:—कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भेद काल्पनिक है; वह परम्परागत पक्षपातों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मनुष्य जिसे धर्मसंगत समझ ले वह कर्त्तव्य है; और सब मिलकर जिसे पाप ठहरा दें, वह अकर्त्तव्य है। वास्तव में पाप और पुण्य में आत्यन्तिक भेद नहीं है। प्रसिद्ध सोफिस्ट प्रोटेगोरस ने घोषणा की कि'—सब चीजों का माप या माप-दण्ड मनुष्य है।'

इस प्रकार दर्शन-शास्त्र में एक दूसरी समस्या का जन्म हुआ। क्या निश्चयात्मक ज्ञान या प्रमा सम्भव है? यदि सत्यासत्य का निर्णय व्यक्ति-विशेष की खामखयाली कल्पना पर निर्भर है तो स्पष्ट है कि सत्य की कोई स्वतंत्र वस्तुगत (Objective) सत्ता ही नहीं है। सोफिस्ट-शिक्षकों के पूर्ववर्त्ती विचारकों ने केवल इन्द्रिय-ज्ञान को संदिग्ध ठहराया था, सोफिस्ट लोगों ने ज्ञान-मात्र को संदिग्ध घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने जनता के नैतिक विश्वासों को भी आपेक्षिक कथित करके प्रचलित नीति-धर्म की जड़ पर आघात किया।

सोफिस्टों के मन्तव्य मनुष्य की सम्पूर्ण विश्व का रहस्य जानने तथा धर्माधर्म का भेद मानकर चलने की प्रवृत्ति के प्रति चुनौती थे। आगे आने वाले विचारकों का, जो विश्व की व्याख्या करना चाहें और साथ ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य के भेद को संगत समझें, अब यह आवश्यक कर्त्तव्य होगा कि वे ज्ञान की सम्भावना और कर्त्तव्याकर्त्तव्य की यौक्तिकता अच्छी तरह सिद्ध करें। इस प्रकार **सोफिस्ट-संदेहवाद की चुनौती ने सम्वित्-शास्त्र और नीति-शास्त्र या व्यवहार-दर्शन को जन्म दिया।** अब से दर्शन-शास्त्र केवल भौतिक जगत् की व्याख्या करके

सन्तुष्ट नहीं रह सकता, अब उसे मनुष्य के नैतिक जीवन और उसकी ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति पर भी विचार करना पड़ेगा। अब मानव बुद्धि की व्याख्या के विषयभूत जगत की सीमा बढ़ गई, और यह सीमा-वृद्धि मनुष्य के नैतिक और ज्ञान-व्यापारों की दिशा में हुई।

हम कह चुके हैं कि सोफिस्ट शिक्षकों के सन्देहवाद की पहली चोट नीति-धर्म पर पड़ी। इस लिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी वहीं से शुरू हुई। सुकरात को हम जगह-जगह नैतिक धारणाओं की व्याख्या और मण्डन करने में दत्त-चित्त पाते हैं। सुकरात ने सोफिस्टों के चैलेन्ज को ज्यों का त्यों ग्रहण किया—वह उस चुनौती को व्यापक रूप नहीं दे सका। सोफिस्ट सन्देहवाद ज्ञानमात्र को लागू होता है, केवल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को नहीं; वह नैतिक पक्षपातों तक ही सीमित भी नहीं था। किन्तु सुकरात की तत्त्वमीमांसा में अधिक अभिरुचि नहीं थी, इसलिये वह अपने प्रश्नों और विवादों को व्यावहारिक क्षेत्र तक ही सीमित रखता था, और ज्ञान को निरपेक्ष सत्यवाला सिद्ध करने के लिये उसने इस बात पर जोर देना काफी समझा कि वास्तविक या यथार्थ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान है और उसका विषय सामान्य धारणाएं (Concepts) हैं। सुकरात का आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) से परिभाषाओं पर पहुंचने की आवश्यकता पर जोर देना उसके उपर्युक्त बौद्धिक पक्षपात को प्रकट करता है।

सुकरात का बुद्धिवाद प्लेटो में संक्रान्त हो गया। सोफिस्टों के संशय-वाद को प्लेटो ने उसकी पूरी व्यापकता में समझा और उसका उत्तर देने की चेष्टा की। "थीटिटस" नामक सम्वाद-ग्रन्थ में प्राटेगोरस के विरुद्ध तर्क कराते हुये वह पूछता है कि यदि सब सत्यता आपेक्षिक हैं तो सोफिस्ट-शिक्षक के सिद्धान्त की सत्यता भी आपेक्षिक होनी चाहिये। प्रोटेगोरस कहता है कि जो मुझे सत्य मालूम होता है वह मेरे लिये सत्य है, और जो किसी दूसरे के लिये सत्य मालूम होता है, वह दूसरे के लिये सत्य है। इसका स्पष्ट आशय यह निकला है कि प्रोटेगोरस को

अपने प्रतिपक्षियों के मत की सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार प्लेटो ने यह सिद्ध कर दिया कि सन्देहवाद एक असम्भव सिद्धान्त है।

अपने जातिप्रत्ययों द्वारा प्लेटो न केवल विश्व की व्याख्या ही करना चाहता है, बल्कि ज्ञान की सम्भावना का भी मण्डन करना चाहता है। जैसा कि एडेम्सन ने लिखा है, प्लेटो के अनुसार 'जातिप्रत्ययों की वास्तविकता के सिद्धान्त के बिना तर्क और ज्ञान असम्भव हैं।'* प्लेटो ने जाति-प्रत्ययों की समष्टि-रूप श्रेयस्-प्रत्यय को सूर्य से उपमा दी है। सूर्य की भांति श्रेयस्-प्रत्यय वस्तुओं की उत्पत्ति अथवा जीवन का ही नहीं, उनके दृष्ट या ज्ञात होने का भी कारण है। सुकरात की भांति प्लेटो भी मानता है कि इन्द्रियों के बदले बुद्धि को ज्ञान का कारण तथा गोचर पदार्थों के बदले जाति-प्रत्ययों को प्रमा का विषय मानकर ज्ञान की सम्भावना का मण्डन किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटो के दर्शन की समस्या विश्व की व्याख्या करना तो है ही, साथ ही यह समस्या भी है कि विश्व की व्याख्या अथवा विश्व-सम्बन्धी ज्ञान किस प्रकार सम्भव है। बाद के योरपीय दर्शन में इस दूसरी समस्या का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

प्लेटो बुद्धिवादी है। पार्मिनिडीज़ की भांति वह भी मानता है कि यथार्थज्ञान बौद्धिक ज्ञान है। अरस्तू उतना बुद्धिवादी नहीं है, किन्तु अन्य अंशों में उसकी दार्शनिक समस्या प्लेटो से भिन्न नहीं है। अरस्तू

* 'Except on the basis of the hypothesis of ideas' Plato argues, 'reasoning and philosophy, that is knowleage, are impossible.' (the Development of Greek Philosophy, p. 108), अर्डमान का कथन है कि The substance of the Platonic Dialectic may thus be briefly stated by saying, that the ideas give a support to the changing phenomena, and certainty to knowledge.'
—वही पृष्ठ ११२

ने मानवीय ज्ञान को प्रथम वार विभिन्न शाखाओं या शास्त्रों में विभक्त किया। उनके चिन्तन में सम्वित्-शास्त्र, नीति-शास्त्र और तत्त्व-मीमांसा के अतिरिक्त तर्क-शास्त्र और मनोविज्ञान भी दर्शन के अंग बन गये। अब से दर्शन-शास्त्र का काम अनुभव या अनुभव-जगत् के इन सब पक्षों की व्याख्या करना हो गया। प्लेटो और अरस्तू ने सदैव के लिए योरपीय दर्शन का विषय और प्रयोजन निर्धारित कर दिये।

प्लेटो और अरस्तू दोनों ही दार्शनिक चिन्तन को जीवन की सबसे ऊँची क्रिया समझते हैं। उन्होंने नैतिक श्रेष्ठता को दो प्रकार का माना है; सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन धर्म है अवश्य, किन्तु मानव-जीवन का श्रेष्ठतम व्यापार दार्शनिक चिन्तन है।

यहां पाठकों को यूनानी दर्शन की एक विशेषता पर ध्यान देना चाहिये। दार्शनिक प्रक्रिया सम्पूर्ण विश्व—भौतिक, मानसिक और नैतिक जगत्—को समझने के लिये है, उसका उद्देश्य खास तौर से आत्मा या परमात्मा का ज्ञान सम्पादन करना नहीं है। हम देखेंगे कि योरपीय और भारतीय दर्शन में सबसे बड़ा भेद यही है। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में आत्मा का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है—दोनों के दृष्टि-कोण से आत्मा की अमरता भी संदिग्ध है, और उनका ईश्वरवाद भी उनके दर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की तुलना में विशेष आकर्षित नहीं करता। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में मनुष्य विशेषतः एक सामाजिक और राजनैतिक प्राणी—सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति में लगा हुआ नागरिक—है; आत्मा या परमात्मा की खोज करना उसका प्रधान या आवश्यक कर्त्तव्य नहीं है, यद्यपि वह स्वभावतः ही तर्कना-शील या सोचने-विचारनेवाला जीव (Rational Animal) है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के बाद यूनानी दर्शन का स्वर्ण-युग समाप्त हो गया। उनके बाद जो विचारक आये उनमें वैज्ञानिक मनोवृत्ति—विश्व का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा, क्षीण हुई पाई जाती है। अपने सांसारिक जीवन को कैसे चलाएँ, उसका आदर्श क्या

है, यह नैतिक या व्यावहारिक प्रश्न ही उनके मस्तिष्क के लिए महत्त्व रखता था। इसके बाद ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार होने पर दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र ईश्वर तथा ईसाई धर्म के सिद्धान्त बन गये।

मध्ययुग या धार्मिक काल

मध्ययुग के विचारकों को दार्शनिक कहते हुए हिचकिचाहट होती है, इसलिए नहीं कि वे बुद्धि-स्वातन्त्र्य को खोकर धार्मिक ग्रन्थों पर निर्भर करते हैं, बल्कि इसलिए कि **उनमें वास्तविक जिज्ञासा का अभाव-सा प्रतीत होता है।** वे विश्व-प्रक्रिया को समझने के लिए लालायित नहीं दीखते; इतना ही नहीं, वे आत्मा और परमात्मा का भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए इच्छुक नहीं मालूम पड़ते। उनका एकमात्र उद्देश्य चर्च की शिक्षाओं का मण्डन करना प्रतीत होता है। बौद्धिक स्वतन्त्रता और ज्ञान-पिपासा से शून्य योरपीय इतिहास के इस काल को इसीलिए अन्धकार-युग कहा जाता है।

योरपीय चिन्तन की सामान्य धारा में मध्ययुग अपवाद-स्वरूप है। इस युग में योरपीय मस्तिष्क की एक विशेषता तो लक्षित होती है, अर्थात् उसकी बौद्धिकता; किन्तु उसकी वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोवृत्ति सर्वथा दब जाती है।

प्रारम्भ में ईसाई धर्म का कोई दर्शन नहीं था,* किन्तु बाद को उनके अनुयायियों में, यूनानी और रोमन रक्त मिलने पर दार्शनिक बुद्धि का उदय हुआ। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में हम ईसाई-चिन्तन पर प्लेटो के सिद्धान्तों का, उसके विकृत रूप में, प्रभाव पाते हैं; और उत्तरार्द्ध में अरस्तू का। ईसाई विचारकों के चिन्तन का क्षेत्र परिमित और समस्याएँ अनोखी थीं। क्या व्यक्तियों से भिन्न जाति या सामान्य की अलग सत्ता है? यह प्रश्न मध्ययुगीय विचारकों को बड़ा महत्त्वपूर्ण लगता था। प्रसिद्ध सेन्ट एरीजिना जाति-यथार्थ्यवाद का समर्थक था।

*दे० सर राधाकृष्णन्, East and West in Religion. पृ० ९८-९९ और रोजर्स वही, पृ० १७९

दूसरा प्रसिद्ध यथार्थवादी एन्सेल्म था। सेन्ट टॉमस एक्वीनास उक्त सिद्धान्त का प्रसिद्ध आलोचक था जिसने मध्ययुग के उत्तरार्ध में ईसाई-दर्शन का स्वरूप स्थिर किया। एक्वीनास के मत में सत्य दो प्रकार का है, एक धार्मिक सत्य और दूसरा बौद्धिक सत्य। बुद्धि की दृष्टि में जो सत्य है वह धर्म की दृष्टि से मिथ्या हो सकता है। वास्तव में चर्च के अधिष्ठाता बौद्धिक अन्वेषणों से डरते थे; कहना चाहिये कि उन्हें ज्ञान और चिन्तन से भय लगता था। चर्च द्वारा वैज्ञानिक अन्वेषणों का विरोध किया जाना इस बात का साक्षी है। इसीलिए हम कहते हैं कि मध्ययुगीय चिन्तन को दर्शन नहीं कहा जा सकता। मध्य युग के एक विचारक सेन्ट एन्सेल्म ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मौलिक युक्ति देने की कोशिश की जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। किन्तु आत्मा और ईश्वर का भी स्वरूप-निर्णय करने के लिए मध्ययुगीय दर्शन ने कोई वैज्ञानिक प्रयत्न नहीं किया। एतत्कालीन विचारक इस सबके लिए केवल धर्म-ग्रन्थों के वाक्यों की पुनरावृत्ति करते रहे।

आधुनिक काल

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों की पुनर्जागृति (Renaissance) ने योरपीय मस्तिष्क को फिर स्वतन्त्रचेता यूनानी विचारकों से परिचित कराया और उसमें फिर वैज्ञानिक मनोवृत्ति अथवा उदासीन जिज्ञासावृत्ति को जीवित किया। डेकार्ट के चिन्तन का आरम्भ देखकर यह भ्रम हो सकता है कि आधुनिक योरपीय दर्शन के जन्मदाता में विश्व-जगत् की अपेक्षा आत्मा और ईश्वर में अधिक अभिरुचि है। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जिस प्रकार डेकार्ट का सन्देहवाद उसकी स्थायी मनोवृत्ति का द्योतक नहीं है, उसी प्रकार उसकी आत्मा-विषयक चिन्ता भी है। बाद के दर्शन पर जहां उसके सन्देहवाद का योरपीय बुद्धि को स्वतन्त्र करने के रूप में गहरा प्रभाव पड़ा, वहां उसने आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी चिन्तन को विशेष उत्तेजना नहीं दी। वास्तव में आत्मा के ऊपर आधुनिक योरपीय दर्शन में बहुत कम विचार हुआ है, और ईश्वर पर

उससे कुछ अधिक। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट की दी हुई द्रव्य की परिभाषा पर जितना ध्यान दिया उतना उसकी आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व सिद्ध करने वाली युक्तियों पर नहीं। वस्तुतः डेकार्ट के लिए आत्मा की सिद्धि ईश्वर को सिद्ध करने का द्वार या उपकरण मात्र है। ईश्वर को सिद्ध करने के बाद वह प्रकृति-जगत् की सत्यता सिद्ध करने लगता है—ईश्वर को सिद्ध करना पर्याप्त नहीं है। 'मैं सोचता या सन्देह करता हूँ, इसलिए मैं हूँ; मुझमें पूर्ण सत्ता-सम्बन्धी प्रत्यय है, इस लिए पूर्ण ईश्वर है', यह सिद्ध करने के बाद डेकार्ट कहता है कि क्योंकि ईश्वर में प्रवंचन या धोखा देना नहीं रह सकता, इस लिए प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत् की सत्ता माननी चाहिये।

डेकार्ट गणित का बड़ा प्रेमी था, और गणित-शास्त्र के अनुरूप ही स्वतः सिद्ध सत्यों के बलपर अपने दर्शन का विस्तार करना चाहता था। वस्तुतः गणित में उसकी अभिरुचि दर्शन से भी अधिक थी। कुमारी एलिजाबेथ को सम्बोधित एक पत्र में वह बतलाता है कि जहां वह गणित के अध्ययन में प्रतिदिन कई घण्टे व्यय करता था वहां "मैटाफिजिक" के चिन्तन में केवल कुछ घण्टे प्रतिवर्ष लगाता था।* यह इस बात का निदर्शन है कि अब योरपीय विचारक प्राचीन विचारकों की भांति फिर बाह्य जगत् में दिलचस्पी लेने लगे थे। पाठकों को याद रखना चाहिये डेकार्ट गणित की एक प्रसिद्ध शाखा, विश्लेषणात्मक रेखागणित (Analytical Geometry) का, आविष्कारक हैं।

डेकार्ट ने भौतिक जगत् के सम्बन्ध में अन्वेषण करने का उतना ही, बल्कि उससे अधिक, प्रयत्न किया है जितना कि आत्म-सम्बन्धी गवेषणा (मनोविज्ञान और नीति शास्त्र) में। यही बात स्पिनोज़ा के बारे में भी कही जा सकती है, यद्यपि उसने मानसिक दशाओं को समझाने का विशेष प्रयत्न किया है। वह डेकार्ट से भी अधिक गणित-शास्त्र की पद्धति का पुजारी है और उसने अपने प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ की रचना

*दे० अर्डमान, हिस्टरी, भाग २, पृ० २५

यूक्लिड की ज्यामिति के ढंग पर की है। लाइबनिज़ की चिन्तन के नियमों एवं विश्व की तारतम्यात्मकता (continuity) में जितनी अभिरुचि है, आत्मा और परमात्मा में उससे अधिक नहीं है। वास्तव में डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ तीनों ही दार्शनिक यन्त्रवाद को जन्म देने और पूर्ण बनानेवाले हैं।

स्काटलैण्ड के प्रसिद्ध विचारक लॉक ने ज्ञान की सम्भावना, स्रोत और सीमा-सम्बन्धी प्रश्नों पर अधिक गम्भीरता से विचार किया। लॉक आत्मा और ईश्वर को मानता है, किन्तु उसके चिन्तन का मुख्य विषय मानवी विचार, उनका स्रोत और पारस्परिक सम्बन्ध है। लॉक का दूसरा प्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गल या जड़ पदार्थों के मुख्य और गौण गुणों का भेद है। लॉक के परवर्त्ती बर्कले और ह्यूम दोनों अपने सम्वित्-शास्त्र अथवा ज्ञान-सम्बन्धी विचारों के लिए प्रसिद्ध है। लॉक, बर्कले, ह्यूम तीनों ईश्वर को मानते थे। बर्कले के दर्शन में आत्मा का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु यह आश्चर्य की बात है कि बाद के विचारक उसके इन सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान नहीं देते। **डेकार्ट और बर्कले दोनों ही आत्मा-सम्बन्धी जिज्ञासा नहीं जगा पाते**। सन्देहवादी ह्यूम की दृष्टि में लॉक और बर्कले के सिद्धान्त ज्ञान-विषयक सम्मतियों के रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रोटेगोरस में हमने सन्देहवाद का एक रूप देखा; यूनानी संशयवाद ज्ञानमात्र पर लागू होता है। किन्तु ह्यूम के संशयवाद का मुख्य विषय भौतिक विज्ञान है। यह सन्देहवाद प्रधानतया प्रकृति-जगत् की बुद्धिगम्यता के बारे में है। ह्यूम ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान के सम्बन्ध में अपना सन्देहवाद लगाने की विशेष चेष्टा नहीं करता, (वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास भी करता था) उसके प्रहार का मुख्य लक्ष्य विज्ञान या भौतिक-शास्त्र है। ह्यूम की शताब्दी में प्रकृति-जगत् की व्याख्या ही चिन्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता था।

वैज्ञानिक खोजों का आधार-स्तम्भ कार्य-कारण-भाव की धारणा रही है। भौतिक घटनाओं की व्याख्या का अर्थ है, उनमें कार्य-कारण-भाव को स्थापित कर देना। 'प्रत्येक घटना का कारण होता है' यह भौतिक शास्त्र का अटूट नियम है। ह्यूम इसी नियम का खण्डन कर डालता है। भौतिक घटनाएँ कारणता के नियम से सम्बद्ध हैं, या उससे शासित होती हैं, यह किसी तर्क के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारण की खोज एक मानसिक आवश्यकता है। हम दो घटनाओं को बार-बार एक-दूसरे के बाद घटित होते देखकर, उनके उसी क्रम से घटित होने की आशा करने लगते हैं; कार्य-कारण-सम्बन्ध वस्तुगत अर्थात् वस्तु-जगत् की चीज़ नहीं है।

हम यह कह रहे थे कि योरपीय दर्शन की प्रमुख समस्या विश्व की (और भौतिक जगत् विश्व का एक महत्त्वपूर्ण अंश है) व्याख्या करना है।*हमारे इस मन्तव्य का सबसे बड़ा प्रमाण जर्मन तत्त्ववेत्ता काण्ट की "क्रिटीक आफ प्योर रीज़न" है। इस ग्रन्थ की मुख्य समस्या ह्यूम के विरुद्ध यह सिद्ध करना है कि भौतिक जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या अर्थात् भौतिक-शास्त्र सम्भव है। भौतिक शास्त्र जड़-जगत् के बारे में मुख्यतः कार्य-कारण-भाव के सिद्धान्त का अवलम्ब लेकर सार्वभौम निश्चयात्मक प्रतिज्ञाओं (वाक्यों) का कथन करता है। ह्यूम के अनुसार विभिन्न घटनाओं और पदार्थों में कार्य-कारण जैसा कोई आवश्यक अथवा अविनाभाव-सम्बन्ध नहीं है। अतएव भौतिक-विज्ञान भी सम्भव नहीं है।

*डेकार्ट, बेकन, लॉक, लाइबनिज़ आदि के अनुसार भौतिकशास्त्र दर्शन का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह सब विचारक दर्शन को विज्ञान का चरम विकास मानते थे। दे० Paulsen, Introduction to Metaphysics (1930 Edn.) पृ० २३; और आगे, पाल्सन कहता है:—'It is evident that natural science everywhere constituted the principal part of philosphy; nay, for some of them, it forms the real essence of philosophy.' (पृ० २६)

केवल अनुभव के बल पर (और लॉक के अनुसार सारा ज्ञान अनुभव-मूलक है) निश्चित और सार्वभौम सत्यों पर नहीं पहुंचा जा सकता।

उत्तर में काण्ट एक बहुत ही असाधारण और साहसपूर्ण सिद्धान्त का आविष्कार कर डालता है। हम बाह्य जगत् के बारे में निश्चित और सार्वभौम (Universal and Necessary) तथ्यों का अनुसंधान कर करते हैं, इसका कारण यह है कि वस्तुओं में आवश्यक सम्बन्धों (Necessary Relations) को स्थापित करनेवाली हमारी बुद्धि है।

काण्ट के सिद्धान्त के विषय में हम आगे लिखेंगे। यहाँ हमें यही कहना है कि **काण्ट की दृष्टि में विश्व की व्याख्या की समस्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, और उसके दर्शन का मुख्य प्रयोजन इस व्याख्या की सम्भावना का मण्डन है।** यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वर और आत्मा-सम्बन्धी ज्ञान की सम्भावना सिद्ध की जाय, किन्तु विश्व की व्याख्या परम प्रयोजनीय है। वस्तुतः काण्ट ईश्वर और आत्मा को ज्ञेय नहीं मानता, वे नैतिक और धार्मिक श्रद्धा के विषय हैं। दर्शन का मुख्य काम ज्ञान की व्याख्या और विश्लेषण करना है।

हीगल का दर्शन तो विश्व की व्याख्या करने का अन्यतम बौद्धिक प्रयत्न है। विश्व की समस्त घटनाएँ द्वन्द्व-नियम से शासित होती हैं। ब्रह्माण्ड की सारी घटना-समष्टियाँ द्वन्द्वात्मक धारणाओं का मूर्त्तरूप अथवा द्वन्द्वन्याय का निदर्शन हैं। यह द्वन्द्व-नियम प्राकृतिक एवं जीव-जगत् के विकास, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के ऐतिहासिक क्रम तथा स्वयं धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में पूर्णतया व्याप्त है।

अति-आधुनिक काल में सम्भवतः ब्रेडले ही एकमात्र दार्शनिक है जिसने दर्शन का उद्देश्य तत्त्व-पदार्थ (Reality) का स्वरूप-ज्ञान बतलाया है। किन्तु ब्रेडले का तत्त्व-पदार्थ अनुभव-जगत् की विभिन्न व्यक्तियों (Entities) की ही समष्टि है। वस्तुतः ब्रेडले मानता है कि एक पूर्ण दर्शन-पद्धति में विश्व की विभिन्न सत्ताओं या विवर्त्तों (Appearances)

का पूरा विवरण—तात्त्विकता की दृष्टि से तारतम्यात्मक (Graded) क्रम-निर्देश—होना चाहिये। क्रोचे ने भी चित्-शक्ति (Spirit) की विभिन्न क्रियाओं के विवरण-रूप में विश्व-प्रक्रिया की व्याख्या करने की चेष्टा की है। बर्गसां का सृजनात्मक विकास (Creative Evolution) स्पष्ट ही विश्व-जगत की व्याख्या का प्रयत्न है। विश्व की विकासात्मक व्याख्या के अन्य प्रयत्न एलेग्ज़ेण्डर और लॉयड मार्गन के नव्योत्क्रान्तिवाद (Emergent Evolution) और जनरल स्मट्स के समष्टिवाद (Holism) में प्रकट हुए हैं। ह्वाइटहेड का दर्शन भी कुछ इसी प्रकार का है।

✓ इस प्रकार योरपीय दर्शन के अत्यन्त प्राचीनकाल से अब तक के विकास पर दृष्टिपात करके हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि योरपीय दर्शन की मूल प्रेरणा निरुपयोगी या निष्प्रयोजन जिज्ञासा-वृत्ति (Disinterested Curiosity) है और उसका एकमात्र काम विश्व-प्रक्रिया को समझना या उसका ज्ञान प्राप्त करना है। क्योंकि योरपीय दर्शन का उद्दिष्ट ज्ञान है, इसलिए उसकी सम्भावना का मण्डन तथा उसकी सीमा का निर्धारण भी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन जाता है। योरपीय दर्शन के इतिहास में दो बार ज्ञान की सम्भावना के सम्बन्ध में गहरी आशंका प्रकट की गई है, एक बार प्रोटेगोरस के सापेक्षवाद में, और दूसरी बार ह्यूम के संशयवाद में; और दोनो ही बार उसका निराकरण करने के लिए योरप ने प्लेटो और काण्ट जैसे धुरन्धर दार्शनिकों को उत्पन्न किया। व्यावहारिक क्षेत्र में योरपीय दर्शन मानवता के नैतिक जीवन को समझाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। जिस विश्व को योरपीय मस्तिष्क बुद्धि द्वारा पकड़ने को सचेष्ट रहा है, उसमें (यह बात हमारे ध्यान देने योग्य है) आत्मा का और परमात्मा का भी कोई विशिष्ट स्थान नहीं है। थेलीज से लेकर डिमोक्राइटस तक के दर्शन में ईश्वर की धारणा महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्लेटो और अरस्तू में भी ईश्वरवाद महत्त्वपूर्ण नहीं है; यह दोनों ही दार्शनिक अपने "फार्म" और "मैटर"

के सम्बन्ध-विषयक सिद्धान्तों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। सेन्ट एन्सेल्म और डेकार्ट की ईश्वर-सम्बन्धी युक्तियाँ अवश्य ही प्रसिद्ध हैं, किन्तु डेकार्ट के दर्शन में भी ईश्वर की धारणा प्रमुख नहीं है; उसकी द्रव्य की परिभाषा और द्वैतवाद ने ही परवर्त्ती दर्शन को अधिक प्रभावित किया। काण्ट की दर्शन-पद्धति में आत्मा और ईश्वर दार्शनिक चिन्तन के विषय ही नहीं रह जाते, और हीगल तथा ब्रेडले के अध्यात्मवाद में सृष्टिकर्त्ता और उपासना के विषय की कल्पना नितान्त गौण है। ब्रेडले तो वेदान्त की भाँति ही ईश्वर को अतात्त्विक मानता है। वस्तुतः ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद दो भिन्न सिद्धान्त हैं।

ईश्वर से भी अधिक योरपीय दर्शन में आत्म-तत्त्व की उपेक्षा हुई है। यह बात प्राचीन और आधुनिक दोनों कालों के विषय में कही जा सकती है; और मध्य-युग भी इसका अपवाद नहीं है। हम देखेंगे कि योरपीय दर्शन की यह प्रवृत्तियाँ उसे भारतीय दर्शन से काफी भिन्न बना देती हैं।

भारतीय दर्शन

योरप के दर्शन की भाँति भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक क्रम से विवरण देना सम्भव नहीं है। बात यह है कि यहाँ के दर्शनों का विकास केवल व्यक्तियों द्वारा नहीं बल्कि सम्प्रदायों के रूप में व्यक्तिसमूहों द्वारा हुआ। हमारे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन आदि का विकास अत्यन्त प्राचीन काल से शुरू होकर हज़ारों वर्ष तक समानान्तर भाव से होता रहा, और आज भी बिल्कुल बन्द नहीं हो गया है। महत्त्वपूर्ण दर्शनों के प्रवर्त्तकों का आपेक्षिक कालनिर्णय प्रायः असम्भव-सा है, और उनके प्रमुख टीकाकारों को भी आगे-पीछे के तारतम्य में, किसी यौक्तिक विकास के (Logical) क्रम से नहीं रखा जा सकता। कुछ विद्वानों की सम्मति में विभिन्न दर्शन चिन्तन के विभिन्न सोपान-स्वरूप (Stages) हैं जो क्रमशः अधिकाधिक उन्नत मस्तिष्क के अधिकारियों की बुद्धि को सन्तुष्ट करने-

वाले हैं, किन्तु यह मत समचीन नहीं मालूम पड़ता। विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्य जिस उत्साह, आत्म-विश्वास एवं गम्भीरता से अपने-अपने मत का प्रतिपादन और विपक्षियों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि उनके मतभेद वास्तविक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शनों का विवेचन करते समय एक का दूसरे से विकास दिखा सकना नितान्त कठिन है।

ऋग्वेद-कालीन आर्य पारिभाषिक अर्थ में दार्शनिक नहीं थे। उनमें जिज्ञासा की अपेक्षा विस्मय का और चिन्तन की अपेक्षा कल्पना का ही बाहुल्य दिखाई देता है। वस्तुतः संहिता-काल में दार्शनिक जिज्ञासा और चिन्तन बीजरूप में ही पाये जा सकते हैं। किन्तु इस प्रकार के बीजों की कमी नहीं है, वे जहाँ-तहाँ बिखरे हुए मिल सकते हैं। एक जगह ऋग्वेद का कवि पूछता है—'किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस एतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः', अर्थात् वह कौन-सा वन था, कौन-सा वृक्ष था जिससे (स्रष्टा ने) पृथ्वी और अकाश का निर्माण किया? अन्यत्र दृश्य सृष्टि को यज्ञ से उपमा देकर वैदिक कवि प्रश्न करता है कि इस यज्ञ के लिए आवश्यक घृत, समिधा इत्यादि सामग्री कहाँ से आई। पहला प्रश्न जगत् के उपादान-कारण के सम्बन्ध में होते हुए भी निमित्त-कारण की कल्पना से मुक्त नहीं है। दूसरे प्रश्न में उपादान-विषयक जिज्ञासा अधिक प्रबल है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त और नासदीय-सूक्त में उपादान और निमित्त-कारणों की अभिन्नता की कल्पना भी विशद हो गई है। नास-दीय-सूक्त में हम थेलीज़ की मूल-कारण-विषयक जिज्ञासा को कुछ परिवर्तित किन्तु स्पष्टरूप में पाते हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ईश्वर-वाद भी काफी विकसित रूप पा गया है। वैदिक कवि के अनुसार 'एक ही को विद्वान् लोग अनेक नामों से पुकारते हैं; कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम और कोई वायु' (ऋग्वेद १।१४४।४६)।

भारतीय दर्शन का वास्तविक आरम्भ उपनिषद्काल से मानना चाहिये। वैदिक काल के बीज उपनिषदों में अंकुरित हो गये हैं। यह

मानना ही पड़ेगा कि प्राचीनतम उपनिषद् एक हजार वर्ष ई०पू० से बाद के नहीं हो सकते। इतने प्राचीन काल में उपनिषदों जैसे विस्तृत और संकेतपूर्ण दार्शनिक साहित्य का आविर्भाव सचमुच ही विस्मय-जनक घटना है। उपनिषदों में इसके पर्याप्त संकेत हैं कि उस समय भारतवर्ष में काफी दार्शनिक जिज्ञासा और हल-चल थी। जगह-जगह हम पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति तत्त्व-ज्ञान के लिए अमुक विचारक के पास गया और अमुक परिषद् में अमुक विद्वानों में शास्त्रार्थ हुआ। भारतीय दर्शन का आरम्भ थेलीज़ जैसे किसी एक विचारक में एक समस्या को लेकर नहीं हुआ। दर्शन का आरम्भ यहाँ एक वैयक्तिक नहीं, जातीय घटना थी। इसीलिए उसका विवरण देना सरल नहीं है।

See R.K. on 139

जैसा कि हमने कहा, विस्तृत उपनिषद्--साहित्य में अनेक प्रश्न अनेक रूपों में उठाये गये हैं; फिर भी विभिन्न उपनिषदों में काफी एक-स्वरता है। दो-एक अपवादों को छोड़कर उपनिषद्-साहित्य में प्रायः एक "स्पिरिट" पाई जाती है। और इस साहित्य में उत्तरकालीन भारतीय दर्शनों के लगभग दो-तिहाई सिद्धान्त बीज-रूप में वर्त्तमान हैं। श्रेय और प्रेय, ऐहिक सुख और मोक्ष का भेद; इन्द्रिय ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान की अपर्याप्तता; कर्म की अपेक्षा ज्ञान की महत्ता; केवल ज्ञान द्वारा अमृतत्व की प्राप्यता; ब्रह्म की विश्व-कारणता एवं आत्मा की परम ज्ञेयता आदि भारतीय दर्शन के दर्जनों महत्वपूर्ण मन्तव्य उपनिषदों में विशद और स्पष्ट रूप में उल्लिखित हैं। बाद के दार्शनिकों का काम केवल इन सिद्धान्तों का यौक्तिक मण्डन करना रह जाता है। उपनिषद्-दर्शन की यह बहुमुखता उसके आविष्कारकों की क्रान्तदर्शिता और उनकी असामान्य प्रतिभा की द्योतक है।

उपनिषदों में उठाये गये प्रश्न यद्यपि विविध हैं, तथापि उनका वर्गीकरण असम्भव नहीं है। प्रश्नोपनिषद् में छः जिज्ञासुओं ने जाकर महर्षि पिप्पलाद से छः प्रश्न किये, जो इस प्रकार हैं ; (१) यह प्रजाएँ कहाँ से उत्पन्न होती हैं ? (२) कितने देवता प्रजा का धारण और

प्रकाशन करते हैं ? उनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है ? (३) यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है, इस शरीर में कैसे आता है और कैसे निकल जाता है ? (४) इस पुरुष में क्या सोता है और क्या जागता रहता हैं; कौन स्वप्न देखता है; किसे सुख होता है ? (५) मरते समय ओंकार के ध्यान से कौन लोक मिलता है ? (६) पुरुष क्या है ? इन प्रश्नों में पहला विश्व के कारण के सम्बन्ध में है; दूसरा और पाँचवां उपास्य देव और उपासना के फल के विषय में है; तथा शेष तीन जीवन और आत्मा-विषयक हैं। उपनिषदों की जिज्ञासा का एक प्रमुख विषय विश्व का मूल-तत्व है, वह तत्व जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है। छान्दोग्य में आरुणि अपने विद्याभिमानी पुत्र श्वेतकेतु से पूछते हैं—'क्या तुम उसे (उस तत्त्व को) जानते हो, जिससे बिना सुना हुआ सुना हो जाता है, बिना समझा हुआ समझा हुआ हो जाता है और बिना जाना हुआ ज्ञात हो जाता है ?'* मुण्डक में शौनक महाशाल अंगिरस के पास जाकर प्रश्न करता है—'भगवन् ! किसके जान लेने से यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है ?' † विश्व के चरम तत्त्व को उपनिषदों में प्रायः ब्रह्म या सत् नाम दिया है और ब्रह्म या सत् की जिज्ञासा उपनिषदों की प्रमुख समस्या है।‡ उनकी जिज्ञासा का दूसरा मुख्य विषय आत्मा है। छान्दोग्य में नारद सनत्कुमार से जाकर कहते हैं कि 'भगवान् ! मुझे शिक्षा दो।'

*छा० ६।१।३

†मुं० १।१।३

‡तैत्तिरीय में वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता से 'ब्रह्म' सिखाने की प्रार्थना करता है (दे० भृगुवल्ली, १); केनोपनिषद् का आरम्भ मन, वाणी के प्रेरक ब्रह्म की जिज्ञासा से होता है, और वही उसका प्रतिपाद्य है; बृहदारण्यक में बालाकि के यह कहने पर कि 'मैं तुम्हें ब्रह्म सिखाऊँगा' अजातशत्रु उत्साहित होकर बोल उठता है—'सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मः, तुम्हारे यह कहने मात्र के लिए तुम्हें मैं एक हजार गौएँ दूंगा।' विश्व-साहित्य में ज्ञान-पिपासा का इतना तीव्र उदाहरण मिलना कठिन है।

सनत्कुमार के पूछने पर कि उन्होंने कहां तक पढ़ा है, नारद कहते हैं कि 'मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद, सामवेद इतिहास, पुराण, देव-विद्या, भूत-विद्या आदि पढ़े हैं, किन्तु मैं अभी मन्त्रवित् ही हूँ, **आत्मवित्** नहीं, आप कृपा करके मुझे शोक के पार पहुंचाएँ।'* यहाँ नारद की आत्म-विषयक जिज्ञासा नितान्त तीव्र है। उपनिषद्-दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि वह ब्रह्म और आत्मा की एकता घोषित करके आत्मा को दर्शन-शास्त्र अथवा परा विद्या का एकमात्र विषय कथन कर डालता है।

उपनिषद् जगह-जगह ब्रह्म या आत्मा की ज्ञातव्यता पर जोर देते हैं; ब्रह्म से भी अधिक वे आत्मा को ज्ञातव्य और प्राप्य घोषित करते हैं। बृहदारण्यक में हम पढ़ते हैं, 'आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य और मन्तव्य है; आत्मा ही निदिध्यासन का विषय है; हे मैत्रेयि! आत्मा के ही दर्शन, श्रवण और ज्ञान से यह सब विदित या ज्ञात होता है।'† जिस प्रकार दुन्दुभि से उत्पन्न शब्दों को पकड़ने का एकमात्र उपाय दुन्दुभि को पकड़ लेना है, उसी प्रकार विश्व को जान लेने का एकमात्र ढंग आत्म-तत्त्व को जान लेना है। केनोपनिषद् कहता है—'इस जीवन में यदि आत्मा को जान लिया तो ठीक, यदि न जाना तो सर्वनाश है।' कठोपनिषद् में तो नचिकेता का मुख्य जिज्ञास्य ही आत्मा है। छान्दोग्य के इन्द्र और विरोचन तथा प्रजापति के सम्वाद का विषय भी आत्मा है।

इस प्रकार उपनिषदों के विचारकों की चरमतत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा का पर्यवसान आत्म-जिज्ञासा में हुआ है। उपनिषत्कार आत्मा को जानना चाहते हैं, इसका कारण है। उपनिषद्-दर्शन निष्प्रयोजन या निरुपयोगी जिज्ञासा-वृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं है। मैत्रेयी अपने पति याज्ञवल्क्य से कहती है—येनाहं नामृता स्याम् तेनाहं कि कुर्याम्; अर्थात् जिससे मैं अमर नहीं होऊँगी उसका मैं क्या करूं? मैत्रेयी का यह उद्गार उपनिष-

---

* ७।१।२—२। † २।४।५

दीय दार्शनिकों की चिरन्तन भावना को प्रकट करता है। भारत के यह आदिम दार्शनिक अपने को ससीम भोगैश्वर्यों से सन्तुष्ट नहीं कर सके ; वे असीम की खोज में थे। 'जो अनन्त है, भूमा है, उसी में सुख है ; अल्प में सुख नहीं है। भूमा का ही नाम सुख है ; इसलिए भूमा को ही जानने की इच्छा करनी चाहिये।'* उपनिषदों की सम्मति में आत्मा या ब्रह्म भूमा है, आत्मा या ब्रह्म ही विश्व का असीम और शाश्वत मूलतत्त्व है।

पाठकों को यह नहीं समझना चाहिये कि क्योंकि उपनिषद्कार चिन्तन का एक प्रयोजन लेकर अग्रसर होते हैं, इसलिए उनकी जिज्ञासा-वृत्ति निर्बल है। वस्तुतः उपनिषद्-दर्शन का मूल विश्वतत्त्व की जिज्ञासा ही है। यम के हजार प्रलोभन देने पर भी नचिकेता आत्म-विषयक जिज्ञासा से विरत नहीं होता। अन्यत्र भी ब्रह्म या आत्मा-विषयक प्रश्नों में जिज्ञासा का भाव ही प्रबल दिखाई देता है। किन्तु उपनिषदों के विचारक अपनी चिन्तन-प्रवृत्ति का प्रयोजन कल्पित करके उसे एक यौक्तिक या बुद्धिसंगत व्यापार दर्शित कर देते हैं। वास्तव में एक बुद्धिजीवी (Rational) प्राणी निष्प्रयोजन व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। जैसा कि मीमांसकों का 'मॉटो' है, † बिना उद्देश्य के मूर्ख भी कोई काम नहीं करता। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगॉल के अनुसार जीवित प्राणियों के व्यापार भौतिक व्यापारों से मुख्यतः इसी में भिन्न होते हैं कि वे किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किये जाते हैं। § प्राणधारियों की प्रमुख विशेषता उनकी लक्ष्योन्मुखता अथवा लक्ष्य खोजने का स्वभाव है। वास्तव में कोई मनुष्य जिस अनुपात में बुद्धिमान होता है उसी अनुपात में अपने व्यापारों का हेतु या प्रयोजन बताने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से 'दर्शन दर्शन के लिए' का सिद्धान्त श्लाघ्य न होकर एक प्रकार की बौद्धिक असमर्थता का द्योतक बन जाता है। योरप

प्रयोजन

* छा० ७।२३।१। † प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।

§ दे० An outline of Psychology, Ch. I.

के दार्शनिक मानो जिज्ञासा (Curiosity) की अन्ध प्रवृत्ति (Instinct) को सन्तुष्ट करने के लिए चिन्तन करते हैं, किसी उद्देश्य से नहीं।

उपनिषदकार मानते हैं कि ज्ञान के अतिरिक्त भूमा या अमृतत्व की प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। 'ब्रह्म को जानने वाला सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।'* 'ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई दूसरा पथ नहीं है' (श्वेता० ३।८) । 'ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार होने पर मनुष्य के हृदय की गांठ खुल जाती है। उसके सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं और उसके सब कर्मों का क्षय हो जाता है।'§ श्वेताश्वेतर उपनिषद् बड़े ज़ोरदार शब्दों में घोषित करता है कि 'जबलोग आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे, तब सम्भवतः ब्रह्म को बिना जाने दुःखों का अन्त हो सकेगा।' ‡ इस प्रकार की उक्तियों के होते हुये यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय दर्शन में योरपीय दर्शन की अपेक्षा ज्ञान का कम महत्त्व है। जहाँ योरपीय दर्शन ज्ञान को स्वयं अपना साध्य मानता है, वहाँ भारतीय दर्शन में ज्ञान अर्थात् दर्शन जीवन के चरम लक्ष्य का एकमात्र साधन समझा गया है। हीगल के अनुसार दार्शनिक चिन्तन मानव जीवन का सर्वोच्च व्यापार है; प्लेटो और अरस्तू ने भी दर्शन को ऐसा ही महत्त्व दिया था। भारतीय दार्शनिक साहित्य में उक्त मन्तव्य और भी अधिक ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किया गया है। गीता कहती है—ज्ञान से अधिक पवित्र (अर्थात् पवित्र करने वाला) कुछ भी नहीं है।† वस्तुतः 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो

*आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन। (तै० उप० २।४)

§ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यंते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मु० २।२।८)

‡ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

† न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

सकती) यह सिद्धान्त भारत के प्रायः सभी दर्शनों को मान्य है। शङ्कराचार्य कहते हैं—अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः,* अर्थात् सम्यग्ज्ञान से मुक्ति होती है, इस सिद्धान्त को सभी वादी मानते हैं। दार्शनिक चिन्तन और ज्ञान का यह महत्त्व उपनिषद्-काल में ही प्रतिष्ठित हो गया था।

उपनिषदों में हम दार्शनिक समस्या के दो मुख्य रूप पाते हैं, एक का सम्बन्ध विश्व-तत्त्व की खोज से और दूसरे का आत्म-तत्त्व के ज्ञान से समझना चाहिये। पहली समस्या का एक रूप तो ब्रह्म-जिज्ञासा है जो उपनिषदों में पाया जाता है, और दूसरा विश्व की अन्य ढंगों से व्याख्या करना। बाद के भारतीय दर्शनों का प्रधान काम या तो उपनिषदों के आत्मान्वेषण को आगे बढ़ाना हो जाता है, या स्वतन्त्र रीति से उपनिषदों के ब्रह्मवाद या ब्रह्मात्मैक्यवाद को समग्रता में स्वीकार न करके, विश्व की व्याख्या करना। भगवद्गीता तथा वेदान्तसूत्र और उसके अनेक टीकाकारों में दार्शनिक-समस्या को पहले रूप में ग्रहण किया गया है, तथा जैन-दर्शन, सांख्य और न्याय-वैशेषिक में हम उसका रूप दूसरा पाते हैं। मीमांसा के दो सम्प्रदायों पर न्याय-वैशेषिक का काफी प्रभाव दिखाई देता है। यह दूसरी कोटि के दर्शन अपेक्षाकृत योरपीय दर्शन के अधिक समीप हैं। मोक्ष की धारणा उनमें भी है। किन्तु उनकी अभिरुचि केवल ब्रह्म या आत्मा में ही नहीं है। न्याय-दर्शन का मुख्य विषय प्रमाण है; वैशेषिक की आत्मा अनेक द्रव्यों में एक है और सांख्य में प्रकृति और पुरुष दोनों का ज्ञान समान महत्त्व रखता है। यही बात जैन-दर्शन और मीमांसा के दो सम्प्रदायों के बारे में कही जा सकती है। किन्तु फिर भी, उपनिषदों के विस्तृत और व्यापक प्रभाव के कारण, भारतीय दर्शन आत्म-ज्ञान पर अधिक जोर देते रहे हैं। अपने न्याय-भाष्य में वात्स्यायन

* ब्रह्मसूत्र, २।१।११। न्याय में सोलह; वैशेषक में छै,: सांख्य में तीन पदार्थों (व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष) का ज्ञान निःश्रेयस् या दुःख-निवृत्ति के लिए आवश्यक बताया गया है।

लिखते हैं—'क्योंकि ज्ञेय वस्तुओं की संख्या अनन्त है, इसलिए उन सब का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव उस पदार्थ का सत्य ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये जिसका अज्ञान पुनर्जन्म का सक्रिय हेतु बन जाता है।' वात्स्यायन की सम्मति में सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान 'आत्मा को अमर तथा शरीर, इन्द्रियों आदि नश्वर पदार्थों से भिन्न जानना' है।*

वस्तुतः 'दर्शन-शास्त्र की प्रमुख समस्या आत्म-ज्ञान है' यह सिद्धान्त उपनिषद् काल के बाद कुछ दिनों तक विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा। सूत्रकाल (ईसा की प्रारम्भिक तीन-चार शताब्दियों) में ब्रह्मसूत्र को छोड़कर किसी दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ में, केवल आत्मा के ज्ञान पर विशेष जोर नहीं दिया गया। वृत्तिकाल में भी उपनिषदों की आत्मजिज्ञासा का विशेष महत्त्व शङ्कराचार्य के भाष्यों में ही दीख पड़ता है। वस्तुतः वेदान्त ने बाह्य जगत् के सम्बन्ध में कुछ भेद से सांख्य के सिद्धान्तों को स्वीकार करके अपना ध्यान मुख्यतः आत्म-तत्त्व की ओर लगा दिया। श्वेताश्वेतर में प्रकृति को महेश्वर, शिव या भगवान की माया मान लिया गया है; गीता में प्रकृति भगवान की योनि या विभूति बन जाती है। इतने परिवर्त्तन के साथ सांख्य का प्रकृति-वाद स्वीकार करने में उत्तरकालीन वेदान्त को कोई आपत्ति नहीं रहती, यद्यपि शङ्कर ने सांख्यों का खण्डन किया है। ऐतरेय उपनिषद् के भाष्य में प्रतिपक्षी के यह आक्षेप करने पर कि उपनिषदों के विभिन्न सृष्टि-विषयक विवरणों में विरोध है, शङ्कराचार्य उत्तर देते हैं कि इसमें कोई हर्ज नहीं है। उपनिषदों का उद्देश्य सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण देना नहीं है—उसके ज्ञान से कोई लाभ भी नहीं है। अमृतत्व या मोक्ष आत्मैक्य ज्ञान का फल है, यही ज्ञान उपनिषदों का प्रतिपाद्य है:—

नहि सृष्ट्याख्यायिकादि परिज्ञानात्किञ्चित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्व-रूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्, (अ० २, उपोद्घात)।

शंकर के मत में उपनिषदों के सृष्टि-विषयक वर्णन अर्थवाद मात्र

*दे० न्यायभाष्य (गंगानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद) पृ० ४६७-६८

हैं। उपनिषदों का यह मन्तव्य कि दार्शनिक जिज्ञासा मोक्ष के लिए है और उसका विषय आत्मा है, शङ्कर-वेदान्त में पूर्ण रीति से विकसित हो गया है। हम आगे देखेंगे कि जगत् के मिथ्या होने के पक्ष में शङ्कर की सबसे बड़ी युक्ति यह है कि विश्व को वास्तविक मान लेने पर मुक्ति सम्भव न हो सकेगी। यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है। दर्शन का ज्ञेय आत्मा या ब्रह्म को मानते हुये भी शङ्कराचार्य विश्व-प्रक्रिया के प्रति सर्वथा उदासीन न रह सके। क्योंकि उन्हें अपने मत का प्रतिपादन अन्य भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि में करना पड़ा, इसलिए उन्हें अपने सृष्टि-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना अनिवार्य हो गया। वास्तव में सृष्टि-कर्तृत्व वेदान्त के ब्रह्म का एक प्रमुख गुण है। यह ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ से ही स्पष्ट हो जाता है। सूत्रकार ने ब्रह्म का लक्षण 'वह जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति, और भंग या विनाश होता है,' किया है।

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वेदान्त के उदय के बाद भारतीय दार्शनिकों की सृष्टि-विषयक जिज्ञासा अथवा विश्व की व्याख्या का उत्साह कम हो गया। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से हम भारतीय दार्शनिकों को भक्ति और उपासना के विषय ईश्वर में ज्यादा दिलचस्पी लेते हुये पाते हैं। यह ईश्वर वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म नहीं है। उदयनाचार्य की "कुसुमांजलि" की रचना इस रुचि-वैचित्र्य, का पहला निदर्शन है। उसके पश्चात् रामानुज (ग्यारहवीं शताब्दी), निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि के दर्शनों में ईश्वर का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण हो जाता है एवं भक्त और भगवान के सम्बन्ध को स्पष्ट करना ही दर्शन-शास्त्र का मुख्य काम बन जाता है। इन शताब्दियों में भारतीय मस्तिष्क ने वैशेषिक और सांख्य जैसे सृष्टि-विषयक किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का आविष्कार नहीं किया। इस परिवर्त्तन का प्रमुख कारण इन दिनों हमारे देश का यवन आक्रमणकारियों से आक्रान्त होना था। मुसलमान शासकों द्वारा उत्पीड़ित और त्रस्त जनता को जिस आधार की आवश्यकता थी वह भक्तिमार्गियों के करुणामय सगुण ईश्वर में ही मिल सकता था।

क्या भारत के इस उत्तरकालीन दर्शन की मध्य-युगीय ईसाई-दर्शन से तुलना की जा सकती है ? यह ठीक है कि योरप के मध्य-युग की भाँति एतत्कालीन भारतीय दर्शन का केन्द्र भी ईश्वर था। किन्तु फिर भी हम निःसन्दिग्ध भाव से कह सकते हैं कि ऊपर के प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिये। बात यह है कि विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में दार्शनिक ज्ञान के विषय के बारे में कुछ भेद रखते हुये भी भारतीय दर्शन की मूल प्रेरणा **जिज्ञासा-वृत्ति** ही रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण हमारे दर्शन की अनवरत तार्किक प्रगति—उसकी प्रमाण-शास्त्र में अविच्छिन्न अभिरुचि—है। गौतम, अक्षपाद, उद्योतकर, दिङ्-नाग, वाचस्पति आदि के बाद बारहवीं शताब्दी में गंगेश की तत्त्व-चिन्तामणि का प्रकट होना और उस पर लिखी गई दीधिति, गादाधरी आदि टीकाओं का विस्तार इस बात की प्रबल साक्षी देते हैं कि भारतीय दार्शनिकों की ज्ञान और ज्ञान के साधनों में अखण्ड अभिरुचि रही है। ईसाई दर्शन से हमारे बाद के दर्शन के भिन्न होने का दूसरा कारण उसकी **सुपुष्ट दार्शनिक पृष्ठभूमि** थी जिसने राजनैतिक आपद् काल में भी उसके "स्टैण्डर्ड" को अधिक नहीं गिरने दिया। मध्य-युग के योर-पीय दर्शन के अपेक्षाकृत सारशून्य होने का एक प्रधान कारण दार्शनिक पृष्ठभूमि का अभाव, यूनानी-दर्शन की स्मृति और संस्पर्श से वंचित होना, भी था।

हमने ऊपर कहा है कि भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति सप्रयोजन है, वह मोक्ष के लिए है। हमने इस पर भी जोर दिया कि भारतीय विचा-रकों के अनुसार मोक्ष का एकमात्र साधन ज्ञान है। इस दृष्टि से ज्ञान यद्यपि साधन बन जाता है फिर भी उसकी महत्ता में कमी नहीं आती। इससे आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन का साध्य व लक्ष्य भी स्वयं ज्ञान ही है। वेदान्त में मोक्ष का अर्थ है आत्म-प्राप्ति, जो आत्म-साक्षात्कार ही का दूसरा नाम है। आत्मा को पाने का अर्थ उसके वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूप से परिचित होना ही है। इसी

लिए श्री शंकराचार्य ने कहा है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन सब का पर्यवसान या प्रयोजन अवगति (आत्म-साक्षात्कार) में ही है (मनननिदिध्यसनयोरपि श्रवणवद् अवगत्यर्थत्वात्)। *इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों भारतीय विचारक दार्शनिक ज्ञान के लिए उपयुक्त गुरु को खोजते हुए अपना सर्वस्व छोड़ देने को तैयार रहते थे। मैत्रेयी और नचिकेता जैसे जिज्ञासुओं के उदाहरण संसार के किसी अन्य साहित्य में मिलने दुर्लभ हैं। भारतवर्ष में दार्शनिक चिन्तन को हम सब प्रकार के धार्मिक कृत्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण और पवित्र माना जाता हुआ पाते हैं। डायसन ने लिखा है कि 'भूमण्डल पर किसी देश के लोगों ने "रिलीजन" को उतनी गम्भीरता से नहीं पकड़ा, किसी ने मोक्ष प्राप्ति के लिए इतना परिश्रम नहीं किया, जितना कि भारतीयों ने।'† डायसन के इस अवतरण में यदि हम "रिलीजन" शब्द को "दर्शन" से बदल दें तो भी तथ्य की कोई हानि न होगी। वास्तव में भारतीय दर्शन कभी भी धर्म या "रिलीजन" का गौण सहकारी (मीमांसा के अर्थ में शेष या उपकारी) नहीं रहा। इसके विपरीत यहाँ के दर्शन ने "रिलीजन" को अपने में सन्निविष्ट करके उसके लक्ष्य और पद्धति दोनों का निर्देश किया। इस विषय में हमारे और योरप के दर्शन में किस प्रकार गहरा भेद रहा है, इसके सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे। यहाँ सिर्फ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अपेक्षाकृत योरपीय दर्शन साधनात्मक धर्म (Religion) से तटस्थ रहा और भारतीय दर्शन सामाजिक नीति-धर्म से; इस तटस्थता का परिणाम पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए बुरा हुआ है।

---

* ब्र० शां० भा० १-१-४ (२०१८)

† सिस्टम ऑफ़ वेदांत, पृ० ४६

दूसरा अध्याय

सम्वित्-शास्त्र या ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान-विषयक अभिरुचि उसकी सम्भावना, साधनों एवं सीमा के सम्बन्ध में चिन्तन करने को विवश करती है। क्या विश्वप्रक्रिया या वस्तु-तत्त्व का ज्ञान सम्भव है? यदि हां, तो उसके साधन क्या हैं? मानवीय ज्ञान की सीमा क्या है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करना सम्वित्-शास्त्र (Epistemology) का काम है। ऊपर के तथा अन्य सम्बद्ध प्रश्नों पर पूर्वी और पश्चिमी दोनों दर्शनों में पर्याप्त विचार हुआ है। योरप के मध्य-युग में, जैसा कि हमने कहा, वास्तविक जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) का अभाव था, इस लिए वहां ज्ञान-मीमांसा का भी प्रायः अभाव रहा।

भारतीय सम्वित्-शास्त्र और योरपीय सम्वित्-शास्त्र में जहां कुछ समानताएं हैं, वहां गम्भीर भेद भी हैं। भारतवर्ष में ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) पर जितना विचार हुआ, उतना ज्ञान की सम्भावना और सीमा पर नहीं। वस्तुतः भारतीय दर्शन ने कोई बहुत महत्त्वपूर्ण संशय-वादी या सन्देहवादी उत्पन्न नहीं किया; प्रोटेगोरस और ह्यूम का यहाँ अभाव ही रहा। सुनते हैं कि उपनिषद-दर्शन के बाद की शताब्दियों में संजय बेलट्ठपुत्त नाम का एक अनिश्चयवादी विचारक हुआ था, पर यह स्पष्ट है कि उसने भारतीय दर्शन की प्रगति पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डाला—किसी प्लेटो या काण्ट को उत्पन्न नहीं किया। इस काल की बौद्धिक हलचल के फलस्वरूप हमें हिन्दू शास्त्रों का समन्वय करने वाला एक महत्त्वपूर्ण नैतिक ग्रंथ अवश्य ही उपलब्ध हुआ, अर्थात् श्रीमद्-

भगवद् गीता; किन्तु भारतीय सम्वित्-शास्त्र में संशय या अनिश्चयवाद का खण्डन करने की विशेष चेष्टा नहीं की गई है। नागार्जुन और श्रीहर्ष को भी पश्चिमी अर्थ में सन्देहवादी नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में सन्देहवाद युक्तियुक्त नहीं है। जब सन्देहवादी यह कहता है कि किसी वस्तु का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता, तब वह अपने ही विरुद्ध यह मान लेता है कि वस्तुओं के विषय में इतनी बात (यह कि वे अज्ञेय हैं) निश्चयपूर्वक कही जा सकती है। संदेहवाद (Scepticism) को स्वयं अपने विषय में भी संदिग्ध होना चाहिए। इसी प्रकार जब अज्ञेयवादी (Agnostic) वस्तु-विशेष को अज्ञेय बतलाता है, तब वह यह मान लेता है कि वस्तुओं की अज्ञेयता स्वयं ज्ञेय है। कोई वस्तु अज्ञेय है, यह भी उस वस्तुके सम्बन्ध में एक प्रकार का ज्ञान ही है। इस प्रकार सन्देहवाद और अज्ञेयवाद दोनो असंगत या विरोधग्रस्त हैं।

वास्तव में भारतीय दार्शनिक संशयवाद और अज्ञेयवाद पर नहीं रुक सकते थे। कारण यह है कि उनका लक्ष्य केवल ज्ञान नहीं बल्कि मोक्ष था। ज्ञान मोक्ष का साधन-मात्र था। इसके विपरीत योरपीय दर्शन का ध्येय विश्व का ज्ञान था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि योरप में ज्ञान की संभावना और सीमा पर विचार किया जाय। इसी प्रकार भारतवर्ष में मोक्ष की वास्तविकता या सम्भावना में सन्देह प्रकट किया जा सकता था जैसा कि चार्वाक ने किया। किन्तु भारतीय दर्शन पर चार्वाक के जड़वाद ने भी बहुत अधिक प्रभाव नहीं डाला। सम्वित्-शास्त्र पर उसका केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि बौद्धों तथा अन्य तर्कशास्त्रियों को अनुमान-प्रमाण का मण्डन करने के लिए अपनी युक्तियों को तेज करना पड़ा।

प्रमाण-परीक्षा

भारतीय दर्शन में बहुत प्राचीन काल से ज्ञान या प्रमा के साधन-भूत प्रमाणों पर विचार होता आया है। प्रमाण कितने हैं, इस विषय में विभिन्न दर्शनों में काफी मतभेद है। न्याय-दर्शन में चार प्रमाण माने

गये हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। वैशेषिक दर्शन केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानता है एवं मीमांसा के टीकाकारों ने अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि अन्य प्रमाण भी माने हैं। संक्षेप में भारतीय दर्शन के सर्वमान्य प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान हैं। आस्तिक दर्शन प्रायः शब्द या श्रुति को भी प्रमाण मानते हैं। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान पर बड़े मनोयोग से विचार किया गया है।

योरप का बुद्धिवाद—भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों को यह बात तनिक विचित्र प्रतीत होती है कि योरपीय दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण या प्रत्यक्ष-ज्ञान पर बहुत ही कम विचार किया गया है। अपने 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ' नामक ग्रंथ में श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने यह मत प्रकट किया है कि योरपीय दर्शन का झुकाव सदैव बुद्धिवाद की ओर रहा है।* हम देख चुके हैं कि हेराक्लाइटस और पार्मिनिडीज, विशेषतः दूसरे ने, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान की नितान्त अवहेलना की है। सुकरात भी धारणात्मक (Conceptual) ज्ञान का पक्षपाती था; इसीलिए वह परिभाषाओं पर जोर देता था। प्लेटो दीखने वाले जगत् को वस्तु-जगत् की छायामात्र बतलाया है; उसकी सम्मति में भी वास्तविक ज्ञान जाति-प्रत्ययों का ज्ञान है। डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज तो बुद्धिवादी प्रसिद्ध ही हैं। काण्ट का भी शुद्धबुद्धि की धारणाओं में अतिशय आग्रह और अनुराग है, वे मानो बाह्य जगत् की कुंजियां हैं। शेलिंग से हीगल के विरक्त हो जाने का मुख्य कारण प्रथम विचारक का अनुभव या प्रतिभान (Intuition) को प्रधान घोषित करना था। हीगल का परब्रह्म धारणाओं की समष्टि (System of Categories) या प्रमुख धारणा मात्र है; वह पूर्ण या निरपेक्ष प्रत्यय (Absolute Idea) है, और हीगल की दृष्टि में तर्क-शास्त्र ही तत्त्व-दर्शन (Ontology or Metaphysics) है। यद्यपि ब्रेडले हीगल की रक्त-शून्य धारणाओं

*पृ० १२९-१३३

(Bloodless Categories) से असन्तोष महसूस करता है, फिर भी वह मानता है कि दर्शन-शास्त्र का काम बुद्धि को सन्तुष्ट करना है।* अति आधुनिक काल में बर्ट्राण्ड रसेल आदि यथार्थवादियों ने बर्गसां के प्रतिभान-वाद (Intuitionism) के विरुद्ध फिर वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति और बुद्धिवाद का मण्डन किया है।

पिछले अध्याय में योरपीय दर्शन की समस्या पर हम जो कुछ कह आये हैं उसे ध्यान में रखते हुए बुद्धि की इस प्रधानता पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये। योरपीय दर्शन का उद्देश्य विश्व की व्याख्या द्वारा बुद्धि को सन्तुष्ट करना है, किसी तत्त्व पदार्थ की प्राप्ति नहीं।** इसके विपरीत भारतीय दर्शन मोक्ष या आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त हुआ था। क्योंकि प्राप्ति साक्षात् अनुभव के बिना सम्भव नहीं है, अथवा साक्षात् अनुभूति का ही दूसरा नाम है, इसलिए भारतीय दर्शन आत्मानुभव पर अधिक ज़ोर देता रहा। भारतीय दर्शन में अनुभव के प्राधान्य का यही रहस्य है।

फिर भी योरपीय दर्शन में प्रत्यक्ष-ज्ञान की उपेक्षा पर आश्चर्य होता है। आधुनिक अध्यात्मवादी ब्रेडले और बोसांक्वेट का यहाँ तक कहना है कि बौद्धिक कल्पनाओं से अछूती प्रत्यक्ष वास्तविकताओं (Facts) की सत्ता ही नहीं है।† इसका अर्थ यह है कि केवल प्रत्यक्ष या शुद्ध

---

* ……The object of Metaphysics is to find a general view which will satisty the intellect, etc,

—Appearnce and Reality (Second Edn:) Appendix

** ब्रेडले तो यहाँ तक कहता है कि बुद्धि का सन्तुष्ट होना ही इच्छाओं और संकल्प-शक्ति का भी सन्तुष्ट होना है। (In fact, if it satisfies the intellect it *ipso facto* satisfies both desire and will—Essays on Truth and Reality, पृ० १०६)

† तु० की०……it is asserted that there are no merely given facts but that all facts clearly show the work of

प्रत्यक्ष का अस्तित्व भी संदिग्ध है, ऐसे प्रत्यक्ष से यथार्थ ज्ञान की आशा तो करना ही व्यर्थ है। सत्य वास्तव में विभिन्न प्रतिज्ञाओं या कथनों (judgments) की समष्टि है। ब्रेडले कहता है कि प्रत्यक्ष या दृश्यमान वास्तविकता के विरुद्ध होने से किसी दार्शनिक सिद्धान्त को ठेस नहीं पहुँचती।

प्रत्यक्ष-विषयक यह मत भारतीय दर्शन के सविकल्पक प्रत्यक्ष एवं आधुनिक मनोविज्ञान के Apperception से सादृश्य रखता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह इन सबकी अपेक्षा उग्र (Radical) या अतिवादी है। नैयायिकों के अनुसार दृष्ट पदार्थ की जाति आदि का भी **प्रत्यक्ष** होता है; वे ऐसे प्रत्यक्ष को सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति कहते हैं; जाति आदि बौद्धिक कल्पना-मात्र नहीं हैं। इसके विपरीत दिङ्नाग का मत है कि वास्तविक प्रत्यक्ष नाम-जाति आदि की कल्पनाओं से मुक्त होता है (प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम जात्याद्यसंयुतम्)। देखने की बात यह है कि बौद्ध और नैयायिक दोनों ऐसे प्रत्यक्ष की सत्ता मानते हैं जिसमें बुद्धि का व्यापार नहीं होता।

यही नहीं, भारतीय दार्शनिकों के अनुसार न केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का बौद्धिक ज्ञान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, अपितु प्रत्यक्ष ज्ञान सब प्रकार के अनुमान का आधार है। अनुमान व्याप्ति पर आश्रित है, और व्याप्ति-ज्ञान प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नहीं है।* इस प्रकार बुद्धिवादी भी प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर सकता।

योरपीय दर्शन में बुद्धिवाद की प्रधानता का महत्त्वपूर्ण कारण

---

mind in "truth making" (A. C. Ewing, idealism: A Critical Survey, पृ० १६६) **बोसांक्वेट कहता है** The full facts are comprehensive system (Logic pt. II, पृ० २८७)

*** तु० की० दृष्टाच्चादृष्ट सिद्धिः (ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।२।२): प्रत्यक्ष पूर्वकत्वादनुमानस्य (बृहदा० उप० शां० भा १।२।२); तथा प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्—(न्यायभाष्य, १।१।१)**

यह भी है कि वहाँ के तर्कशास्त्र का जन्मदाता अरस्तू इस तथ्य को नहीं समझ सका कि अनुमान का आधार प्रत्यक्ष है। अरस्तू के अनुसार निश्चयात्मक उपपत्ति (Demonstration) निगमनात्मक (Deductive) होती है। निगमन के अतिरिक्त निश्चय (Certainty) नहीं हो सकता। अरस्तू का न्याय या सिलाजिज़्म एक सार्वभौम तथ्य (Universal Truth) के वाहक वाक्य से प्रारम्भ होकर एक विशेष-विषयक सत्य या निष्कर्ष पर पहुँचता है। किन्तु इस न्याय के आधारभूत सामान्य वाक्य या मेजर प्रेमिस की उपलब्धि कैसे होती है ? अरस्तू ने इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। यदि वह इस समस्या पर अधिक गम्भीरता से विचार करता तो सम्भवतः स्वयं वह और बाद के योरपीय विचारक प्रत्यक्ष को अधिक महत्त्व देते।

व्याप्ति-ज्ञान की समस्या

तीन अवयव वाले न्याय या "सिलाजिज़्म" का व्याप्तिवाक्य या मेजर प्रेमिस कैसे उपलब्ध होता है, इस पर अरस्तू ने बिल्कुल विचार न किया हो, ऐसा नहीं है। हम किसी सामान्य सत्य तक कैसे पहुँचते हैं ? 'सब मनुष्य मरणशील हैं,' अथवा 'जहाँ-जहाँ धुँआं होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है,' इत्यादि 'सर्व'-विषयक सत्यों पर हम कैसे पहुँच सकते हैं ? अरस्तू ने इस प्रश्न के दो उत्तर दिये हैं। (१) प्रथमतः अरस्तू का कथन है कि किसी जाति, सामान्य या श्रेणी (Class) के अन्तर्गत प्रत्येक विशेष की परीक्षा करके उस जाति या श्रेणी-विषयक सामान्य सत्य पर पहुँचा जा सकता है। आधुनिक परिभाषा में इस प्रक्रिया को 'पूर्ण आगमन' (Perfect jnduction) कहते हैं। डा० जॉन्सन नामक तर्कशास्त्री ने इसे Summary lnducton नाम दिया है जो अधिक उपयुक्त है। जॉन स्टुअर्ट मिल की सम्मति में इस प्रक्रिया को lnduction कहना उचित नहीं है। (२) अरस्तू यह भी कहता है कि सामान्य तथ्य का बोध एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि से होता है। अरस्तू की सम्मति

में यह अंतर्दृष्टि बुद्धि (Nous) का व्यापार है।* इस प्रकार के सामान्य सत्यों से ही उपपत्ति (Demonstration) का प्रारम्भ होता है।

नैयायिकोंने जिसे सामान्य-लक्षण-सन्निकर्ष, प्रत्यक्ष का एक भेद, कहा है, उसे अरस्तू एक प्रकारका बौद्धिक व्यापार बता डालता है। योरपीय दर्शन अन्तःकरण की सत्ता नहीं मानता, इसलिए उसमें आन्तर प्रत्यक्ष की कल्पना भी विकसित नहीं हो पाई। अरस्तू के Nous शब्द के प्रयोग ने सामान्य-विषयक ज्ञान को प्रत्यक्ष पर अवलम्बित माने जाने से रोका। सामान्य सत्यों का ज्ञान अन्ततः निरीक्षण पर अवलम्बित है, इस सिद्धान्त पर आधुनिक-कालीन आगमन-शास्त्र (Inductive Logic) ने ही ज़ोर दिया है। इस शास्त्र के प्रचार का सब से अधिक श्रेय जॉन स्टुअर्ट मिल को है।

किन्तु प्राचीन भारत में आगमनात्मक और निगमनात्मक तर्क-पद्धतियों का भेद नहीं माना गया। वस्तुतः भारतीय न्याय में इन दोनों पद्धतियों का समावेश है। अरस्तू के न्याय का मेजर प्रेमिस अपने सत्य के लिए परमुखापेक्षी रहता है, किन्तु भारतीय न्याय का आधार-स्तम्भ व्याप्ति-वाक्य होता है जो प्रत्यक्ष अन्वय और व्यतिरेक-ज्ञान पर आश्रित माना जाता है। एक ही अनुमान-मूलक उपपत्ति में भारतीय तर्कशास्त्र आगमन और निगमन दोनों का समावेश कर देता है।

अनुमान-प्रक्रिया की अनुभव-सापेक्षता की स्वीकृति भारतीय न्याय को अरस्तू के "सिलाजिज़्म" से काफ़ी भिन्न बना देती है। इसलिए हमें श्रीसतीशचन्द्र विद्याभूषण की यह सम्मति कि भारतीय न्याय पर अरस्तू का प्रभाव पड़ा, समीचीन नहीं प्रतीत होती। पांच अवयवों की संख्या भी बाहरी प्रभाव के विरुद्ध साक्षी देती है। वात्स्यायन के न्यायभाष्यमें एक मत का उल्लेख है जिसके अनुसार न्याय में दस अवयव होते हैं।*

* दे० Joseph, Introduction to Logic (Second Edition) पृ० ३८२-८४, तथा अर्डमान, हिस्टरी भाग १, पृ० १४१-४२

* दे० हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ० १२२

'वेदान्त परिभाषा' तथा अन्य कतिपय विचारकोंके अनुसार तीन अवयव पर्याप्त हैं। कुछ बौद्ध तार्किक दो ही अवयव मानने के पक्ष में थे। अवयवों की संख्या-विषयक यह विवाद भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास में एक अन्तरंग घटना-सी प्रतीत होती है।*

प्रो० कीथ ने भी माना है कि गौतम का न्याय स्वभावतः भारतवर्ष में विकसित हुआ। किन्तु उनका अनुमान है कि भारतीय व्याप्तिवाद, जिसका विकसित रूप बौद्ध तर्कशास्त्री दिङ्नाग में मिलता है, सम्भवतः यूनान से प्रभावित हुआ था।† किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं। व्याप्ति-ग्रह का जो उपाय दिङ्नाग ने बतलाया है वह मिल के Induction से समानता रखता है। **कार्य-कारण-भाव की धारणा और अनुमान-प्रक्रिया में कोई सम्बन्ध है,** इसका अरस्तू में कोई संकेत नहीं मिलता। वास्तव में अरस्तू की कारणता की धारणा अनाधुनिक है।

अनुभव की सहायता से व्याप्ति-ज्ञान या व्याप्तिग्रह कैसे होता है? भारतीय तर्कशास्त्र ने प्रारम्भ से ही इस प्रश्न में गहरी अभिरुचि दिखाई है। भारतवर्ष में आगमन शास्त्र(Inductive Logic) का विकास इसी समस्या के समाधान के रूप में हुआ है। इस विषय में नैयायिकों और बौद्धों में काफी मतभेद रहा है। भारतीय दर्शन के विद्यार्थी यह भली

* अरस्तू का न्याय इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि जो कुछ एक वर्ग या श्रेणी के विषय में सत्य है वह उस श्रेणी में अन्तर्भूत पदार्थों के विषय में भी सत्य है। भारतीय न्याय का इस' वर्गसमावेश' (class-inclusion) के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। अरस्तू के सिला-जिज़्म के Moods और Figures भी उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता हैं और अरस्तू के तर्कशास्त्र में Reduction का एक विशेष स्थान है। भारतीय न्याय में यह कुछ भी नहीं पाया जाता। यहां अनुमान वास्तव में एक ही प्रकार का माना गया। इसलिए उस पर अरस्तू का प्रभाव मानना नितान्त असंगत है।

† दे० इण्डियन लाजिक एंड एटामिज्म, पृ० १८

भांति जानते हैं कि जड़वादी चार्वाक अनुमान की प्रामाणिकता को नहीं मानता। अनुमान का आधार व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु इस अविनाभाव या व्याप्ति का बोध सम्भव नहीं है। 'कुछ' के अनुभव से 'सब' के ज्ञान की ओर संक्रमण नहीं किया जा सकता। कुछ स्थलों में धूम और अग्नि को साथ पाकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि 'जहां-जहां धूम होगा वहां-वहां अग्नि होगी'। अनुभव की सहायता से हमें केवल यह ज्ञान होता है कि एक विशिष्ट 'क' का सम्बन्ध एक विशिष्ट 'ख' से है—एक विशिष्ट धुंआ एक विशिष्ट अग्नि से सम्बद्ध है, यह नहीं कि समग्र धूम का समग्र अग्नि से सम्बन्ध है। इसका जो उत्तर बौद्ध तार्किकों ने दिया है वह वर्त्तमान आगमन शास्त्र के उत्तर से विशेष भिन्न नहीं है। बौद्धों का उत्तर निम्नलिखित है: —

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ॥*

बौद्ध के मत में व्याप्ति-सम्बन्ध अथवा अविनाभाव केवल उन पदार्थों में हो सकता है जिनमें या तो कार्यकारण भाव है, या तादात्म्य है। उदाहरण के लिए अग्नि धुंए का कारण है, इसलिए अग्नि और धूम में अविनाभाव-सम्बन्ध है। वृक्ष और शिंशपा (शीशम) में तादात्म्य-सम्बन्ध है। जहां शिंशपात्व है वहां-वहां वृक्षत्व है। यहां भी अविनाभाव है। बौद्धों के तादात्म्य-सम्बन्ध में अरस्तू के "डिक्टम" का तथ्य निहित है। उनका कार्य-कारण-भाव पर गौरव जान स्टुअर्ट मिल की आगमन की धारणा के अनुकूल है। आगमन से प्राप्त सामान्य सत्य प्रायः कार्य-कारण-भाव का वाहक होता है।

बौद्धों के विपरीत नैयायिक लोग अविनाभाव या व्याप्ति को 'तादात्म्य' या 'तदुत्पत्ति' तक सीमित नहीं करना चाहते। इन सम्बन्धों के अतिरिक्त भी अविनाभाव या व्याप्ति पाई जा सकती है। जिन दो वस्तुओं में सहचार देखा जाय और व्यभिचार (एक के बिना दूसरे का रहना)

---

* सर्वदर्शन संग्रह, बौद्ध दर्शन प्रकरण।

न देखा जाय, उनमें अविनाभाव मानना चाहिए। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार उपाधि-शून्य साहचर्य ही व्याप्ति है। 'तार्किक रक्षा' कहती है कि रस-रूप आदि में जहां तादात्म्य और तदुत्पत्ति-सम्बन्ध नहीं है, व्याप्ति संभव है।*

नियत साहचर्य जानने के लिए नैयायिक लोग अन्वय और व्यतिरेक की शरण लेते हैं। यदि 'क' की उपस्थिति में 'ख' की उपस्थिति पाई जाय और 'क' के अभाव में 'ख' का अभाव पाया जाय तो समझना चाहिए कि 'क' और 'ख' में अविनाभाव-सम्बन्ध है। जयन्त भट्ट के मत में व्याप्तिग्रह के लिए व्यतिरेक-निश्चय (एक की अनुपस्थिति में दूसरे की अनुपस्थिति का निश्चय) उतना ही आवश्यक है जितना कि उन वस्तुओं के अन्वय का निश्चय।† न्याय के अन्वय और व्यतिरेक मिल के Joint Method of Agreement and Difference से भिन्न नहीं हैं। यह आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष में इस Joint Method का आविष्कार मिल से शताब्दियों पहिले हो गया था।‡

बौद्धों के विरुद्ध नैयायिकों का कहना है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति-सम्बन्धों का निर्धारण भी अन्वय-व्यतिरेक पर ही निर्भर है। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक को ही व्याप्ति का निश्चायक मानना चाहिये। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि मिल ने Joint Method कार्य-कारण-भाव जानने के लिए उपयोगी बतलाया है किन्तु वास्तव में यह पद्धति कार्य-कारण-भाव का निश्चय नहीं करा सकती। वह केवल नियत साहचर्य की ओर इंगित करती है जो एक-काल-स्थायी पदार्थों में भी सम्भव है।

---

* हि० इ० ला० पृ० ३७६

† दे० सील, पाजिटिव साइन्सेज ऑफ द एन्शियएट हिन्दूज़ पृ० २७९—८०

‡ "अन्वय" और "व्यतिरेक" पद्धतियों से महाभाष्यकार पतञ्जलि तक परिचित हैं। (दे० वही, पृ० २९४)

'तत्व-चिन्तामणि' के लेखक गङ्गेश की सम्मति में व्याप्तिग्रह में अन्वय और व्यतिरेक के अतिरिक्त तर्क का भी प्रयोजन होता है। तर्क का प्रयोग तभी किया जाता है, जब व्याप्ति की सत्यता में सन्देह हो। धूम और अग्नि की व्याप्ति में सन्देह होने पर निम्न प्रकार से तर्क करना चाहिए:—

प्रश्न—क्या धुंआ अग्नि के बिना रह सकता है?

तर्क—यदि धुंआ अग्नि के बिना रह सकता, तो वह अग्नि का कार्य नहीं होता।

पुनः प्रश्न—क्या धुंआ अग्नि का कार्य है?

तर्क—यदि धुंआ अग्नि से उत्पन्न नहीं हुआ है और किसी दूसरी चीज़ (अवह्नि) से भी उत्पन्न नहीं हुआ है, तो उसे अकार्य होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है।

संशय—धुंआ या तो अग्नि से उत्पन्न हुआ होगा या कारणहीन होगा।

व्याघात या असंगति—यदि संदेहकर्त्ता का सन्देह वास्तविक है तो वह कर्म में प्रवृत्त कैसे होता है? धुंआ पाने के लिए अग्नि को क्यों खोजता है, अथवा भूख बुझाने के लिए भोजन का अन्वेषण क्यों करता है? उसकी प्रवृत्ति इस बात की द्योतक है कि वह कार्य-कारण-भाव में विश्वास रखता है। इसलिए धूम को अकार्य नहीं मानना चाहिए, इत्यादि।*

पाठक देख सकते हैं कि गङ्गेश का 'तर्क' जिससे व्याप्ति-विषयक सन्देह दूर किया जाता है, कार्य-कारण-भाव के अवलम्ब से मुक्त नहीं है। अन्त में गंगेश आदि का कहना है कि व्याप्ति-ज्ञान वस्तुतः धूमत्व-जाति और वह्नित्व जाति के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष पर निर्भर है। धूम और वह्नि के वास्तविक स्वरूप (सामान्य) का ज्ञान ही उनके सम्बन्ध को प्रत्यक्ष कर सकता है। धूमत्व और वह्नित्व का प्रत्यक्ष 'सामान्य-लक्षण-प्रत्यासत्ति' से होता है।

---

*—दे० हि० इ० ला०, पृ० ४२६

नैयायिकों और बौद्धों के झगड़े का मूल पूर्व विचारकों का यह सिद्धांत है कि अयुत सिद्धि* अथवा नित्य सम्बन्ध के लिए कार्य-कारण-भाव अपेक्षित नहीं है। वैशेषिक सूत्र (७-२-२६) के अनुसार कार्य-कारण में समवाय सम्बन्ध होता है, किन्तु बाद के विचारक, बहुकारणवाद की आलोचना करते हुए भी, इसे नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक साहित्य में प्रायः अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति एवं विशेष और नित्य द्रव्य में ही समवाय या नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। कुछ नैयायिक बहुकारणवाद (यह सिद्धान्त कि एक कार्य के समय-समय पर अनेक कारण हो सकते है; मृत्यु गोली लगने से भी हो सकती है, विष-पान से भी) का स्वीकार कर लेते हैं। उस दशा में कार्य-विशेष और उसके कारण में नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

युक्ति या तर्क

अनुमान से सम्बद्ध ही युक्ति या तर्क का विषय है। इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं; (१) युक्ति या तर्क का स्वरूप क्या है; और (२) तर्क की उपयोगिता कितनी है, वह कहां तक प्रामाणिक है। योरप में युक्ति या तर्क प्रायः अनुमानरूप माना गया है। अरस्तू का सिलाजिज़्म, Figures और Moods की विभिन्नता से, उन्नीस प्रामाणिक रूप धारण कर लेता है। तर्क का दूसरा आधार विरोध-नियम (Law of Non-Contradiction) रहा है। इसीका कुछ परिवर्त्तित भावात्मक रूप Law of Excluded Middle है। बौद्ध तर्क शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० शर्वात्स्की का कथन है कि 'जहां योरप के तर्क शास्त्र में चिन्तन के तीन मौलिक या व्यापक नियम माने गये हैं वहां भारतीय तर्कशास्त्र केवल एक

---

* प्रशस्तवाद के अनुसार अयुत सिद्ध पदार्थों में आधार-आधेय-भाव होता है, जैसे द्रव्य गुणों का आधार होता है। आधार और आधेय का सम्बन्ध ही "समवाय" है। कार्य-कारण-भाव के सम्बन्ध में बौद्धों के विचार नैयायिकों से आगे थे।

विरोध-नियम दर्शित करता है।'* किंतु यह सर्वथा ठीक नहीं है। यह सम्भव है कि भारतीय तर्क शास्त्र में Excluded Middle पर विशेष ज़ोर न दिया गया हो, किन्तु यहाँ के तार्किक उससे तथा Law of identity से अनभिज्ञ न थे। उदाहरण के लिए जयन्त भट्ट की न्याय मंजरी में लिखा है:—

तदुक्तं तत्परिच्छिनत्ति, अन्यद् व्यवच्छिनत्ति, तृतीयप्रकाराभावं च सूचयति।†

इस स्थल में योरपीय तर्कशास्त्र के तीनों चिन्तन-नियमों का उल्लेख है। इसी प्रकार 'सर्वदर्शन-संग्रह' में Law of Excluded Middle का निर्देश है—परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः, अर्थात् दो विरुद्धों के बीच में तीसरी स्थिति सम्भव नहीं है।‡

भारतीय तर्कशास्त्री प्रायः तर्क का समावेश प्रमाणों (अनुमान) में नहीं करते। वात्स्यायन के मत में तर्क न तो प्रमाणों में सन्निविष्ट है, न प्रमाणान्तर है, तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक या सहकारी होता है।§ वात्स्यायन ने तर्क को कारणता-विचार से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है,* किंतु बाद के नैयायिकों ने तर्क का अर्थ कुछ बदल डाला है। डा० चटर्जी के अनुसार तर्क में 'हम किसी वाक्य या प्रतिज्ञा के विरोधी वाक्य की कल्पना करके यह दिखा देते हैं कि किस प्रकार उस विरोधी कल्पना से असंगत निष्कर्ष निकलते हैं।' तर्क द्वारा अनुमान को पुष्ट किया जाता है, यह दर्शित करके कि विवादग्रस्त अनुमान को ग़लत मानना असम्भव निष्कर्ष

* दे० Buddhist Logic (1932), Vol. 1. पृ० ४१६

† दे० Positive Sciences, पृ० २४५

‡ सर्वदर्शन संग्रह (आनन्दाश्रम सं०), पृ० ७

§ तर्कों न प्रमाण-संगृहीतो, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्वज्ञानाय कल्पते-न्यायभाष्य (चौखम्बा सं० सी० भाष्यचन्द्र और खद्योत सहित) पृष्ठ ३२

* एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या ऊहः प्रवर्त्तते। वहीं।

पर पहुँचा देता है ।※ पंचपादिका के लेखक पद्मपाद की सम्मति में भी तर्क प्रमाणों से भिन्न उनका सहकारी होता है और उसके द्वारा प्रमाण के विषय की सम्भावना में जब शंका हो, तो उसका निराकरण किया जाता है ।※

किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र ने तर्क को अर्थापत्ति और अनुमानरूप कथित किया है ।* यह मत योरपीय तर्कशास्त्र के अधिक समीप है । मीमांसा और उत्तरकालीन वेदान्त अर्थापत्ति को भी एक प्रमाण मानते हैं, यद्यपि शङ्कराचार्य ऐसा मानते प्रतीत नहीं होते । अर्थापत्ति का लक्षण वेदान्त परिभाषा ने इस प्रकार किया है—उपपाद्य-ज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्तिः, अर्थात् उपपाद्य ज्ञान के आधार पर उप-पादक की कल्पना अर्थापत्ति कहाती है । यदि 'ख' के बिना 'क' उपपन्न नहीं होता तो 'क' को उपपाद्य और 'ख' को उपपादक कहा जायगा । दिन में न खाने वाले देवदत्त की स्थूलता के उपपादन के लिए यह कल्पना आवश्यक है कि वह रात को खाता है । यहां 'रात को खाना' उपपादक कहा जायगा । ‡ तर्क की एक दूसरी परिभाषा प्रसिद्ध है—'व्याप्य के आधार पर व्यापक का आरोप करना तर्क है' (व्याप्यारोपेण व्यापकारोप-स्तर्कः) । यह परिभाषा तर्क को अनुमानमूलक बना डालती है । अर्था-पत्ति में अनुमान-प्रक्रिया और विरोध-नियम दोनों का समावेश हो जाता है । कुमारिल की व्याख्या के अनुसार अर्थापत्ति का काम दो निश्चित ज्ञानों (देवदत्त मोटा है और देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता) के

※The Nyaya Theory of Knowledge, pp, 47, 48.

※क्व...तर्कस्योपयोगः ? विषयाऽसंभव शंकायां तथाऽनुभव फला-नुत्पत्तौ तत्संभव प्रदर्शनमुखेन फलप्रतिबन्धविगमे ।

पंचपालिका (विजया नगरम् सं०), पृ० ३६

*युक्तिश्चार्थापत्तिरनुमानं वा (ब्र० शां० भा० पर भामती पृ० ५१) तथा प्रमाणान्तरमप्यनुमानमर्थापत्तिर्वा (वही, पृ० ४८८)

‡वेदान्त परिभाषा, शिखामणि-मणिप्रभा सहित (बम्बई), पृ० ३०७-३०९

पारस्परिक विरोध को मिटाना है जो कि एक तीसरे ज्ञान की सहायता से होता है।* यह भी स्पष्ट है कि एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु का आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनों में व्याप्य-व्यापक-भाव या व्याप्ति-सम्बन्ध हो।

तर्क की आलोचना

हम कह आये हैं कि योरपीय दर्शन का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। फिर भी योरप में तर्क या बौद्धिक चिन्तन के विरुद्ध कभी कुछ न कहा गया हो, ऐसा नहीं है। मिश्र का निवासी प्लाटिनस नामक दार्शनिक बुद्धिवाद का विरोधी था। मध्य-युग के विचारक बौद्धिक चिन्तन को बाइबिल की शिक्षाओं से नीचा स्थान देते थे।। अनुभववादी लॉक भी बुद्धि को गौण स्थान देता है; उसके अनुसार सारा बौद्धिक ज्ञान अन्तिम विश्लेषण में इन्द्रिय-ज्ञान पर निर्भर है। जर्मन दार्शनिक हीगल के अनुसार मनुष्य की प्रत्येक बौद्धिक धारणा अपूर्ण है और काण्ट कहता है कि बुद्धि-द्वारा परमार्थ वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु तर्क या बौद्धिक चिन्तन पर सबसे प्रबल आक्रमण ब्रेडले ने किया है। ब्रेडले ने चिन्तन-प्रक्रिया की आलोचना में मुख्यतः दो बातें कहीं हैं। (१) ब्रेडले ने यह दिखाया है कि 'सम्बन्ध' की धारणा विरोधग्रस्त है। क्योंकि चिन्तन-प्रक्रिया सम्बन्धात्मक है—प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध-निर्देश रहता है, इसलिए बौद्धिक चिन्तन-द्वारा तत्त्व पदार्थ को नहीं पकड़ा जा सकता। (२) प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य (Subject) को विशेषित किया जाता है। किन्तु कोई भी विशेषण विशेष्य को उसकी पूर्णता में व्यक्त नहीं कर सकता; विशेष्य विशेषण से सदैव अधिक होता है। उदाहरण के लिए 'चीनी मीठी है' इस वाक्य में 'मीठी' विशेषण उद्देश्य अर्थात् चीनी का सम्पूर्ण रूप प्रकट नहीं करता, चीनी मीठी ही नहीं, कुछ और भी है। इसी प्रकार चीनी को सफेद, जगह घेरने वाली आदि कहना भी अपर्याप्त है। कोई उद्देश्य विधेय या विशेषणों में निःशेष

---

* दे० दासगुप्त, हिस्टरी, भाग १, पृ० ३८१-३६४

नहीं होना। इसलिए कोई वाक्य, जो कि चिन्तन की इकाई है, सम्पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता।*

फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां ने भी बौद्धिक चिन्तन का विरोध किया है। बौद्धिक चिन्तन केवल व्यवहारिक सत्य तक पहुँच सकता है, निरपेक्ष सत्य तक नहीं। बर्गसां के मत का विशेष विवरण हम आगे देंगे।

भारतीय विचारक प्राचीन काल से ही तर्क की अपर्याप्तता घोषित करते आये हैं। मुण्डकोपनिषद् कहता है—ब्रह्म न चक्षु से ग्रहण किया जा सकता है, न वाणी (तर्क आदि) से (मुण्डक, ३।१।८)। कठोपनिषद् स्पष्ट घोषित करता है कि आत्म-ज्ञान तर्क से नहीं हो सकता—नैषा तर्केण मतिरापनेया (२।६)। तथापि भारतीय दार्शनिक साहित्य में तर्क को अप्रमाण या कम प्रमाण कथन करने के लिए एक विचारक विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, अर्थात् वेदान्त सूत्रों के भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' सूत्र पर भाष्य करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तर्क विश्वसनीय या मान्य नहीं है।

भारतीय दर्शन के विद्यार्थी जानते हैं कि शङ्कराचार्य स्वयम् एक महान् तार्किक हैं। तर्क के बल पर उन्होंने भारत के प्रायः सभी दूसरे दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन किया है। फिर उन्होंने तर्क को अप्रतिष्ठित क्यों कहा है ? उनकी आलोचना का आधार कोई लम्बा-चौड़ा सम्वित्-शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। वे मनुष्यों की सहज बुद्धि का आश्रय लेकर ही तर्क की आलोचना करते हैं। वे कहते हैं—'यथार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में मतभेद असम्भव है। किन्तु यह प्रसिद्ध है कि तर्कज्ञान एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, जिसे एक तार्किक

---

* तु० की० 'All judgments are partially false since all judgments assert some relation. Bradley also argues that the subject and tne predicate of the judgment are never identical and that 'S is P' is never strictly true (Ewing, वही पृ० २२३)

सम्यग्ज्ञान प्रतिपादित करता है, उसका तार्किक खण्डन कर डालता है........क्योंकि तर्क का आधार उत्प्रेक्षा या कल्पना मात्र होती है, इसलिये तर्क अप्रतिष्ठित है।':(ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।१।११)।

कठिनाई में डालनेवाली बात यह है कि दूसरे स्थलों में शङ्कर ने तर्क की प्रशंसा भी की है। उन्हें प्रतिपक्षी की इस युक्ति की समीचीनता स्वीकार करनी पड़ी है कि तर्क का अप्रतिष्ठित होना भी तर्क से ही सिद्ध किया जा सकता है।❀ वह यह भी मानते हैं कि श्रुति का अर्थ-निर्णय करने में तर्क का उपयोग करना चाहिए।* 'उपदेशसाहस्री' में वे कहते हैं कि सांख्य, कणाद और बौद्धमत की कल्पनाएँ श्रुति और युक्ति के विरुद्ध हैं, अतएव त्याज्य हैं (१६।६४।६५)। अन्यत्र सांख्य की आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि कोई दार्शनिक पद्धति इसलिये ग्राह्य नहीं हो सकती कि वह हमें रुचती है, उपपत्ति (तर्क या प्रमाण) के बल पर ही कोई व्यवस्था स्वीकार की जा सकती है (२।३।५०)।† कठ-भाष्य में उन्होंने यहां तक कह डाला है कि सत् और असत् के स्वरूप-निर्णय में बुद्धि ही एक मात्र प्रमाण है (बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे, ६।१२)।

तर्क के बारे में शंकर की इन दो प्रकार की परस्पर विरोधी उक्तियों का क्या रहस्य है? हम ऊपर कह आये हैं कि तर्क को भारतीय विचारकों ने अनेक प्रकार से वर्णित किया है। एक अर्थ में तर्क अनुमान-मूलक है और उसका प्रमाणों में अन्तर्भाव हो सकता है। दूसरे अर्थ में तर्क का विषय सम्भावना-असम्भावना का निश्चय है। इस अर्थ में तर्क प्रमाणों से भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य के मस्तिष्क में समय-समय

❀ ब्र० शां० भा० २।१।११ *तस्माद् युक्तं वेदवाक्यनिर्णयाय विचारयितुम्—बृह० भा० ३।१।७

†न ह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्, उपपत्त्या तु कयाचिद् व्यवस्थोच्येत। ब्र० शां० भा० २।३।५०

पर तर्क की ये दोनों धारणाएँ उपस्थित हो जाती हैं, और इन दोनों का भेद उन्हें स्पष्ट न था। वास्तव में शङ्कराचार्य केवल उस तर्क को त्याज्य समझते हैं जो उत्प्रेक्षामूलक है, अथवा अनुभव पर आश्रित नहीं है। वह तर्क-मात्र के विरोधी नहीं हैं, और अनुमान-मूलक तर्क को त्याज्य नहीं समझते। यह निम्न अवतरणों से स्पष्ट हो जायगा।

(१) विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शङ्कर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे प्रमाणोंसे बहिर्भूत सम्भावना-असम्भावना विषयक आलोचनारूप तर्क के विरोधी हैं। विज्ञानवादी तर्क करता है कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है, **असम्भव** होने से। वे न परिमाणुरूप हो सकती हैं, न विपरीत। इसके उत्तर में शङ्कर कहते हैं—जिसकी प्रमाणों से उपलब्धि होती है उसी को सम्भव कहना चाहिए। बाह्य पदार्थ सब प्रमाणों से उपलब्ध होते हैं, उनकी व्यतिरेक-अव्यतिरेक आदि विकल्पों से असम्भावना (या असत्ता) सिद्ध नहीं की जा सकती। ❀

(२) अन्यत्र शङ्कर लिखते हैं कि 'श्रुति के अविरूद्ध तर्क **अनुभव का अंग होने के कारण** ग्राह्य है।'* एक जगह वे प्रतिपक्षी से कहलाते हैं कि 'युक्ति श्रुति से श्रेष्ठ है, क्योंकि वह श्रुति की अपेक्षा अनुभव के अधिक निकट होती है; युक्ति दृष्ट की समता से अदृष्ट का समर्थन करती है।'‡ अन्तिम अवतरण से यह स्पष्ट है कि शङ्कर युक्ति को अनुमान का पर्याय समझते हैं। भामतीकार की दी हुई युक्ति की परिभाषा हमारी इस व्याख्या की पुष्टि करती है। हम कह चुके हैं कि भारतीय विचारक अनुमान को प्रत्यक्ष या अनुभव-मूलक मानते हैं। विशेषतः शङ्कर का यही

❀यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनोपलभ्यते तत्संभवति....इह तु... सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथंव्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येत—ब्रह्मसूत्रभा० २।२।२८

*श्रुत्यनुगृहीतः.......तर्को ऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते। वही २।१।६

‡दृष्टसाम्येन चाऽदृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते विप्रकृष्यते तु श्रुतिः इत्यादि। वही २।१।४

मत है। उनके अनुसार अनुभव और अनुभव-मूलक तर्क ही ग्राह्य है। अनुभव-विरुद्ध तर्क त्याज्य समझना चाहिये।*

बर्गसाँ और बौद्ध-दर्शन

अब तक हमने तर्क-बुद्धि के सम्बन्ध में जिन मतों का उल्लेख किया वे ज्ञान-मीमांसा अथवा तर्कशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। अब हम बुद्धिवाद की उन आलोचनाओं का विवरण देंगे जिनका आधार तत्व-दर्शन अर्थात् वास्तविकता-सम्बन्धी मन्तव्य हैं। बर्गसां और बौद्ध-दर्शन दोनों में वास्तविकता अथवा तत्व पदार्थ को सतत परिवर्तन-शील एवं प्रवाहमय माना गया है। दोनों के मत में बुद्धि तात्विक जगत के असली स्वरूप को नहीं जान सकती। इतनी समानता के बावजूद दोनों की तर्क-सम्बन्धी समीक्षाओं में बहुत अन्तर है। हम इन समीक्षाओं का क्रमशः वर्णन करेंगे।

बुद्धिवाद की आलोचना; बर्गसाँ

बर्गसां के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है, एक बौद्धिक और दूसरा अपरोक्ष अनुभव-मूलक। अपरोक्ष-मूलक ज्ञान आन्तरिक ज्ञान है; उस ज्ञान में हम वस्तु को भीतर से जानते हैं— उसके अन्दर प्रवेश करके, उससे तदाकार होकर, उसका अनुभव करते हैं। इसके विपरीत बुद्धि का ज्ञान बाहरी ज्ञान है, उस ज्ञान में हम (ज्ञेय) वस्तु के चारों ओर घूमते हैं। बुद्धि कभी पदार्थों के आन्तरिक रहस्य को नहीं जान सकती। बुद्धि से पदार्थों का सापेक्ष ज्ञान होता है जब की अनुभव निरपेक्ष ज्ञान का उत्पादक है। बौद्धिक ज्ञान प्रतीकों (Symbols) की सहायता से प्राप्त होता है, उसमें वस्तु के सम्पर्क की उष्णता नहीं होती।

स्वयं अपने अस्तित्व या आत्मा को हम अपरोक्ष अनुभव द्वारा जानते हैं। हमारा अस्तित्व प्रतिक्षण परिवर्तन-शील है, हमारी मनोदशायें

---

*तु० की० प्रत्यक्ष विरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात्—बृह० भा० ४।३।६ न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधे प्रामाण्यं लभते। वही, २।१।२० पंचदशी कहती है, स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्।

निरन्तर बदलती रहती हैं। अपरोक्ष अनुभव हमें बतलाता है कि वास्तविकता सतत प्रवाहमयी, परिवर्तनमयी है।

इसके विपरीत हमारी बुद्धि बतलाती है कि विश्व में ठोस वस्तुएँ हैं जो कि अलग-अलग हैं। बुद्धि इस प्रकार का भ्रम क्यों उत्पन्न करती है? बात यह है कि हमारी बुद्धि वास्तव में क्रियाओं अथवा व्यवहारों का अस्त्र है। बुद्धि का मुख्य कार्य है हमें काम करने के लिये सक्षम बनाना। बुद्धि की सारी विशेषतायें उसके व्यावहारिक पक्षपात से अनुगत होती हैं।* काम करने का अर्थ है कुछ बनाना, सीमित वस्तुओं को पैदा करना। हमारे व्यापारों अथवा क्रियाओं की कहीं परिसमाप्ति होनी चाहिए और उनका दीखने योग्य फल निकलना चाहिए। यदि हम यह मान कर चलें कि वस्तुएं एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं, एक-दूसरे से अविच्छिन्न हैं, तो हम यह अनुभव कैसे कर सकेंगे कि एक विशेष वस्तु हमारे द्वारा बनाई जा रही है, अथवा एक विशेष सीमा तक हमारा काम चल रहा है या प्रगति कर रहा है?

बर्गसां का कथन है कि हमारी बुद्धि ठोस पिंडों में ही स्वभावतः रमती है; इसलिए वह गति अथवा परिवर्तन को समझने में असमर्थ है। वह जब गति को समझना चाहती है तो उसे भी छोटी-छोटी गतियों में विभक्त कर डालती है। विश्लेषण ही बुद्धि का विशिष्ट व्यापार है। बुद्धि समझती है कि किसी वस्तु को समझने का अर्थ उसे टुकड़े-टुकड़े कर डालना है; कोई भी वस्तु अपने अवयवों का समुदाय-मात्र है। अवयवों के अतिरिक्त अवयवी में कतिपय विशेषताएँ हो सकती हैं यह बात बुद्धि की समझ में नहीं आती।

बुद्धि धारणाओं (Concepts) अथवा सामान्य प्रत्ययों का आश्रय लेकर व्यापृत होती है। धारणायें एक-दूसरे से बाहर होती हैं जैसे कि देशगत वस्तुएं; भला वे गति अथवा परिवर्तन को अपनी

---

*दे० Creative Evolution (Macmillan), पृ० १६१ तथा आगे।

पकड़ में कैसे ला सकती हैं ? इसी प्रकार बुद्धि विकास-प्रक्रिया को भी नहीं समझ सकती। यह स्मरणीय बात है कि यूनानी तार्किक ज़ेनो (और भारतीय नागार्जुन) जैसे विचारक गति तथा परिवर्तन को विरोधग्रस्त चीज़ घोषित करते हैं।

संक्षेप में बुद्धि स्थिर एवं ठोस पदार्थों को ही जान सकती है; वह न गति को समझ सकती है न परिवर्तन को; न विकास एवं नवीनता के प्रादुर्भाव को। विश्लेषण करती हुई वह अवयवी में कोई ऐसी चीज़ नहीं पा सकती जो अवयवों में नहीं हैं। फलतः बुद्धि जीवन-शक्ति (प्राणात्मा Elan vital) के स्वरूप एवं सृजनशील विकास को कभी नहीं समझ सकती। और इसका मतलब यह है कि बुद्धि तत्व या वास्तविकता के समझने का अस्त्र नहीं हैं।

बुद्धिवाद की आलोचना; धर्मकीर्ति

ऊपर हमने संकेत किया कि सर्वतंत्र स्वतंत्र श्री वाचस्पति मिश्र ने तर्क को अर्थापत्ति एवं अनुमान-रूप कथित किया है। श्री शंकराचार्य अनुमान-मूलक तर्क को सदोष नहीं समझते। समझा जाता है कि बौद्ध दर्शन अनुमान को प्रमाण रूप में स्वीकार करता है। यह भी प्रसिद्ध है कि बौद्ध तर्कशास्त्री सामान्य नामक पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। क्योंकि अनुमान का विषय विशेष न होकर सामान्य है, इसलिये सामान्य को अस्वीकार करने का अर्थ स्वयं अनुमान प्रमाण का अस्वीकार होना चाहिये। हम देखेंगे कि बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति एक महत्वपूर्ण अर्थ में अनुमान प्रमाण की विश्वसनीयता में संदेह प्रकट करता है।

"प्रमाण वार्तिक" के दूसरे परिच्छेद में धर्मकीर्ति पहली कारिका में कहते हैं—प्रमाण दो प्रकार का है क्योंकि (ज्ञान का) विषय दो प्रकार का है। दो प्रकार का विषय क्रमशः स्वलक्षण (विशिष्ट वस्तुएँ) और सामान्य लक्षण हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा क्रमशः इन विषयों को जाना जाता है।

इन दो विषयों में स्वलक्षण में ही अर्थक्रिया अर्थात् कारण बन कर कुछ करने की शक्ति है ; सामान्य लक्षण में अर्थक्रियाकारिता का अभाव है।❀ बौद्धों के अनुसार वास्तविक अथवा यथार्थ उसी चीज को कहा जा सकता है जिसमें अर्थक्रियाकारिता है। इसका मतलब यह है कि स्वलक्षण अर्थात् विशिष्ट पदार्थ ही यथार्थ अथवा वास्तविक हैं, सामान्य पदार्थ कल्पना की सृष्टि मात्र हैं।*

जिसमें अर्थक्रियाकारिता है अर्थात् स्वलक्षण उसे परमार्थसत् कहते है, जिसमें अर्थक्रियाकारिता नहीं है, जिस की केवल काल्पनिक सत्ता है उसे संवृतिसत् कहते हैं। इसी प्रकार सत्य के भी दो भेद हैं। स्वलक्षण-विषयक ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान है, यथार्थ ज्ञान है ; और सामान्य-विषयक ज्ञान काल्पनिक अतएव अयथार्थ ज्ञान है।† किन्तु अयथार्थ ज्ञान होते हुए भी अनुमान की व्यावहारिक उपयोगिता है (अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता।)‡

धर्मकीर्ति के अनुसार कार्य-कारणभाव का ज्ञान स्वलक्षणों के क्रम का ज्ञान मात्र है।§ अतएव कार्य-कारणभाव की धारणा संवृति सत्य है, परमार्थ सत्य नहीं। धर्मकीर्ति का यह मन्तव्य ह्यूम के कार्य कारण-सम्बन्धी मत से समानता रखता है। इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त के अनुसार भौतिक विज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान परमार्थ ज्ञान नहीं है।

धर्मकीर्ति का यह भी कहना है कि शब्द अथवा भाषा का विषय सामान्य होता है ; स्वलक्षण नहीं। मीमांसा के अनुसार भी गो आदि

❀—मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः, अर्थक्रियायाम्।

*—विजातीय व्यावृत्त्युपकल्पितं सामान्यम् (मनोरथनन्दी)

†—अर्थक्रिया समर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत्।
अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्य लक्षणे। २।३।

‡—२।५६ तथा २।५७।

§ – क्रमग्रहणमेव कार्यकारणभावग्रहणम् (२।४ पर मनोरथनन्दी)

शब्दों का वाच्य गोत्व आदि जाति-तत्त्व होता है, व्यक्ति नहीं। धर्मकीर्ति के दर्शन में इस मन्तव्य से यह क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकलता है कि वास्तविकता अथवा परमार्थसत् वाणी का विषय नहीं है। *

आलोचनात्मक टिप्पणी

अनुमान तथा तर्क के सम्बन्ध में धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध विचारकों तथा बर्गसां के विचार बड़े असाधारण एवं क्रान्तिकारी हैं। दोनों की तत्वदर्शन-सम्बन्धी मान्यताओं में इतनी समानता नहीं है जितनी कि उनके तर्कशास्त्रीय निष्कर्षों में। आगे हम बर्गसां के प्रातिभज्ञान अथवा अपरोक्ष अनुभूति-सम्बन्धी विचारों को पढ़ेंगे। बर्गसां, धर्मकीर्ति और वेदान्त के अनुसार भी सत्य दो प्रकार का है, पारमार्थिक और व्यावहारिक ; ज्ञान की विषयभूत सत्ताएँ भी दो प्रकार की हैं।

यदि बौद्धिक चिन्तन (अनुमान और तर्क) ज्ञान का उपयुक्त साधन नहीं हैं तो हमें ज्ञान-प्राप्ति के दूसरे साधनों की खोज करनी चाहिये। हीगल और ब्रेडले दोनों ने बौद्धिक धारणाओं की समीक्षा की है किन्तु दोनों ही ने अपने चिन्तन में तर्क-बुद्धि का स्वच्छन्द उपयोग किया है। ये दोनों विचारक आदि से अन्त तक बुद्धिवादी हैं—वे बौद्धिक चिन्तन का अतिक्रमण नहीं कर सके। बौद्ध विचारक भी बुद्धिवादी हैं। इसके विपरीत शंकराचार्य और बर्गसां ने केवल तर्क की आलोचना से संतुष्ट न होकर यह बताने की चेष्टा की है कि तर्क को छोड़ देने पर तत्व-ज्ञान का दूसरा कौन-सा साधन रह जाता है। शंकर के अनुयायी वेदान्तियों तथा कुछ दूसरे भारतीय विचारकों के अनुसार भी तत्व-ज्ञान का सर्वप्रधान साधन अनुभव है। अनुभव में बाह्य प्रत्यक्ष और आन्तरिक प्रत्यक्ष दोनो सम्मिलित हैं। बर्गसां के मत में दार्शनिक ज्ञान का साधन प्रातिभ ज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति (Intuition) है।

*** — शब्दस्य विषयः सामान्यमविषयः स्वलक्षणम् । और, अवस्तु विषयैव शाब्दी बुद्धिः । (२।२ तथा २।३८ पर मनोरथनंदी)**

प्रत्यक्ष प्रमाण (अपरोक्ष)

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन का सर्वमान्य प्रमाण प्रत्यक्ष है। जो दर्शन अनुमान को प्रमाण मानते हैं उनके अनुसार भी प्रत्यक्ष या अनुभव प्रधान प्रमाण है क्यों कि स्वयं अनुमान भी प्रत्यक्ष पर निर्भर है। इसीलिये प्रमाणों में प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ कहते हैं। योरपीय दर्शन में हेराक्लाइटस, पार्मिनिडीज़ तथा डेकार्ट स्पिनोज़ा आदि बुद्धिवादियों ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की विश्वसनीयता में संदेह प्रकट किया, किन्तु भारतवर्ष में ऐसा दुस्साहस किसी ने नहीं किया।* प्रत्यक्ष को प्रमाण माने बिना हम अपने जीवन को कैसे चला सकते हैं ?

भारतीय दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष पर बड़े मनोयोग से विचार किया है। यहां प्रत्यक्ष की वे सब आलोचनाएँ नहीं दी जा सकतीं जो विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा की गई हैं। इस प्रसंग में पाठकों को यह अवश्य याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष बाह्य पदार्थों तक ही सीमित नहीं है। न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष का लक्षण 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' किया गया है। किन्तु बाद के नैयायिकों ने इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया। ईश्वर के इन्द्रियां नहीं है, तो क्या यह कहा जायगा कि ईश्वर को विश्व का प्रत्यक्ष नहीं होता ? इसी प्रकार न्याय-सूत्र की परिभाषा योगियों के प्रत्यक्ष पर लागू नहीं होती। अभिप्राय यही है कि साक्षात् अनुभव इन्द्रिय-ज्ञान के बाहर भी होता है। इसलिए प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा की गई है, अर्थात् वह ज्ञान जो किसी दूसरे ज्ञान की सहायता से उत्पन्न या प्राप्त नहीं हुआ (ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्)। अनुमति अथवा अनु-

*—अधिक गहरे अर्थ में वेदान्त प्रत्यक्ष को भी प्रमाण नहीं मानता, सब प्रमाणों की भाँति प्रत्यक्ष का विषय भी अविद्या-सृष्टि है, (अविद्यावद विषयाणि प्रमाणानि-शंकर)। किन्तु "अपरोक्षानुभूति" (व्यापक अर्थ में प्रत्यक्ष, आन्तरिक प्रत्यक्ष) वेदान्त को ग्राह्य है।

मान-जन्य ज्ञान व्याप्ति-ज्ञान की मध्यस्थता से होता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। 'प्रत्यक्ष' का वाच्यार्थ है कि वह जो आंखों या इन्द्रियों के सामने है। प्रत्यक्ष शब्द के इस अनुषङ्ग (Association) से बचने के लिए वेदान्ती लोग 'अपरोक्ष' शब्द का प्रयोग करना पसन्द करते हैं।

प्रत्यक्ष या अपरोक्ष-ज्ञान का स्वरूप समझने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास सांख्य और वेदान्त दर्शनों ने किया है। उनके प्रत्यक्ष-सम्बन्धी विश्लेषण का ठीक-ठीक महत्त्व आंकने के लिए हम उसकी तुलना फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां के अनुभववाद से करेंगे।

बर्गसां के अनुसार बुद्धि और प्रतिभान या अनुभव (Intuition) ज्ञान प्राप्त करने के दो नितान्त भिन्न साधन हैं। बौद्धिक ज्ञान में हम ज्ञेय-पदार्थ के चारों ओर घूमते हैं; अनुभव में हम पदार्थ में प्रवेश कर जाते हैं।* बौद्धिक ज्ञान सापेक्ष और प्रतीकरूप (Relative and Symbolic) होता है; प्रतिभान-जन्य ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है। अन्यत्र बर्गसां कहता है कि अनुभव 'एक प्रकार की मानस-सहानुभूति (Intellectual Sympathy) है जिसके द्वारा हम अपने को पदार्थ के भीतर रख लेते हैं और उसकी अनिर्वाच्य वैयक्तिकता से तादाम्य स्थापित कर लेते हैं।'** किन्तु बर्गसां यह नहीं बतलाता कि पदार्थों से तादाम्य **कैसे** स्थापित किया जा सकता है। वह केवल यह कहता है कि कम-से-कम एक वास्तविकता ऐसी है जिसका हमें साक्षात् ज्ञान होता है; यह वास्तविकता हमारी आत्मा है। अपने भीतर झांक कर हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि हमारी आन्तरिक वास्तविकता अर्थात् आत्मा निरन्तर परिवर्तनरूप या प्रवाहमयी है।

बर्गसां की प्रत्यक्ष या प्रतिभान की परिभाषा में तादाम्य (Coincide) शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रातिभ ज्ञान (Intuition) का अर्थ

* दे० Introduction to mataphysics, पृ० १

**वही, पृ० ८

है किसी पदार्थ को तादात्म्य द्वारा जानना। सर राधाकृष्णन् भी प्रातिभ ज्ञान का यही लक्षण कहते हैं। वेदान्त का भी यही मत है।❋ किन्तु बर्गसां यह नहीं बतलाता कि आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के ज्ञान में प्रतिभान का किस प्रकार उपयोग हो सकता है। बाह्य पदार्थों के ज्ञान में भी प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद रहता है; बर्गसां इसकी कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता।

प्रत्यक्ष की इस समस्या को समझ लेने पर पाठक वेदान्त के 'अपरोक्ष'-सम्बन्धी सिद्धान्त का महत्त्व अधिक ठीक से हृदयंगम कर सकेंगे। वेदान्त की तत्त्व-मीमांसा के अनुसार ब्रह्म, आत्मा या चैतन्य स्वयं अपने स्वरूप में कर्त्ता या भोक्ता नहीं है। अपने यथार्थरूप में आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। सांख्य का पुरुष भी वेदान्त की आत्मा की भांति असंग है। इन दोनों दर्शनों के अनुसार आत्मा अन्तःकरण की उपाधि से कर्त्ता और भोक्ता बन जाता है; अन्तःकरण से उपहित या अवच्छिन्न आत्मा ही कर्त्ता या प्रमाता है। वेदान्त में शुद्ध चैतन्य को साक्षी और उपाधियुक्त चैतन्य को जीव कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण, जो साक्षी या शुद्ध चैतन्य की ज्योति से प्रकाशित होता है, दृश्यमान पदार्थ-या विषय का रूप धारण कर लेता है। रूप, रस आदि के प्रत्यक्ष में अन्तःकरण तद्रूप बन जाता है।* अन्तःकरण के इस रूप को वृत्ति कहते हैं और चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति "वृत्ति-ज्ञान" कहलाती है। क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय अर्थात् दृश्यमान पदार्थ प्रमाता का अंशभूत बन जाता है। वेदान्त परिभाषा कहती है—'घटादि विषय का प्रत्यक्ष उसका प्रमाता से अभिन्न होता है।'†

❋An Idealist View of Life, पृ० १३८

*तु० की० रूपाकारेण हि हृदयं परिणतम्—बृह० शां० भा० ३।८।२०

† घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षन्तु प्रमात्रभिन्नत्वम्

—वेदान्त परिभाषा, पृ० ७४

इस प्रकार बर्गसां और वेदान्त के सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण समानता है। वेदान्त के विश्लेषण की विशेषता इस में है कि वह आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों अर्थात् बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष की भी व्याख्या कर सकता है। पाठक यह भी देख सकते हैं कि प्रत्यक्ष की यह परिभाषा न्याय आदि की परिभाषा से अधिक तलस्पर्शिनी है। न्याय की परिभाषा की तुलना में हम बर्गसां और वेदान्त की परिभाषा को 'स्वरूप लक्षण' कह सकते हैं, जब कि न्याय का लक्षण बाह्य या तटस्थ लक्षण-सा है।

किन्तु वेदान्त का विश्लेषण यहीं समाप्त नहीं हो जाता। 'वेदान्त परिभाषा' के उद्धरण में यह कहा गया है कि **विषय** का प्रत्यक्ष प्रमाता से अभिन्न होना है। यहां प्रश्न उठ सकता है कि स्वयं प्रत्यक्ष क्या है? प्रत्यक्षता का क्या अर्थ है? वेदान्त परिभाषा का उत्तर है कि प्रत्यक्षता या प्रत्यक्ष प्रमा वास्तव में चैतन्य का ही दूसरा नाम है†। प्रत्यक्ष ज्ञान या अपरोक्ष अनुभव का वास्तविक अभिप्राय है चेतना या चैतन्य। वेदान्त के मत में स्वयं आत्मा ही ज्ञान या प्रत्यक्षता रूप है। 'मणिप्रभा' कहती है—ज्ञाननिष्ठज्ञानत्वमेव प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञाननिष्ठ प्रत्यक्षत्वव्यवहार-प्रयोजकं ज्ञाननिष्ठप्रत्यक्षत्व प्रयोजकं चेत्यर्थः, अर्थात् ज्ञान का जो ज्ञानत्व है वही प्रत्यक्ष का लक्षण है—ज्ञान और प्रत्यक्षता एक ही बात है, उसी के कारण ज्ञान में प्रत्यक्षता का व्यवहार होता है; ज्ञान में प्रत्यक्षता की उपस्थिति का भी वही (ज्ञानत्व) कारण है। *ज्ञान का अर्थ है अनुभूति या चेतना, यही प्रत्यक्ष का भी अर्थ है।

श्रुति कहती है—यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, अर्थात् ब्रह्म या आत्मा साक्षात् या अपरोक्षरूप है। 'कल्पतरुपरिमल' के अनुसार अभिव्यक्त चैतन्य से अभिन्नता ही पदार्थ-विशेष की अपरोक्षता है‡।

† प्रत्यक्षप्रमा त्वत्र चैतन्यमेव—वही पृ० ४१

—*वही, पृ० ४२

‡ अभिव्यक्त चैतन्याऽभिन्नत्वमर्थस्याऽपरोक्ष्यम्

—ब्रह्मसूत्र शां० भा० (भामती-कल्पतरु-परिमल सहित, बम्बई) पृ० ५५

स्वयं ब्रह्म नित्य अभिव्यक्त जीव-चैतन्य से अभिन्न है, इसलिए वह सदैव अपरोक्ष ही है। स्वतःअपरोक्ष ब्रह्म की परोक्षता का अभाव भ्रम या अज्ञान के कारण है। वेदान्त मत में अन्तःकरण सीधे साक्षी के ज्ञान का विषय होता, जब कि पदार्थों का प्रत्यक्ष अन्तःकरण की वृत्तियों के माध्यम से होता है। इन्द्रियों का काम अन्तःकरण और दृश्य विषय को सम्बद्ध कर देना है।

ज्ञान का स्वरूप

वेदान्त का प्रत्यक्ष-सम्बन्धी मत उसकी ज्ञान-स्वरूप-मीमांसा से गहरा सम्बन्ध रखता है। ज्ञान किसे कहते हैं? हमने ऊपर कहा है कि वेदान्त के अनुसार आत्मतत्त्व या आत्मचैतन्य ही ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ है चेतना (Consciousness); और चेतना या चैतन्य ही आत्मा है। किन्तु आत्मा तो निरंजन, निर्विकार है; फिर यह कहने का क्या अर्थ होगा कि अमुक में अमुक वस्तु-सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न हुआ? इसका उत्तर यह है कि मुख्य अर्थ में तो आत्मा ही ज्ञान है, किन्तु गौण अर्थ में आत्म-ज्योति से प्रकाशित अन्तःकरण की वृत्तियों को ज्ञान कहते हैं†। आत्मतत्व अनादि और अविकार है, किन्तु वृत्तिज्ञान सादि अतएव सविकार है। वृत्ति-ज्ञान में क्या होता है? भामती का उत्तर है कि अर्थ या विषय का प्रकाश अथवा अभिव्यक्ति ही ज्ञान या अनुभव है।*

यहां पाठक एक बात नोट करें। वेदान्त-कृत ज्ञान का विश्लेषण मुख्यतः प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव का विश्लेषण है। वास्तव में वेदान्त परिभाषा का यह कथन कि 'प्रत्यक्ष प्रमा का अर्थ चैतन्य या आत्मा है', सर्वथा ठीक नहीं। चैतन्य रूप प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमा या अप्रमा नहीं कहा जा सकता; वह मात्र अपरोक्षानुभूति है। इस भूल का सुधार करने के लिए ही शायद परिभाषाकार को जोड़ना पड़ा है—

---

† तु० की० वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्—विवरणे।

* योऽयमर्थप्रकाशः फलम्—ब्र० शां० भा० भामती, पृ० १६

चैतन्यरूपमेव ज्ञानमबाधितघटादिवृत्त्यवच्छिन्नं घटादि प्रमेत्युच्यते,❀ अर्थात् चैतन्यरूप ज्ञान या चित् शक्ति ही **अबाधित** घट आदि की वृत्ति से अवच्छिन्न होकर घटादिविषयक प्रमा कहलाती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में वेदान्त की अभिरुचि भारतीय चिन्ता की प्रकृति के अनुकूल ही है। हम ऊपर कह चुके हैं कि योरपीय दर्शन में प्रत्यक्ष पर बहुत कम विचार हुआ है। भारत और योरप के इस रुचिभेद का एक विचित्र परिणाम दिखाई देता है। इसका कुछ संकेत हम ऊपर के पैराग्राफ में कर चुके हैं। ज्ञान के **स्वरूप** पर विचार करते समय भारतीय विचारकों की दृष्टि प्रधानरूप से प्रत्यक्ष ज्ञान पर रहती है; इसके विपरीत योरपीय विचारकों का ध्यान मुख्यतः **बौद्धिक** ज्ञान पर जमा रहता है। फल यह है कि जहां वेदान्त ज्ञानत्व और प्रत्यक्षत्व को एक घोषित करता है, वहां योरपीय विचारक प्रायः ज्ञान को प्रत्ययात्मक या धारणात्मक बतलाते हैं।

दूसरा भेद यह है कि योरपीय दार्शनिकों की दृष्टि में ज्ञान की सम्भावना-विषयक प्रश्न इतना अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है, कि वे ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते-करते उसकी सम्भावना पर विचार करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह बातें सुकरात, प्लेटो, डेकार्ट, स्पिनोज़ा और काण्ट तथा हीगल के सम्बन्ध में ही नहीं, अनुभववादी लॉक के सम्बन्ध में भी ठीक हैं। अपने पूर्ववर्ती डेकार्ट और परवर्ती काण्ट की भांति लॉक का प्रधान उद्देश्य भी मानव-बुद्धि (Human Understanding) की शक्ति और सीमा निर्धारित करना था;* ज्ञान का स्वरूप-निर्णय उसका प्रधान लक्ष्य न था। अपने "Essay on Human Understanding" ग्रन्थ में लॉक ने मुख्यतः दो बातें बतलाई हैं, एक यह कि हमारे सब प्रत्ययों या विचारों (Ideas) का स्रोत इन्द्रिय-ज्ञान है, और दूसरी यह कि किस प्रकार सरल प्रत्ययों के सम्मिश्रण से जटिल

❀ वही, पृ० ४१

* दे० अर्डमान, हिस्टरी, भाग २, पृ० १०५

प्रत्ययों का आविर्भाव होता है। अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रभाव के कारण लॉक को भी प्रत्ययात्मक (Conceptual) ज्ञान पर ही अधिक लिखना पड़ा है। भारतीय दर्शनों की भांति प्रत्यक्ष का स्वरूप समझने की प्रवृत्ति लॉक में नहीं पाई जाती। लॉक के अनुसार प्रत्ययों का ज्ञान ही प्रत्यक्ष या अनुभवरूप है। प्रत्यक्ष के विश्लेषण में उल्लेखनीय प्रयत्न बर्गसां आदि अति आधुनिक विचारकों ने ही किया है।*

योरपीय ज्ञानमीमांसा में काण्ट की "क्रिटीक आफ प्योर रीज़न" का एक विशेष स्थान है। काण्ट के इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी प्रधानतः प्रत्ययात्मक ज्ञान का ही विश्लेषण है। प्रारम्भ में काण्ट निम्नलिखित समस्या को लेकर चलता है—गणित और विज्ञान में सार्वभौम और आवश्यक या निश्चित (Universal and Necessary) कथन या प्रतिज्ञाएँ (Judgments) किस प्रकार सम्भव हैं? जैसा कि प्रो० यूइंग ने लिखा है, काण्ट का उद्देश्य भौतिक शास्त्र का दार्शनिक मण्डन करना या विज्ञान के लिए दार्शनिक आधार प्रस्तुत करना था।† संक्षेप में, काण्ट की ज्ञान मीमांसा का सारांश या निष्कर्ष इस प्रकार है: मनुष्य में ज्ञान की दो शक्तियां (Faculties) हैं अर्थात् इन्द्रियां और बुद्धि। इन्द्रियशक्ति (Sensibility) का काम तरह-तरह के असम्बद्ध (Unconnected) सम्वेदनों को उपस्थित करना है और बुद्धि का काम इस सम्वेदन-राशि (Sense-manifold) में विभिन्न सम्बन्ध स्थापित करना है। यदि सम्वेदन-राशि में बुद्धि सम्बन्ध-स्थापन

* इस प्रसंग में आस्ट्रिया के मेनांग (Meinong), नव्य तथा समीक्षात्मक यथार्थवादी (New and Critical Realists) विचारकों जार्ज सेण्टायना, सी० डी० ब्राड आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

† '...to justify science philosophically' और 'to provide a philosophical basis for physical science'—A Short commentary on Kant's Critique of Pure Reason, पृ० ६६, ६

न करे तो हमें वस्तुओं (Objects) का अनुभव न हो सके। हमारी प्रज्ञा या बुद्धि (Understanding) सम्वेदन-राशि को सार्वभौम और अनुभव-निरपेक्ष (a priori) अर्थात् विषय-जगत् से न आये हुए सम्बन्ध-सूत्रों में बांधकर असम्बद्ध सम्वेदनों को वस्तुओं का स्वरूप दे देती है। काण्ट के अनुसार अनुभव के एक तत्त्व अर्थात् सम्वेदन-समूह का कारण वस्तु जगत् अथवा द्रष्टा से बाहर तत्त्व पदार्थ हैं, तथा दूसरे तत्त्व अर्थात् सम्बन्धों का स्रोत हमारी बुद्धि (व्यक्ति-विशेष की नहीं, मानवता की बुद्धि) है। यही कारण है कि अनुभव जगत् के कार्य-कारण-भाव आदि सम्बन्ध सार्वभौम और आवश्यक प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि एक ही पदार्थ सब के अनुभव का विषय बन जाता है और इसीलिए भौतिक शास्त्र आदि में आवश्यक और सार्वभौम कथन या प्रतिज्ञाएँ सम्भव हैं। काण्ट का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि **विषयता** (Objectivity) और **सार्वभौमता** (Universality) एक ही वस्तु हैं।* बुद्धि की जो धारणाएँ विषयता की प्रतीति सम्भव बनाती हैं, वे ही सम्बन्धों की सार्वभौमता की भी गारण्टी देती हैं। सम्वेदन-समूह में बुद्धि द्वारा स्थापित सम्बन्ध सार्वभौम सम्बन्ध हैं, इन सम्बन्धों के बिना विषयता अर्थात् विषयभूत पदार्थों का अनुभव सम्भव नहीं है। मनुष्य केवल उन्हीं वस्तुओं का अनुभव कर सकता है जिनके निर्माण में उसकी बुद्धि का हाथ है। और क्योंकि हमारी बुद्धि बाह्य जगत् के निर्माण का हेतु है इसलिए हम गणित और विज्ञान में बाह्य जगत् के सम्बन्ध में सार्वभौम और आवश्यक सत्यों का अन्वेषण कर सकते हैं। अन्यथा हम बाह्य जगत् की किसी घटना के बारे में यह नहीं कह पाते कि उसे

---

* तु० की०, 'Objectivity and universality are equivalents of each other'

Edward Caird, Hegel, पृ० ११६

आवश्यक रूप से ऐसा ही होना चाहिए; न हम प्राकृतिक घटनाओं के विषय में भविष्यवाणी ही कर सकते ।

काण्ट की ज्ञान-मीमांसा के इस दिग्दर्शन से यह स्पष्ट है कि काण्ट के विश्लेषण का विषय **प्रत्ययात्मक या बौद्धिकज्ञान** है, वह ज्ञान जिसमें पदार्थ या पदार्थों की एकता, कार्य-कारण-भाव आदि का आभास रहता है। केवल सम्वेदन-राशि का अनुभव भी अनुभव है, और उस अनुभव का विश्लेषण भी प्रयोजनीय हो सकता है, काण्ट इसे महसूस नहीं करता। दिङ्नाग ने जिसे 'कल्पनाऽपोढ़' प्रत्यक्ष कहा है, उसके विश्लेषण में योरपीय विचारकों का विशेष मन नहीं लगता। अपरोक्षानुभूति का निरूपण उन्हें कम पसन्द है। वस्तुतः यह निरूपण, जैसा कि हम वेदान्त में देख चुके हैं, सम्वित्-शास्त्र की सीमा के बाहर जाकर ज्ञान या अनुभूति नामक वास्तविकता की तत्त्व मीमांसा (Ontological Analysis) का रूप धारण कर लेता है। अनुभव की घटना में विश्व की कौन-कौन शक्तियां सक्रिय होती हैं, वेदान्त की ज्ञानमीमांसा अन्त में इस प्रश्न पर विचार करने लगती है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में दर्शन-शास्त्र को नितान्त भिन्न तत्त्वमीमांसा आदि शाखाओं या श्रेणियों में विभाजित करना कृत्रिम ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के विश्लेषण को तात्त्विक मान्यताओं (Ontological presuppositions) से अलग नहीं किया जा सकता।

प्रमा और प्रामाण्य

न्याय, वेदान्त और प्लेटो—ज्ञान की सम्भावना, साधनों एवं स्वरूप के अतिरिक्त सम्वित्-शास्त्र में कुछ अन्य समस्याओं पर भी विचार होता है। प्रमा या यथार्थ ज्ञान क्या है, इस प्रश्न पर पूर्व और पश्चिम दोनो जगह के दार्शनिकों ने प्रकाश डालने की चेष्टा की है, किन्तु प्रामाण्य की समस्या पर विशेषतः भारतीय दर्शन में ही विचार हुआ है। भारतीय दर्शन में प्रमा या यथार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में सब से

प्रसिद्ध परिभाषा नैयायिकोंकी है। न्याय के अनुसार वस्तु-सम्वादी ज्ञान को प्रमा कहते हैं। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही जानना यथार्थ ज्ञान है*। योरपीय दर्शन में इस सिद्धान्त को Correspondence Theory कहते हैं। किन्तु वेदान्त के अनुसार तात्त्विक पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। तात्त्विक पदार्थ वह है जिसके अनुभव का कभी बाध नहीं होता, जो अबाधित अनुभव का विषय है। शुक्ति में दीखने वाली रजत का बाद के अनुभव से बाध हो जाता है, इसलिये रजत-विषयक ज्ञान मिथ्या ज्ञान या भ्रम है। प्रमा उसी अनुभव या ज्ञान को कहा जायगा जिसके विषय का कभी दूसरे अनुभव द्वारा अपलाप या बाध नहीं होता। वेदान्त के अनुसार तात्त्विकता के दर्जे (Degrees) हैं, कुछ वस्तुएँ कम तात्त्विक हैं और कुछ अधिक। स्वप्न के पदार्थों और भ्रम में दीखनेवाले पदार्थों (जैसे शुक्ति-रजत और रज्जु-सर्प) की अपेक्षा जाग्रत दशा में अनुभूत होने वाले पदार्थ, जो देश-काल के नियमों का पालन करते हैं, जो कार्य-कारण भाव से बँधे हैं, अधिक तात्त्विक हैं, जब कि पूर्ण रूप से तात्त्विक केवल ब्रह्म या आत्मा है। वेदान्त तीन प्रकार की सत्ताएँ मानता है अर्थात् प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक। स्वप्न और भ्रम में दीखने वाले पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता है; प्रतीति ही उनका अस्तित्व है। प्रतीति के बाहर वे हैं ही नहीं। देश-काल में फैले हुए बाह्य जगत की व्यावहारिक सत्ता हमारे सारे व्यापारों का आधार है। किन्तु वेदान्त का मत है कि व्यवहार जगत भी पूर्णतया तात्त्विक नहीं है। जिस प्रकार जागने पर स्वप्न के पदार्थों का बाध हो जाता है और शुक्ति तथा रज्जु का ज्ञान होने पर शुक्ति-रजत एवं रज्जु-सर्प नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा आत्म-दर्शन होने पर इस दृश्यमान व्यावहारिक जगत का भी बाध हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म या

* तद्वति तत्प्रकारको ऽनुभवोयथार्थः (तर्क संग्रह)

आत्मा ही तात्त्विक है और केवल आत्मज्ञान ही यथार्थ-ज्ञान या प्रमा है। किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार होने से पहिले शुक्ति को रजत एवं रज्जु को सर्प समझना भ्रान्तज्ञान या अप्रमा है और उन्हें शुक्ति और रज्जु जानना यथार्थ ज्ञान या प्रमा है।

वेदान्त का उपर्युक्त मत प्लेटो के मत से मिलता-जुलता है। अबाधित पदार्थ किसे कहना चाहिए? अन्तिम विश्लेषण में वेदान्त के अनुसार अबाधित अथवा तात्त्विक पदार्थ वह है जिस का कभी नाश नहीं होता। एक मात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है, ब्रह्म के अतिरिक्त सारे पदार्थ नाशवान हैं। ब्रह्म का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। प्लेटो भी लगभग यही कहता है। उस के जातिप्रत्यय स्थिर और अविनश्वर हैं। प्लेटो और वेदान्त दोनों के अनुसार जो परिवर्तनशील है वह अध्रुव या विनाशी है। प्लेटो की सम्मति में यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव है जब विश्व में कुछ स्थिर और अविनाशी पदार्थ पाये जायँ। यथार्थ ज्ञान की सम्भावना के लिए जातिप्रत्ययों के जगत की कल्पना आवश्यक है। "रिपब्लिक" में प्लेटो कहता है कि दार्शनिक का काम रात-दिन जातिप्रत्ययों के चिन्तन में लगे रहना है। प्लेटो ने यह भी कल्पना की थी कि विविध जाति-प्रत्यय एक श्रेयस्-प्रत्यय में ऐक्य लाभ करते हैं। वस्तुतः प्लेटो के दर्शन में श्रेयस्-प्रत्यय का वही स्थान है जो वेदान्त में ब्रह्म का और श्रेयस्-प्रत्यय तथा ब्रह्म का ज्ञान ही प्लेटो और वेदान्त के अनुसार यथार्थ ज्ञान है।

संगतिवाद—आधुनिक योरपीय दर्शन में प्लेटो के प्रमा-सम्बन्धी मत को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। हीगल के अध्यात्मवाद ने सत्यज्ञान या प्रमा के सम्बन्ध में एक नूतन मन्तव्य को जन्म दिया, जिसे सङ्गतिवाद (Coherence Theory) कहते हैं। इस वाद के अनुसार उस ज्ञान या ज्ञान-व्यञ्जक वाक्य को सत्य कहना चाहिए जो एक समष्टि (System) का अङ्ग बन सकता है। व्यक्तिगत रूप में किसी वाक्य को सत्य नहीं कहा जा

सकता।❀ ब्रैडले कहता है कि प्रत्येक वाक्य (Judgment) अंशतः सत्य होता है और अंशतः मिथ्या। पूर्ण सत्य किसी एक वाक्य या अनुभव में नहीं पाया जा सकता। पूर्ण सत्य की वाहक केवल वह वाक्य-समष्टि (System of Judgments) हो सकती है जो अपनी शब्दात्मक परिधि में अशेष विश्व को अपना विषय बना लेती है। पूर्ण सत्य उसी सत्य को कहा जा सकता है जिस का विषय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। बाकी सारे सत्य एकाङ्गी और अपूर्ण हैं। विश्व ब्रह्माण्ड स्वयं एक समष्टि (System) है और उसको विषय बनानेवाले सत्य वाक्य भी एक समष्टि का रूप धारण कर लेंगे। जैसे-जैसे मानवता के ज्ञान में प्रगति होती जाती है, वैसे-वैसे इस सत्य-समष्टि के कलेवर में भी वृद्धि होती है। पूर्ण सत्य अथवा वास्तविक प्रमा आंशिक सत्यों या सत्य प्रतिज्ञाओं की वह समष्टि होगी जो विश्व-समष्टि को उसकी समग्रता में अभिव्यक्त करेगी।* ऐसी समष्टि ही मानव-चिन्तन का आदर्श है। ब्रेडले कभी-कभी यह भी कहता है कि पूर्ण सत्य तभी पूर्ण होगा जब वह केवल सत्य न रहकर विश्वतत्त्व से एकीभूत हो जायगा।†

❀ **इससे विपरीत मत, यह कि अलग-अलग वाक्य सत्य या मिथ्या होते हैं, दार्शनिक अनेकवाद पर अवलम्बित होगा। अनेकवाद** (Pluralism) **के अनुसार विश्व की वास्तविकताएँ असम्बद्ध और अनेक हैं।**

तु० की० The absolute view of perfect truth and of sheer error rests on the idea that separate facts and truths are self-contained and possess independent reality. (Bradley, Essays on truth and Reality, पृ० २६५)

* ...our goal is in the end to gain Reality in an ideal form. to possess ourselves of a self-contained individual whole.—Bradley, Essays, पृ० ३२६

† Hence truth......in order to perfect itself, it would have to become Reality. वही पृ०, ३४३-४४

भारतवर्ष में सङ्गतिवाद का ऊपर के रूप में विकास नहीं हुआ। योरपीय सङ्गतिवाद का हीगल के अध्यात्मवाद से गहरा सम्बन्ध है। हीगल विश्वतत्त्व को परस्पर-सम्बद्ध तत्त्वों की समष्टि-रूप मानता है। इस समष्टि का विवरण देने वाला सत्य भी समष्टि-रूप होगा। हीगल के अनुसार इस सत्य का वाहक पूर्णप्रत्यय (Absolute Idea) है, जो विभिन्न धारणाओं या प्रत्ययों की समष्टि है—पूर्णप्रत्यय में समस्त प्रत्ययों या धारणाओं का सत्य निहित है। सङ्गतिवाद की प्रेरणा हीगल के दर्शन से मिलती है, किन्तु वह केवल हीगल के मत की आवृत्ति नहीं है। सङ्गतिवाद को, यथार्थ ज्ञान सम्बन्धी वाद के रूप में, हीगल के दर्शन से अलग भी किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान में विभिन्न तथ्य (विभिन्न तथ्यों के वाहक वाक्य) एक दूसरे से सम्बद्ध, एक दूसरे के आश्रित, एवं एक दूसरे पर अवलम्बित होते हैं। विभिन्न वैज्ञानिक तथ्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, और वैज्ञानिकों की यह सदैव चेष्टा रहती है कि वे परस्पर-निरपेक्ष प्रतीत होने वाली सचाइयों को घने सम्बन्ध-सूत्रों में बांध दें। इस प्रकार भौतिक विज्ञान अपनी प्रगति में अधिकाधिक एक समञ्जस समष्टि (Coherent system) का रूप धारण करता जा रहा है। कुछ विचारकों की सम्मति में 'सत्य समष्टिरूप है' इसका सबसे बड़ा निदर्शन भौतिक विज्ञान है।

संगतिवाद और स्याद्वाद

प्रो० यूइंग (A. C. Ewing) की सम्मति में संगतिवाद (Coherence Theory) का मुख्य तत्त्व यही है कि प्रत्येक कथन या वाक्य अंशतः सत्य और अंशतः मिथ्या होता है। ब्रेडले के अनुसार ७+५=१२; यह गुलाब लाल रंग का है; इस कमरे की दीवारें एक मील से कम दूर हैं,—इत्यादि कथनों में से कोई भी पूर्णतया सत्य नहीं है। जिसे निरपेक्ष कथन (Categorical Proposition) कहते हैं—जो बिना किसी 'यदि' या शर्त्त के उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ कहता है—वह वस्तुतः अत्यल्प सत्य को प्रकट करता है न कि पूर्ण सत्य को।

उसकी अपेक्षा 'यदि' से प्रारंभ होनेवाला सापेक्ष कथन (Hypothetical Proposition)—यदि वर्षा हुई तो धान बढ़ेगा—ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि वह वक्तव्य के हेतु या आधार को स्पष्ट करते हुए तथ्यों के **सम्बन्ध** को प्रकाशित करता है।

इस अंश में यह विचित्र दीखनेवाला सिद्धान्त जैनियों के अनेकान्तवाद से समानता रखता प्रतीत होता है। किन्तु यह समानता गहरी नहीं है। जहाँ संगतिवाद और स्याद्वाद दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते दिखाई देते हैं अर्थात् यह कि कोई कथन निरपेक्ष रूप में सत्य नहीं है, वहाँ दोनों इस परिस्थिति के जुदा-जुदा कारण बतलाते हैं। सत्य-सम्बन्धी इन दोनों सिद्धान्तों का दो भिन्न कोटि के तत्त्वदर्शनों से सम्बन्ध है। यह परिस्थिति हमारे इस मन्तव्य का कि दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन में केवल निष्कर्षों पर ध्यान नहीं देना चाहिए, अच्छा निदर्शन है।

'कोई कथन निरपेक्ष या पूर्ण रूप में सत्य नहीं होता' इसकी जैन दर्शन में एक निराली और रोचक व्याख्या मिलती है। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व पदार्थ एक नहीं अनेक हैं; वह न वेदान्त के ब्रह्म की भाँति एकरस तत्त्व है, न हीगल अथवा ब्रेडले के परब्रह्म (Absolute) की भाँति समष्टि-रूप एकता। जैन दर्शन अनेकवादी है। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन मानता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। हेमचन्द्र के टीकाकार मल्लिषेण "स्याद्वाद मंजरी" में कहते हैं:—

स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। (पंचम श्लोक)

अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते हैं जिसके अनुसार एक वस्तु में नित्यता, अनित्यता आदि अनेक (विरोधी) धर्म माने जाते हैं। अन्यत्र इसे स्पष्ट किया गया है। तीनों कालों में वस्तु में अनन्त धर्म उत्पन्न होते रहते हैं; कुछ वर्त्तमान काल में मौजूद हैं, और असंख्य गुण या धर्म आगे आनेवाले समय में उत्पन्न होते रहेंगे। वस्तु एक

होती है, किन्तु उसके पर्याय (Modes) अथवा उसके अस्तित्ववान् होने के प्रकार अनन्त हैं। उदाहरण के लिये जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि पर्याय सहभावी हैं, एक साथ रहते हैं; हर्ष, शोक आदि धर्म या पर्याय क्रमभावी हैं, काल-क्रम से उत्पन्न होते रहते हैं।*

संक्षेप में, यह स्याद्वाद का तत्त्वदर्शन-सम्बन्धी पक्ष है जो उसके तर्कशास्त्रीय पक्ष का आधार है। जैन दर्शन यह नहीं मानता कि वस्तु एकान्त रूप में नित्य या अनित्य, स्थिर या परिवर्त्तनशील है—वस्तु में विरोधी धर्म हो सकते हैं; और, दूसरे, जैन दर्शन की मान्यता है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है।

ज्ञानमीमांसा में उक्त सिद्धान्त से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं। एक ही वस्तु (जीव या आत्मा) को यदि हम केवल द्रव्य रूप में देखें तो हम उसे एक प्रकार वर्णित करेंगे और पर्याय-रूप में देखें तो दूसरे प्रकार—संश्लिष्ट दृष्टि से वही वस्तु द्रव्य है, स्थिर है ; विश्लिष्ट दृष्टि से वही वस्तु पर्याय-रूप है और परिवर्त्तनीय है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु द्रव्य-रूप और पर्याय-रूप दोनों ही है ; किन्तु समय-समय पर परीक्षक लोग कभी उसे द्रव्यनय (द्रव्यास्तिक नय) और कभी पर्यायनय (पर्यायास्तिक नय) की दृष्टि से वर्णित करते हैं। इस प्रकार के वर्णन या कथन एकांगी होते हैं ; उन्हें जैन तर्क-शास्त्र में 'नय' संज्ञा दी गई है।

'एकांगी' से मतलब है कि सापेक्ष ; हमारे कथन अपेक्षा-विशेष से ही सत्य होते हैं। 'सप्तभंगी' का मन्तव्य इसी तथ्य को प्रकट करने का प्रयत्न है। जैन तर्कशास्त्र विधि-निषेध-मूलक कथनों को सात प्रकार व्यक्त करने की व्यवस्था देता है। 'घट है', यह कथन समुचित नहीं ; कहना चाहिए कि कदाचित् (अपेक्षा-विशेष से) घट है, स्यादस्ति घटः ; इसी प्रकार अपेक्षा-विशेष से घट नहीं है, स्यान्नास्ति घटः। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु

* दे० स्याद्वाद मंजरी, श्लोक २२

कदाचित् है, अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु नहीं है—जैसे पट के द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से घट नहीं है। सत्त्व और असत्त्व दोनों (विधि-निषेध) की क्रम से कल्पना करने से तीसरा भंग मिलता है—कदाचित् घट है और कदाचित् नहीं है। विधि-निषेध की एक साथ कल्पना चौथे भंग को जन्म देती है—कदाचित् घट अवक्तव्य है। शेष तीन भंग इन्हीं के मेल से बनते हैं।

यहाँ एक बात याद रखनी चाहिए। किसी वस्तु के किसी एक पर्याय या धर्म (जैसे सत्त्व या सत्ता) को लेकर सात कथन किये जा सकते हैं; वस्तु के अनन्त धर्मों के सम्बन्ध में तो अनन्त कथन या भंग (वचन-प्रकार) अपेक्षित होंगे। प्रत्येक पर्याय के सम्बन्ध में सात प्रकार के प्रश्न किये जा सकते हैं, क्योंकि सात प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है और सात ही प्रकार का सन्देह।*

लेकिन सन्देह सात ही प्रकार का क्यों होता है ? उत्तर में जैन विचारक कहते हैं—क्योंकि संशय के विषयभूत वस्तु-धर्म सात प्रकार के होते हैं।† अपेक्षा-विशेष से सत्त्व या सत्ता, अपेक्षा-विशेष से असत्ता आदि वस्तु के धर्म हैं। जैसे एक ही व्यक्ति उपाधि-भेद से पिता और पुत्र होता है।‡

* स्याद्वाद मंजरी, २३ (बाम्बे संस्कृत ऐण्ड प्राकृत सीरीज़), पृ० १७६ प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात्। तेषामपि सप्तत्वं सप्तविध तज्जिज्ञासा नियमात्। तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देह समुत्पादात्।

† स्वगोचर वस्तुधर्माणां सप्तविध त्वस्यैवोपपत्तेः (स्याद्वाद मंजरी और प्रमाणनयतत्त्वालंकार; वही, पृ० १४५ और पृ० २५६)। संशयानां सप्तविधत्वं तद्विषयीभूत धर्माणां सप्तविधत्वात्—सप्तभंगीतरंगिणी। (वही, पृ० २५७)।

‡ स्याद्वाद मंजरी, २४।

यहाँ यदि जैन दार्शनिक गम्भीर विचार करते तो उन्हें एक सन्देह हो सकता था—वस्तु-धर्म सात प्रकार के (अथवा अन्य कितने प्रकार के) दीखते हैं इसका कारण हमारे मस्तिष्क की गठन तो नहीं है ? हम खास ढंगों से सन्देह, जिज्ञासा और प्रश्न करते हैं **इसीलिये** हम वस्तु में उतने ढंग के धर्म पाते हैं, अथवा वस्तु-धर्म उतने ढंग के हैं **इसलिये** हम खास ढंगों से सन्देह एवं प्रश्न करते हैं ? इन दोनों विकल्पों में से एक को क्यों पसन्द किया जाय—शास्त्रीय भाषा में यहाँ विनिगमक क्या है ?

दूसरा अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है—क्या सापेक्ष सत्यों (नय-वाक्यों) से पूर्ण सत्य तक पहुँचने का कोई रास्ता है ? जैन दार्शनिकों ने नय-वाक्य और प्रमाण-वाक्य, विकलादेश और सकलादेश का अन्तर किया है। इनकी व्याख्यायें भिन्न-भिन्न हैं। 'सप्तभंगी तरंगिणी' में इन व्याख्याओं का संकेत और खंडन किया गया है। 'स्याद्वादमंजरी' के अनुसार विकलादेश या नय-वाक्य वह है जो भेद पर गौरव देता हुआ पर्यायों का बोधन करता है ; इसके विपरीत सकलादेश में वस्तु और उसके धर्मों के यौगपद्य (एककालवर्त्तिता) एवं अभेद अथवा अभेदोपचार (अभेद-कल्पना) का बोधन होता है। सप्त भंगी के प्रत्येक भंग में सकलादेश और विकलादेश सम्भव है। *

इसके खंडन में "सप्तभंगीतरंगिणी" कहती है कि प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंग वस्तु को एकधर्मात्मक ही वर्णित करते हैं, फिर वे सकलादेश कैसे होंगे—वे विकलादेश ही हो सकते हैं। शेष चार भंग वस्तु को एकाधिक धर्मवाला (ऊपर के उदाहरण में अस्तित्व और अनस्तित्व, अस्तित्व और अवक्तव्यता आदि) वर्णित करते हैं, अतः वे सकलादेश बन जाएँगे। इस प्रकार तीन नय-

* वही, २३ इयं च सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेश स्वभावा विकलादेश स्वभावा च।

वाक्य होंगे और चार प्रमाण-वाक्य। किन्तु यह सिद्धान्त-विरुद्ध है।*

कुछ लोग कहते हैं कि सप्तभंगी का प्रत्येक भंग अलग-अलग विकलादेश है और सब मिलकर सकलादेश। यह भी ठीक नहीं। सब भंग मिल कर भी वस्तु का सम्पूर्ण बोध कहाँ कराते हैं (समुदितस्यापि सदादिवाक्यसप्तकस्य सकलार्थप्रतिपादकत्वाभावात्)? सात वाक्य मिल कर वस्तु के एक धर्म का बोध करा सकते हैं न कि उसके अनन्त धर्मों का। संक्षेप में "सप्तभंगी तरंगिणी" का यही सिद्धान्त है सात वाक्य एक गुण या धर्म की दृष्टि से सकलादेश कहे जाते हैं (एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः)। वस्तु का एक धर्म सप्तभंगी द्वारा समग्रता में वर्णित हो जाता है।

हमने ऊपर 'सात प्रकार के संशय- जिज्ञासा और प्रश्न' को लेकर जो आशंका प्रकट की थी उसके अनुसार यह एक धर्म-विषयक सकलादेश भी वस्तुतः वस्तु की दृष्टि से पूर्ण ज्ञान न होगा।

'स्याद्वाद' की अन्तरंग परीक्षा हमारे सामने यह प्रश्न प्रस्तुत करती है—क्या अनन्तधर्मात्मक वस्तु का पूर्ण ज्ञान संभव है? जैन दर्शन इस का नकारात्मक उत्तर देता प्रतीत होता है।

स्वयं जैन विचारकों को इस का आभास था। अतएव 'स्याद्वाद मंजरी' के रचयिता ने मंगलाचरण में लिखा है:—

विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याप्यर्थस्य यथावत् परिज्ञानाभावात्। तथा चार्षम्—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ

तथा

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।

---

*दे० स्याद्वादमंजरी का उक्त संस्करण, पद्य २३ पर संस्कृत परिशिष्ट सं० ३

सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ।

अर्थात् सर्वज्ञ हुए बिना एक वस्तु का भी ज्ञान संभव नहीं है। जो एक पदार्थ को (सब दृष्टियों से) जानता है वह सब पदार्थों को सम्पूर्णतया जानता है। जो सब को जानता है वही एक को जान सकता है। उदाहरण के लिये 'कदाचित् घट नहीं है', इसका पूर्ण अभिप्राय तभी समझा जा सकता है जब आप घटेतर (घट से भिन्न) अशेष पदार्थों को जानते हों, यह जानते हों कि पट, वृक्ष आदि कितने रूपों में घट नहीं है।

ब्रेडले भी कहता है कि समग्र सत्य सम्पूर्ण वास्तविकता को विषय बनाने वाला सत्य है—और शायद वह भी सम्पूर्ण सत्य नहीं है। हमारी समझ में जैनियों के तत्त्वदर्शन अर्थात् अनेकवाद से श्लोकोक्त सिद्धान्त की संगति नहीं बैठती। जैन-दर्शन में जीव, पुद्गल, काल आदि पदार्थों में कोई अन्तरंग (आन्तरिक) सम्बन्ध नहीं है फिर उनके बोधक सत्यों में क्यों परस्पर-सापेक्षता हो? इसके विपरीत संगतिवादी वास्तविकता या तत्त्वपदार्थ को विश्व की असंख्य व्यक्तियों (रूपों) की समष्टि मानते हैं अतः उनके लिये समस्त सत्य भी स्वभावतः सम्बद्ध हैं।

वस्तुतः स्याद्वाद की यह मान्यता कम समझ में आती है कि 'घट' को जानने के लिये यह जानना जरूरी है कि घट क्या-क्या नहीं है। सुई से छेदे जाने का दुःख क्या होता है, यह समझने के लिये यह जानना क्यों जरूरी होना चाहिए कि वह दुःख क्या-क्या नहीं है?

यह अन्तिम युक्ति संगतिवाद की भी विरोधिनी है। दुःख का ज्ञान अपने में पूर्ण होता है,: उसके लिये सुई के रासायनिक-भौतिक रूप को समझना आवश्यक नहीं जान पड़ता। (आगे हमने संकेत किया है कि कुछ नैयायिक फलभूत तृप्ति-ज्ञान की स्वतः प्रामाण्यता स्वीकार कर लेते हैं।) सच पूछो तो व्यवहारवाद (Pragmatism)

के इस सिद्धान्त में काफी बल है कि ज्ञान सप्रयोजन होता है, प्रयोजन-विशेष का सापेक्ष। विशिष्ट प्रयोजन की अपेक्षा से यह ज्ञान कि 'अमुक नदी का जल प्यास बुझाने के लिये उपयुक्त है' पूर्ण ज्ञान है। ब्रेडले आदि के विरुद्ध कहा गया है कि जहाँ संगतिवाद का सिद्धान्त विवाद-ग्रस्त विषय है वहाँ यह कथन कि ७+५=१२ अथवा 'यह गुलाब लाल रंग का है' किंवा 'ये दीवारें सफेद हैं', कहीं अधिक विश्वसनीय है। और यदि प्रत्येक खण्डसत्य सत्य-समष्टि का सापेक्ष है तो वैज्ञानिक सिद्धान्तों में परिवर्तन क्यों होता है? क्यों एक अकेले तथ्य (Fact) का ज्ञान कभी-कभी एक विशाल व्यापक सिद्धान्त को उलट देता है? * आधुनिक विज्ञान में न्यूटन के आकर्षणवाद के बदले आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद इस लिये प्रतिष्ठित नहीं हुआ कि वह प्रथम की अपेक्षा अधिक आन्तरिक सामंजस्य या संगति रखता है बल्कि इस लिये कि वह आकर्षणवाद की अपेक्षा अधिक ज्ञात तथ्यों की व्याख्या कर सकता है। †

स्याद्वाद और संगतिवाद के सिद्धान्त कुछ हद तक संशयवादी (Sceptical) हैं, वे कर्मठ व्यक्तियों को पसन्द आने वाले नहीं हैं। जिसे काम करना है वह यह मान कर कि मेरा प्रत्येक ज्ञान अपूर्ण सत्य है अनन्त काल तक अपने ज्ञान के पूर्ण होने की प्रतीक्षा कैसे कर सकता है? वस्तुतः अपने दैनिक व्यवहार द्वारा हम में से प्रत्येक यह सिद्ध करता रहता है कि हमें अपने विशिष्ट ज्ञान-खंडोंमें आस्था या विश्वास है। व्यवहारवाद का सिद्धान्त इस प्रकार के विश्वास का सैद्धान्तिक मण्डन प्रस्तुत करता है।

व्यवहारवाद (Pragmatism)

अब हम सत्य-सम्बन्धी एक दूसरे मन्तव्य का विवरण देंगे जिसे

* दे० मारिस, आइडियेलिस्टक लॉजिक, अध्याय १०, पृ० १६७ (१९३३ संस्करण)

† वही, पृ० १८४-१८५

अंगरेजी में "प्रैग्मेटिज्म" कहते हैं; हिन्दी में उसे प्रयोजनवाद, उपयोगितावाद अथवा व्यवहारवाद कह सकते हैं। यह सिद्धान्त मुख्यतया अमरीका में प्रतिपादित और पल्लवित हुआ है। इस मतवाद का प्रवर्तक चार्ल्स सेन्डर्स पियर्स (१८३९-१९१४) था। उसने सन् १८७८ में एक निबन्ध लिखा जिसका शीर्षक था—"अपने विचारों को कैसे स्पष्ट करें?" पियर्स ने लिखा है कि वह जर्मन दार्शनिक काण्ट से प्रभावित हुआ था। पियर्स का कहना है कि किसी शब्द अथवा व्यञ्जना का बुद्धिगम्य अर्थ वह प्रभाव है जो कि वह हमारे व्यवहार पर डाल सकता है। किसी शब्द या वाक्य का अर्थ हृदयंगम करने के लिए हमें पूछना चाहिए कि वह हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए क्या मतलब रखता है। * मतलब यह कि किसी वाक्य अथवा विचार का अर्थ भावी कार्यक्रम द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है। जिस कथन को मानने या न मानने से हमारे व्यवहार पर कोई असर नहीं पड़ता वह कथन निरर्थक है।

व्यवहारवाद को एक पूर्ण सिद्धान्त का रूप देने तथा उसका प्रचार करने का सबसे अधिक श्रेय विलियम जेम्स को है। पियर्स एक अच्छा तर्कशास्त्री था, इसके विपरीत जेम्स में शिक्षाशास्त्री तथा सुधारक की मनोवृत्ति प्रधान थी। जेम्स एक महान् मनोवैज्ञानिक भी था। व्यवहारवाद से सम्बन्ध रखने वाली जेम्स की दो पुस्तकें हैं—"विश्वास की वासना" (The Will to Believe) और "व्यवहारवाद" (Pragmatism) जो क्रमशः सन् १८९७ ई० और १९०७ ई० में प्रकाशित हुई थीं।

किसी वस्तु के प्रत्यय का क्या अर्थ है? उत्तर है—वे संवेदन जिनकी हम आशा कर सकते हैं (जैसे अग्नि से ताप की)। और

* दे० Twentieth Century Philosophy (Philosophical Library, New York, 1943), पृ० ४५३ (जॉन ड्यूई का निबंध)

वे प्रतिक्रियाएँ जिनके लिए हमें तैयार रहना चाहिए (जैसे शीत में अग्नि के पास जाना)। उस प्रत्यय को हम सत्य कहेंगे जिसे स्वीकार करके हमारी आशाएँ पूरी होती हैं और हमारी प्रतिक्रियाएँ सफलता लाभ करती हैं। किन्तु क्योंकि हमारी आशाएँ अन्ततः हमारी प्रतिक्रियाओं या कर्मों के रूप में व्यक्त होती हैं; इसलिए हम कह सकते हैं कि सत्य प्रत्यय वह है जिसके अनुसार व्यापार करने पर क्रियाशील होने में सफलता मिलती है।

जेम्स के मत में 'प्रत्येक सत्य को व्यावहारिक कसौटी पर कसा जा सकता है।' जितनी वास्तविकताएँ हैं वे हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं इसलिए प्रत्येक वास्तविकता से सम्बद्ध प्रत्यय का व्यावहारिक परिणाम होना चाहिए। 'हमारे विश्वास वास्तव में कर्म करने या व्यापार-विशेषों को अनुष्ठित करने के नियम हैं।'* इसलिए किसी विश्वास की सत्यता इसमें है कि उसके अनुसार काम करने से सफलता मिले। 'जिस तत्व को मानने न मानने से हमारे व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह वास्तव में हमारे लिए सत्य या मिथ्या नहीं है। प्रत्येक सिद्धान्त के बारे में हमें यह पूछना चाहिए कि इसको मानने या न मानने से क्या व्यावहारिक भेद होगा। जिस सत्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता, जिसका मानना न मानना हमारे व्यवहार को प्रभावित नहीं कर सकता, वह सत्य, हमारे दृष्टिकोण से, निरर्थक है।'

कोई प्रत्यय या विचार प्रारम्भ से सत्य या मिथ्या नहीं होता; व्यावहारिक कसौटी पर कसे जाने से ही वह सत्य या मिथ्या बनता है। सत्यता की प्राप्ति एक घटना है जो प्रत्यय-विशेष के जीवन में घटित होती है।

---

* 'All realities influnce our practice' और 'Our beliefs are really rules for action' Pragmatism (1907), पृ० ४८,४६

मनोवैज्ञानिक जेम्स 'रुचि' और 'व्यवहार' (Interest and Practice) नामक वास्तविकताओं पर गौरव देता है। हम विश्व के पदार्थों को देखते-सुनते और जानते हैं क्योंकि हम में विशिष्ट रुचियाँ है, विशिष्ट इच्छाएँ और वासनाएँ हैं। यदि ये वासनाएँ न हों तो हमारे मस्तिष्क में विचार और प्रत्यय भी न हों। स्वयं विज्ञान हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न-रूप जन्म लेता है। *

विचारों की सत्यता की परीक्षा संवादिता अथवा आन्तरिक संगति द्वारा संभव नहीं है, अपितु व्यावहारिक परिणामों द्वारा ही संभव है। किन्तु यह जरूरी नहीं कि ये व्यावहारिक परिणाम इन्द्रिय-ग्राह्य ही हों, वे विशुद्ध बौद्धिक भी हो सकते हैं। मतलब सिर्फ यह है कि कथन-विशेष के कुछ मूर्त्त एवं विशिष्ट परिणाम होने चाहिएँ, अमूर्त्त, सामान्य एवं निष्क्रिय (जैसे आत्म-संगति) नहीं। †

जहाँ साक्षात् व्यावहारिक परीक्षा संभव न हो वहाँ प्रत्यय-विशेष अथवा कथन-विशेष की सत्यता का निर्णय मनुष्य की नैतिक एवं भावना-मूलक (आवेगात्मक) माँगों द्वारा होना चाहिये। काण्ट ने कहा था—ईश्वर हमारी नैतिक आवश्यकता है—नैतिक जीवन की आवश्यक मान्यता है। जेम्स भी कहता है कि यदि हमारा हृदय और हमारे नैतिक प्रयत्न ईश्वर की अपेक्षा करते हैं तो हमें ईश्वर में विश्वास करना चाहिए। वास्तव में मनुष्य विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार स्वीकार या अस्वीकार, करते हैं, और यह उचित भी है। हमारी आवश्यकताएँ तर्कों, एवं युक्तियों को उपजाती हैं, न कि हमारी युक्तियाँ आवश्यकताओं को।

जेम्स की व्याख्या करते हुए ड्यूई का कहना है कि व्यवहारवाद अनुभववाद (Empiricism) का ही आवश्यक पर्यवसान है।

* दे० वेबर और पेरी, हिस्टरी ऑफ फिलासफी, पृ० ४७८-७९

† Twentieth Century Philosophy, पृ० ४५६

व्यवहारवादी दृष्टि आदिम या प्राथमिक तत्त्वों, मूल सिद्धान्तों आदि की ओर न देख कर अन्तिम परिणति, निष्कर्ष, फल अथवा तथ्य की ओर देखती है। * प्रत्येक ज्ञान की सार्थकता भविष्य में निहित रहती है, भविष्य ही उसकी सत्यता को प्रमाणित करता है, यदि वह पहले से प्रमाणित नहीं हो चुकी है। इसका एक निष्कर्ष यह है कि हमारे सामान्य प्रत्यय और सामान्य कथन अतीत अनुभवों का सारांश-मात्र (Summary) नहीं हैं, अपितु वे भविष्यके लिये निर्देश-रूप हैं। ड्यूई का उपकरणवाद (Instrumentalism)—यह मन्तव्य कि ज्ञान सफल प्रतिक्रिया का उपकरण है—और प्रयोगवाद (Experimentalism) उक्त मान्यताओं के तर्कशास्त्रीय विस्तार से प्राप्त होते हैं।

प्रामाण्यवाद

ऊपर के मत में किसी ज्ञान या अनुभवखण्ड की सत्यता की परख उस ज्ञान या अनुभव के **बाहर** होती है। दार्शनिक परिभाषा में ऊपर का सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवादी है। भारतवर्ष में मीमांसा और वेदांत दर्शनों में इस मन्तव्य का तीव्र खण्डन किया गया है। ये दोनो सम्प्रदाय स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। योरपीय-दर्शन में स्वतः और परतः प्रामाण्यवाद का विरोध अधिक स्पष्ट रूप में पल्लवित नहीं हुआ। फिर भी सङ्गतिवाद के प्रचारकों को स्वतः प्रामाण्यवादी कहना चाहिये। बर्नार्ड बोसांक्वेट ने ज्ञान की परख की आंतरिकता (Immanence) पर जोर दिया है। † ज्ञान की परख ज्ञान के बाहर नहीं हो सकती। योरपीय दर्शन में यथार्थज्ञान को वस्तुसम्वादी लक्षित करने वाले विचारक यह बताना मुश्किल पाते हैं कि स्वयं वस्तु-सम्वादिता का ज्ञान या निश्चय किस प्रकार हो। इस निश्चय के लिए यह आवश्यक है कि (१) ज्ञान-विशेष हमारी दृष्टि के सामने हो; (२) वह पदार्थ जिसका यह ज्ञान है, ज्ञान से निरपेक्ष हमारे

* वही, पृ० ४६०

† दे० Logic, Vol. II, pp. 290,291 (Second Edition)

सामने हो; (३) और हम ज्ञान और पदार्थ दोनों की तुलना करके यह जान सकें कि उनमें सम्वादिता है। किन्तु ज्ञान के **बाहर** हमें पदार्थ का परिचय नहीं हो सकता, पदार्थ हम तक ज्ञान के माध्यम में ही आता है। इसलिए हम दोनों की तुलना नहीं कर सकते। इस कठिनाई से बचने के लिए पूर्वी और पश्चिमी विचारक भी यह कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान का स्वरूप वस्तुसम्वादिता भले ही हो, उसकी परख व्यावहारिक सफलता को मानना चाहिए। कतिपय योरपीय विचारकों के मत में 'संगति' (Coherence) द्वारा भी प्रमा के प्रमात्व की परीक्षा की जा सकती है।

स्वतःप्रमाणवादियों का कहना है कि जब ज्ञान-विशेष उत्पन्न होता या आता है, तो वह अपने साथ ही अपने प्रामाण्य का निश्चय भी लाता है। स्वतः प्रामाण्यवाद का मुख्य तर्क इस प्रकार है। आप एक ज्ञान की परख उसकी व्यावहारिक सफलता से करना चाहते हैं। किन्तु किसी ज्ञान से व्यावहारिक सफलता होती है, यह निश्चय भी एक प्रकार का ज्ञान हैं और उसकी परीक्षा के लिए एक तीसरा ज्ञान चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। इस लिए, व्यर्थ के कल्पना-गौरव से बचने के लिए, यह मानना चाहिए कि प्रत्येक ज्ञान-खण्ड स्वतःप्रमाण होता है। कतिपय नैयायिक उत्तर में कहते हैं कि व्यावहारिक सफलता अर्थात् फलभूत तृप्ति आदि के ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लेना चाहिए, किन्तु दूसरे ज्ञानों की सत्यता का कारण तृप्ति-ज्ञान को मानना चाहिए। किन्तु इतना मानने का अर्थ स्वतः प्रमाण्य-वाद को स्वीकार कर लेना है।*

आलोचनात्मक टिप्पणी

संगतिवाद का स्वतः प्रामाण्य भारतीय स्वतः प्रामाण्यवाद से भिन्न

***अथ मतं...फलभूततृप्त्यादिज्ञानानान्तु स्वत एव तदवगमः, अर्थ क्रियान्तराभावात्, तदसत्, विमतं साधनज्ञानं स्वत एवं प्रमाणं ज्ञानत्वात्, फलज्ञानवत्। (वि. प्र. सं., पृष्ठ १०१)**

है। संगतिवाद के अनुसार प्रत्येक अकेला ज्ञान-खण्ड स्वतः प्रमाण नहीं होता, प्रामाण्य ज्ञान-समष्टि का धर्म है। किसी ज्ञान या कथन-समष्टि (System of judgments) के तत्त्वों में जितनी ही अधिक संगति या सामञ्जस्य होगा, वह उतनी ही पूर्ण सत्य के समीप होगी; और कथन-विशेष या ज्ञान-विशेष की सत्यता इस पर निर्भर है कि वह एक ज्ञान-समष्टि का अङ्गभूत बन सके। ज्ञान-विशेष या कथन-विशेष को उस अनुपात में सत्य मानना चाहिये जिस अनुपात में उस का सन्निवेश कर लेने वाली समष्टि व्यापक और समञ्जस है।* इसके विपरीत भारतीय स्वतः प्रामाण्य प्रत्येक ज्ञान-खण्ड को अपने अकेलेपन में प्रमाण मानता है।

वस्तुतः भारतीय स्वतःप्रामाण्यवाद की दृष्टि से संगतिवाद के सिद्धान्त को परतःप्रमाणवादी कहना चाहिए। वेदान्त तथा मीमांसा के अनुसार परतः प्रामाण्य वाद हमें अनवस्था में फँसा देता है। संगतिवाद को यह अनवस्था दोष स्वीकार होगा, क्योंकि वह मानता है कि हमारा कोई ज्ञान या कथन पूर्णतया सत्य नहीं है। जिस ज्ञान-समष्टि पर ज्ञान-विशेष की सत्यता निर्भर है, वह भी पूर्ण-सत्यता का दावा नहीं नहीं कर सकती।

हमारी समझ में यह अनिवार्य है कि हम कुछ सत्यों को स्वतः-प्रमाण मानें। उदाहरण के लिये किसी-न-किसी रूप में इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना ही पड़ता है। विज्ञान के व्यापक से व्यापक सिद्धान्त का अन्तिम आधार प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। ज्ञान को स्वतः प्रमाण माने बिना अनुमान भी सम्भव नहीं है। कुछ पक्ष-वाक्यों (Premises) से एक विशेष निष्कर्ष निकलता है यह भी एक प्रकार की अपरोक्षानुभूति पर निर्भर होता है। हम देखते हैं कि विशेष कथन से एक दूसरा कथन निष्कर्ष के रूप में प्राप्त होता है। इस देखने का कोई बौद्धिक विवरण नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार के देखने में विश्वास करके

* दे० Bosanquet, Logic Vol. 2, P. 283

ही हम तर्क कर सकते हैं। अतः इस देखने की क्रिया को स्वतः प्रमाण मानना चाहिये।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा प्रत्येक ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। इस दृष्टि से कुछ नैयायिकों का यह कहना कि कतिपय ज्ञान स्वतः प्रमाण हैं और कुछ परतः प्रमाण, संगतिवाद एवं वेदान्त के अतिवादी (Radical) मन्तव्यों से अधिक उचित जान पड़ता है।

ऊपर हमने सम्वित्-शास्त्र या ज्ञान-मीमांसा की कतिपय महत्वपूर्ण समस्याओं पर पूर्वी और पश्चिमी विचारों का तुलनात्मक विवरण देने की चेष्टा की है। ज्ञान की सम्भावना, ज्ञान के प्रत्यक्षादि साधन, ज्ञान का स्वरूप, प्रमा का स्वरूप और उसकी परीक्षा—यही संक्षेप में सम्वित्-शास्त्र की समस्यायें हैं। इस शास्त्र की एक महत्वपूर्ण समस्या और है अर्थात् ज्ञान और ज्ञान के विषय के सम्बन्ध का निरूपण। इस समस्या पर हम 'अध्यात्मवाद' के अध्याय में लिखेंगे।

तीसरा अध्याय

विश्व की व्याख्या—यन्त्रवाद, प्रयोजनवाद, विकासवाद

पहले अध्याय में हम देख चुके हैं कि योरपीय-दर्शन का प्रधान उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना है। हमने यह भी देखा कि उपनिषदों में, और सामान्यतः भारतीय-दर्शन में, समय-समय पर दर्शन का उद्देश्य आत्मज्ञान और विश्व की व्याख्या दोनों ही दर्शित किये गये हैं। उपनिषदों में आत्मज्ञान की महत्ता पर जोर दिया गया है, साथ ही दृश्य जगत् की व्याख्या का प्रयत्न भी किया गया है। वेदान्त में दर्शन के पहले उद्देश्य पर गौरव दिया गया है, जब कि अन्य दर्शनों में दूसरा उद्देश्य प्रधान दिखाई पड़ता है।

प्रो० ह्वाइटहेड ने यह विचार प्रकट किया है कि जहाँ योरपीय मस्तिष्क ईश्वर एवं जगत् को नियमपरायण (Rational) समझने का अभ्यस्त है, वहां एशिया के विचारक ईश्वर को निरङ्कुश एवं जगत् को नियमहीन कल्पित करते हैं। उनका खयाल है कि निरङ्कुश या स्वेच्छाचारी ईश्वर नामक शासक के राज्य में उसकी इच्छा से कुछ भी घटित हो सकता है।* पता नहीं उक्त प्रोफेसर ने किस आधार पर इस प्रकार की धारणा बनाई है। जैसा कि हम निम्न पृष्ठों में देखेंगे, विश्व के नियमित और ईश्वरेच्छा के नियन्त्रित होने की धारणा भारतीय दर्शन में बहुत प्राचीन काल से चली आती है। यही नहीं,

---

* दे० Whitehead, Science and the Modern World, (Pelican Books), पृ० २४।

भारत के अनेक दर्शनों ने ईश्वर की अपेक्षा के बिना विश्व-विकास की व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचारकों पर अवैज्ञानिक होने का आरोप या तो पक्षपात का फल हो सकता है या अज्ञान का। यहां पाठकों को याद रखना चाहिये कि भारतीय साहित्य तथा अन्य बौद्धिक विभूतियों के अपेक्षाकृत कम आदृत होने तथा मिथ्या आरोपों द्वारा लांछित किये जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण हमारे देश की राजनैतिक पराधीनता रही है।

इस अध्याय में हम विश्व की व्याख्या देने के कतिपय प्रसिद्ध भारतीय और योरपीय प्रयत्नों पर निष्पक्ष दृष्टि डालने की चेष्टा करेंगे। जैसा कि हमने कहा, उपनिषद्साहित्य में जगह-जगह विश्व की व्याख्या का प्रयत्न है। उपनिषदों से पहले ऋग्वेद में 'ऋत' की धारणा पाई जाती है जिसके अनुसार भौतिक और नैतिक दोनो क्षेत्रों में नियमों का साम्राज्य है। अवश्य ही ऋग्वेद में इस नियमबद्धता का कारण या कर्तृत्व देवता-विशेष (वरुण) में आरोपित किया गया है। उपनिषदों के बाद बुद्धदेव ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का प्रतिपादन करके इस बात पर जोर दिया कि विश्व की प्रत्येक घटना सकारण होती है। बुद्ध जी की इस महत्त्वपूर्ण धारणा पर हम आगे टीका करेंगे।

विश्व की समुचित व्याख्या के लिए दो कार्यों का सम्पादन आवश्यक है;—(१) यह कि अनुभव जगत् के समग्र तत्त्वों पर दृष्टिपात किया जाय, और उन तत्त्वों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाय। (२) वर्गीकृत पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं रूपपरिवर्त्तनों का विवरण अथवा व्याख्या दी जाय। वास्तव में स्वयं वर्गीकरण एक प्रकार की व्याख्या है, और ऐसे शास्त्रों में जिनका विषय अपेक्षाकृत स्थिर व्यक्तियाँ हैं, जैसे वनस्पति-विज्ञान, वर्गीकरण ही व्याख्या का चरम रूप रहता है। अन्य शास्त्रों में भी वर्गीकरण व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग, उसकी पहली सीढ़ी है। यह आश्चर्य की बात है कि यूनान और भारतवर्ष दोनो जगह, विश्व की व्याख्या के प्रथम प्रयत्न

वर्गीकरण-रूप में प्रकट नहीं हुए। दोनो ही जगह के दार्शनिकों ने पहले-पहल विश्व की विभिन्नताओं को अधूरे रूप में देखकर उनके चरम हेतु का स्वरूप समझाने की चेष्टा की। किन्तु कुछ काल बाद दोनों ही जगह एकवाद का स्थान अनेकवाद लेने लगा और विश्व के विभिन्न तत्त्वों के वर्गीकरण की चेष्टा की जाने लगी।

प्रो० दासगुप्त का विचार है कि वैशेषिक सूत्रों को जिनमें विश्व के पदार्थों के वर्गीकरण का सब से महत्त्वपूर्ण भारतीय प्रयत्न निहित है, प्राग्बुद्धीय (बुद्धजी से पहले का) मानना चाहिए।* इसमें सन्देह नहीं कि वैशेषिक सूत्र बहुत प्राचीन है। सर राधाकृष्णन् की सम्मति में उन्हें ब्रह्मसूत्रों का समकालीन मानना चाहिए। यद्यपि सांख्य दर्शन के सिद्धान्त कुछ अंशों में उपनिषदों एवं महाभारत में पाये जाते हैं, फिर भी सांख्य-कारिका के विकसित सांख्य दर्शन को वैशेषिक की अपेक्षा बाद का मानना उचित प्रतीत होता है। दार्शनिक प्रौढ़ता की दृष्टि से भी वैशेषिक के सिद्धान्तों को सांख्य से प्राचीन मानना युक्तिसंगत है।

वैशेषिक कृत विश्व-व्याख्या

वैशेषिककार की दृष्टि सम्पूर्ण अर्थ में दार्शनिक दृष्टि है, उसकी सर्वव्यापी परिधि से विश्व का कोई पदार्थ बाहर नहीं रह जाता। वैशेषिक के छः या सात पदार्थों में विश्वब्रह्माण्ड के अशेष तत्त्वों का समावेश हो जाता है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात श्रेणियों में विश्व की समूची भौतिक और आध्यात्मिक, मूर्त्त और अमूर्त्त, दृश्य और अदृश्य, बाह्य और आन्तर व्यक्तियों का अन्तर्भाव और परिगणन कर दिया गया है। इन सात श्रेणियों के बाहर कहीं कुछ नहीं है। वैशेषिककार के मन में कोई शङ्का, कोई दुविधा या सन्देह नहीं है; वे न संशयवादी हैं न अज्ञेयवादी। विश्व में जो कुछ है वह सब ज्ञेय है, कुछ भी रहस्यमय या अज्ञात नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में मानव-बुद्धि उत्साह और आवेश से भरी हुई

---

* वही, पृ० २८२

स्वच्छन्द संचरित होती है; उसे अपनी शक्ति में पूर्ण विश्वास है। बड़े वैज्ञानिक और क्रमबद्ध रूप में वैशेषिककार ने विभिन्न पदार्थों और उनके उपविभागों के लक्षण किये हैं। अनुभव हमारे सामने विभिन्नता उपस्थित करता है, और वैशेषिककार अनेकवादी हैं। प्रश्न यह है कि विश्व के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे से सम्बद्ध किस प्रकार होते हैं, और एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार करते हैं? वैशेषिक दर्शन पदार्थों की भांति उनके सम्बन्धों की भी अलग सत्ता मान लेता है। संयोग-सम्बन्ध एक गुण है, और समवाय-सम्बन्ध एक अलग पदार्थ है। यही नहीं, वैशेषिककार अनेक व्यक्तियों में पाई जाने वाली जातिगत एकता को भी एक अलग पदार्थ मान लेते हैं। जाति पदार्थ एक नहीं, अनेक हैं; जितनी जातियां दिखाई देती हैं, उतने ही 'सामान्य' पदार्थ हैं। इससे भी आगे बढ़कर प्रत्येक पदार्थ को व्यक्तित्व देने एवं दूसरे पदार्थों से भिन्न रखने के लिए वैशेषिककार ने अनन्त विशेषों की कल्पना कर डाली है। परस्पर-सम्बद्ध होते हुए भी सम्बन्धी पदार्थ अपने व्यक्तित्वों को एक-दूसरे में खो नहीं देते, इस पर वैशेषिककार ने विशेष गौरव दिया है। वस्तुतः उनकी रुचि जितनी पदार्थों को श्रेणी-बद्ध करने में है, उतनी विभिन्न श्रेणियों के सम्बन्ध-निरूपण में नहीं। सम्बन्धों का अलग अस्तित्व स्वीकार कर लेना इस बात का द्योतक है कि वैशेषिक-कार सामान्य बुद्धि (Common sense) से रंचमात्र भी दूर नहीं हटना चाहते।

गुण और गुणी द्रव्य, गति और गतिवान्, सामान्य और विशेष में वैशेषिक दर्शन जाति भेद मानता है। यह ठीक है कि गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, अवयव और अवयवी कभी एक-दूसरे से अलग नहीं होते, उन में अपृथक् सिद्धि या अयुतसिद्धिसम्बन्ध* हैं, फिर भी वे

*वे दो पदार्थ जो कभी एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते, जो सदैव सम्बद्ध होने के कारण एक दीखते हैं, अयुतसिद्ध कहलाते हैं। इस प्रकार की अयुतसिद्धि समवाय द्वारा घटित होती है।

एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं और उन्हें जो सम्बद्ध करता है वह समवाय-सम्बन्ध उन से भिन्न एक तीसरा पदार्थ है। वैशेषिक का यह भेदभाव युक्ति या परीक्षा के आगे नहीं ठहरता। यदि गुण और गुणी को उनसे भिन्न समवाय संबंध जोड़ता है तो स्वयं समवाय सम्बन्ध को गुण और गुणी से कौन जोड़ता है ? क्या इस जोड़ने के लिए एक दूसरे समवाय-सम्बन्ध की कल्पना करनी चाहिये ? शङ्कराचार्य की वैशेषिक के विरुद्ध प्रयुक्त की गई इस युक्ति का अंग्रेज दार्शनिक बेडले ने सम्बन्धमात्र के खण्डन में प्रयोग किया है। शङ्कर की युक्ति भी सम्बन्ध मात्र के विरुद्ध कही जा सकती है, क्योंकि नैयायिक केवल दो ही सम्बन्ध मानते हैं, संयोग और समवाय और शङ्कर ने दोनों का ही खण्डन किया है।

शङ्कर के मत में गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय तथा संयोग को द्रव्यात्मक मानना चाहिये, क्योंकि उन में भेद की प्रतीति नहीं होती। यदि गुण (आदि) द्रव्य से अत्यन्त भिन्न हों, तो उन्हें द्रव्य के अधीन क्यों होना चाहिये ? द्रव्य के होने पर ही गुणों का भाव होता है और द्रव्य के अभाव में उनका अभाव होता है, इस लिए यह मानना चाहिये कि गुण द्रव्य का ही रूप-विशेष या संस्थान-विशेष होता है। जैसे एक ही देवदत्त अपनी तथा सम्बन्धियों की अपेक्षा से मनुष्य, ब्राह्मण, पिता, पुत्र, भाई, जामाता आदि अनेक नामवाला बन जाता है, जैसे एक ही अङ्क या रेखा स्थान भेद से एक, दस, सहस्र आदि नामों से पुकारी जाती है, वैसे ही एक ही द्रव्य, या दो सम्बद्ध द्रव्य, गुण, समवाय, संयोग आदि संज्ञाओं के भाजन बन जाते हैं।* वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि गुण आदि के सद्भाव में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है, और प्रत्यक्ष गुण-गुणी आदि को एकात्मक (तादात्म्य वाले) प्रदर्शित करता है।†

---

* ब्रह्मसूत्र भाष्य, २। २। १७

† गुणादि सद्भावे तद्भेदे च प्रत्यक्षानुभवादन्यस्य प्रमाणस्या भावात्तस्य च भ्रान्तत्वे सर्वाभावप्रसंगात्। पृ० ४४९

वैशेषिक के विरुद्ध शङ्कराचार्य ने और भी युक्तियां दी हैं। वस्तुतः उन का भेदवाद का खण्डन बहुत ही ओजस्वी और पूर्ण है। उन की आलोचना पढ़कर सहज ही मस्तिष्क में यह भाव उठता है—वैशेषिक का पदार्थ-विभाग तो सचमुच ही नितान्त अयौक्तिक है। योरप के अध्यात्मवादियों ने भी भेदवाद की आलोचना की है। किन्तु वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करके वे एक दूसरे ही परिणाम पर पहुँचे, सम्बद्ध-पदार्थ निरंश या निरवयव-रूप में एक Simple Unity न हो कर एक समष्टि के अंशभूत हैं। वैशेषिक जिसे समवाय-सम्बन्ध कहता है उसे योरप के आधुनिक अध्यात्मवादियों ने अन्तरङ्गसम्बन्ध (Internal Relation) नाम दिया है। यही नहीं, उन के मत में सब प्रकार के सम्बन्ध अन्तरङ्ग-सम्बन्ध हैं। इस धारणा का विकसित-रूप विश्व-तत्त्व की समष्टिरूप में कल्पना है। खेद है कि शङ्कर की प्रखर आलोचना ने भारतवर्ष में हीगल और ग्रीन, ब्रेडले आदि के समरूप 'समष्टि-ब्रह्मवाद' को उपस्थित होने से रोका। भारतीय भेदाभेद-वाद कुछ-कुछ उक्त पश्चिमी दर्शन से समानता रखता था, पर वह भी यहां ठीक से नहीं पनप सका।

परमाणुवाद– अभीतक हमने वैशेषिक के वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया, उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये विश्व के स्थित्यात्मक विश्लेषण (Static Analysis) पर विचार किया। किन्तु वैशेषिक दर्शन का एक दूसरा पहलू भी है जिसका सम्बन्ध विश्व के परवर्त्तनीय रूपों से है। वैशेषिक परमाणुवाद गतिशील विश्व के मात्र भौतिक अंश की व्याख्या का प्रयत्न है, वह प्राचीन भारत का भौतिकशास्त्र (Physics) है। वैशेषिक परमाणुवाद हमारी इस बात की पुष्टि करता है कि इस दर्शन की प्रवृत्ति मुख्यतः विश्व की व्याख्या करने में थी। न्याय-वैशेषिक का समूचा साहित्य इस बात का साक्षी है। इन दर्शनों के व्याख्याता 'पीलुपाक' और 'पिठरपाक' * जैसे प्रश्नों

* दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक बनता है, तीन द्वयणुकों से

पर उतनी ही गंभीरता से विचार करते हैं जितनी कि आत्मा या ईश्वर के अस्तित्त्व पर। 'न्याय मञ्जरी' में चार्वाक-धूर्त की भर्त्सना करते हुये जयन्तभट्ट कहता है:—चार्वाकधूर्त्तस्तु अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय प्रमाण प्रमेय संख्यालक्षणनियमाशक्यकरणीयत्त्वमेव व्याख्यातवान्;‡ अर्थात् 'अब हम तत्त्व की व्याख्या करेंगे' इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त्त चार्वाक केवल यही सिद्ध करके सन्तुष्ट हो गया कि प्रमाण, प्रमेय आदि की संख्या और लक्षण-विषयक नियम करना सम्भव नहीं है।

वैशेषिक दर्शन विस्तार से यह बताने की चेष्टा करता है कि किस प्रकार मूल परमाणुओं के संयोग से क्रमशः दीखने योग्य विभिन्न परिमाणों वाले पदार्थों की सृष्टि होती है। यही नहीं, वह यह भी बताने का प्रयत्न करता है कि कारणभूत परमाणुओं और कार्यरूप मूर्त्तपिण्डों के गुणों आदि में किस प्रकार का सम्बन्ध रहता है, और नये गुणों का किस प्रकार आविर्भाव होता है। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और न दीखने योग्य हैं, फिर उनसे दृश्य-कार्य कैसे उत्पन्न होता है? परिमण्डल परिमाण से ह्रस्व और दीर्घपरिमाण कैसे उत्पन्न होते हैं? वैशेषिक का उत्तर है कि बड़े परिमाणों का कारण संयुक्त होने वाले परमाणुओं की द्वित्व आदि संख्या है, स्वयं परमाणु नहीं। यह आलोचना इस बात का

एक त्र्यणुक; इस प्रकार पिण्ड पदार्थ उद्भूत होते हैं। अग्नि के प्रभाव से पिण्डों के गुण बदल जाते हैं—कच्चा घड़ा पक जाता है और उस का रंग बदल जाता है। वैशेषिक (पीलुपाक) के अनुसार पहले घड़ा परमाणुओं में विशीर्ण हो जाता है, फिर परमाणुओं का रंग आदि बदलता है, और घड़ा पुनः संगठित होता है। न्याय का मत दूसरा है। उसके अनुसार तेज-परमाणु घड़े में प्रवेश करके उसका वर्ण-परिवर्तन कर देते हैं। घड़े का परमाणुओं में विशीर्ण होना और फिर बनना अनुभव-सिद्ध नहीं है। यह मत पिठरपाक कहलाता है।

‡पाज़िटिव साइन्सेज़, पृ० २५२ पर उद्धृत।

निदर्शन है कि उक्त दर्शन की विश्व-व्याख्या में वास्तविक अभिरुचि है।

वैशेषिक सूत्र में हम पढ़ते हैं, 'कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है' (कारणाभावाद्कार्याभावः), 'सत् और कारणहीन पदार्थ को नित्य कहते हैं', एवं 'उत्पत्ति से पहले कार्य असत् होता है।' इतने प्राचीन सूत्रों में इतनी वैज्ञानिक परिभाषाएँ देख कर सचमुच ही सूत्रकार की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। वैशेषिक का कारणता-सम्बन्धी सिद्धान्त आरम्भवाद या असत्कार्यवाद कहलाता है। उक्त दर्शन के अनुसार नूतनताओं का आविर्भाव एक वास्तविकता है। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की दृष्टि से यह सिद्धांत सदोष है। भगवद्गीता भी घोषणा करती है कि असत् का कभी भाव नहीं होता (नासतो विद्यते भावः), किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि वैशेषिक का आरम्भवाद परिवर्त्तन और उत्पत्ति की पूर्ण व्याख्या न होते हुए भी अनुभव-विरुद्ध नहीं है। वर्त्तमानकाल में ह्वाइटहेड जैसे मनीषियों ने विज्ञान की गौण-गुणों (Secondary Qualities) को उड़ा देने की प्रवृत्ति की तीव्र आलोचना की है।* अति आधुनिक एस. एलेग्जेण्डर और लॉयड मार्गन का नव्योत्क्रांतिवाद (Emergent Evolution), वैशेषिक आरम्भवाद का ही नवीन संस्करण कहा जा सकता है। असत्कार्यवाद के घोर आलोचक वेदान्तियों का विवर्त्तवाद भी किसी-न-किसी रूप में नूतनताओं के आविर्भाव को स्वीकार करता है, यद्यपि वेदान्त के अनुसार यह नूतनताएँ अनिर्वाच्य हैं। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां का सृजनात्मक विकासवाद (Creative Evolution) तो आरम्भवाद का सब से

---

*We forget how strained and paradoxical is the view of nature which modern science imposes on our thoughts (Science and the Modern world, p. 103).

अतिरंजितरूप है।❀

जैसा कि हमने इंगित किया आरम्भवाद उत्पत्ति और परिवर्त्तन की अपूर्ण व्याख्या है। शाङ्करभाष्य में असत्कार्यवाद का तीव्र खण्डन किया गया है, किन्तु यहां हम शङ्कर के आक्षेपों का विवरण नहीं देंगे। देखने की बात यह है कि आरम्भवाद या असत्कार्यवाद यह बताने में नितान्त असमर्थ है कि कारण-विशेष से किसी विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति क्यों होती है। तिलों से ही तैल निकलता है, बालू से नहीं, इसका क्या कारण है? कारणता का यह सिद्धान्त सृष्टि-क्रिया या विश्व-विकास की गतिमयता की कोई सङ्गत व्याख्या नहीं देता। यहां पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि वैशेषिक परमाणुवाद केवल अनित्य जगत् के परिवर्त्तनों की व्याख्या का प्रयत्न है। वैशेषिक दर्शन के अनेक नित्य पदार्थों का परिवर्तन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैशेषिक के मत में कार्य और कारण में समवाय-सम्बन्ध होता है, किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। एक कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं, इसलिए कार्य और किसी विशिष्ट कारण में नित्य सम्बन्ध नहीं है। यह मन्तव्य भी इस बात का द्योतक है कि वैशेषिक के कारण कार्यों को उत्पन्न करने में किसी आन्तरिक आवश्यकता (Inner Necessity) के अधीन नहीं हैं। वैशेषिक दर्शन कर्म या गति को परमाणुओं से अलग पदार्थ मानता है, यह भी ऊपर की प्रवृत्ति का ही निदर्शन है। यही बात जैन-परमाणुवाद के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वहां भी गति या धर्मास्तिकाय अलग पदार्थ माना गया है, यद्यपि उमास्वामी ने परमाणुओं के संयोग का कारण संयुक्त होने वाले परमाणुओं के गुण-

---

❀ **इस सम्बन्ध में बर्गसां के कला-सम्बन्धी विचार दर्शनीय हैं। संक्षेप में, बर्गसां कलात्मक अनुभूति को नितान्त** individual **अर्थात् निराले रूपवाली, जिसका अन्य अनुभूतियों से जातिगत साम्य नहीं है, मानता है। दे० उनकी पुस्तक,** An Essay on Laughter **अन्तिम भाग।**

वैषम्य को बतलाया है।* वास्तव में गति-तत्त्व को परमाणुओं से अलग कर देने पर उनमें भौतिक जगत् को उत्पन्न करने की क्षमता स्थापित करना नितान्त कठिन है। इसलिए वैशेषिक दर्शन को गति और परमाणुओं के अतिरिक्त अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ी है। परमाणुओं के द्वयणुक आदि रूपों में सङ्गठित होने का कारण अदृष्ट है। श्रीधर कहते हैं—अदृष्टकारिता सर्वभावानां सृष्टिः, अर्थात् सब भाव पदार्थों की सृष्टि का हेतु अदृष्ट है। ❈अदृष्ट के बदले ईश्वर को यह काम सौंपने पर पर जड़-जगत् की स्वतन्त्रता और निरपेक्षता व्यर्थ ही सीमित हो जाती है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन को न यन्त्रवादी कहा जा सकता है, न प्रयोजनवादी; विश्व-सृष्टि का रहस्य न पीछे आने वाले कारणों में है, और न किसी भविष्य में फलीभूत होने वाले प्रयोजन में। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन का सामान्य दृष्टिकोण स्थिर (Static) है, वह विश्व की परिवर्त्तन-शीलता से अधिक प्रभावित नहीं दिखाई देता।† वैशेषिक दर्शन को जड़वादी कहते हुए अधिक संकोच नहीं होना चाहिए; न केवल इसलिए कि उसने आत्म-तत्त्व को पृथिव्यादि भूतों के साथ एक श्रेणी में बांध कर वर्णित कर दिया है, बल्कि इसलिए भी कि वह चैतन्य को आत्मा का प्रधान या नित्य गुण नहीं मानता। वास्तव में वैशेषिक ने जड़ और चेतन के प्रभेद को समझाने का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किया। भारतीय दर्शनों में उपनिषदों के आत्मवाद से सब से कम प्रभावित दर्शन वैशेषिक दर्शन है।

सांख्य दर्शन

विश्व-प्रक्रिया को अपने में पूर्ण या निरपेक्ष (Autonomous)

---

* दे० पौज़िटिव साइन्सेज़, पृ० ९६-९८

❈ वही, पृ० १००

†आरंभवाद 'परिवर्त्तन' एवं 'नूतनता के आविर्भाव' को स्वीकार करता है, पर उसकी कोई युक्तिपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता।

रूप में कल्पित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न सांख्य दर्शन ने किया है। वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से सांख्य दर्शन विश्व-प्रक्रिया की सर्वश्रेष्ठ भारतीय व्याख्या है। वैशेषिक के सात पदार्थों, नव द्रव्यों, चौबीस गुणों आदि के बदले सांख्य दर्शन केवल एक मौलिक-तत्त्व की कल्पना करता है, त्रिगुणमयी प्रकृति। सांख्य दर्शन का दूसरा तत्त्व पुरुष है सही, किन्तु वह विश्व-प्रक्रिया के विकास में कोई महत्त्वपूर्ण पार्ट नहीं खेलता। पुरुष असङ्ग है, वह न वास्तविक भोक्ता है न कर्त्ता; जिन्हें हम जीवन या चेतन के व्यापार कहते हैं वे भी बहुत अंश तक प्रकृति के ही कार्य या परिणाम हैं। पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति चेतन की भांति प्रवृत्त होने लगती है; वह देखती है, सुनती है, सोचती है, विचारती है, सुखी होती है और दुःख महसूस करती है। भ्रम या अविवेक से यह सब क्रियाएँ पुरुष में आरोपित हो जाती हैं। यह मिथ्यारोपण ही पुरुष का बन्धन है।

वैशेषिक की भांति सांख्य गति-तत्त्व को मूलद्रव्य से भिन्न कल्पित नहीं करता। त्रिगुणमयी प्रकृति का रजस्-गुण स्वभावतः ही चल या गतिमय है, उसकी उपस्थिति के कारण प्रकृति निरन्तर परिणमित या परिवर्त्तित होती रहती है (प्रकृतिर्हि परिणमनशीला क्षणमप्यपरिणम्यनावतिष्ठते—व्यासभाष्य)। प्रलयावस्था में प्रकृति निष्पंद या क्रियाहीन नहीं हो जाती, उस समय भी उसमें स्वजातीय परिणाम होता रहता है। * सृष्टि रचना विजातीय परिणाम का फल है। प्रकृति के तीन गुण वैशेषिक के 'निष्क्रिय' और 'निर्गुण, पदार्थ नहीं है। सांख्य को गुण-गुणी का भेद मान्य नहीं है, गुणी या द्रव्य के एक विशेष प्रकार से क्रियाशील होने को ही उसका गुण कहते हैं। ‡ प्रकृति के तीन गुण तीन प्रकार की शक्तियाँ (Energies) हैं, विज्ञानभिक्षु के अनुसार सांख्य के यह गुण वैशेषिक द्रव्यतत्त्व से अधिक मिलते हैं। तीन

* प्रतिक्षण परिणामिनो हि सर्व एक भावा ऋते चितिशक्तेः —सांख्यतत्त्व कौमुदी, ५

‡ दास गुप्त, वही, पृ० २४४

गुण तीन भिन्न प्रकारों से क्रियाशील होते हैं। सतोगुण लघु, प्रकाश करने वाला और प्रीत्यात्मक है; रजोगुण चञ्चल, क्रिया में प्रवृत्त करने वाला और अप्रीत्यात्मक है; तमोगुण भारी, कर्म से रोकने वाला, आलस्योत्पादक और विषादात्मक है। तीन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, गुणों की विषमता से प्रकृति में विकार या परिणाम होने लगता है और उससे इस विविध विश्व का विकास होता है।

सांख्य ने विकासप्रक्रिया को विस्तार से समझाने की कोशिश की है। विकास-प्रक्रिया में संसृष्ट (Integrated) भावों से विविक्त (Differentiated) भावों का उदय होता है, अविशिष्ट (Indeterminate) भावों से विशिष्ट (Determinate) भावों का, एवं युतसिद्ध अवयव-समूहों (Incoherent) से अयुतसिद्ध अवयव-समूहों (Coherent) का।❋ विकास का यह फार्मूला हर्बर्ट स्पेन्सर के दिये हुए विकास के लक्षण से आश्चर्यजनक समानता रखता है। स्पेन्सर के अनुसार भी 'विकास वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनिश्चित रूपरेखा वाले (Indefinite), युतसिद्धावयवरूप (Incoherent) और संसृष्ट भाव, निश्चित रूपरेखा वाले, अयुतसिद्धावयवरूप, विविक्त (Heterogeneous) भावों में परिणत होते हैं।'

सांख्य के विकास के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथमतः यह कि सांख्य देश, काल आदि पदार्थों की अलग या स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता, यह सब प्रकृति के ही परिणाम हैं। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की भांति सांख्य भी रूप, रस आदि गौण गुणों को परिमाणगत (Quantitative) परिवर्त्तनों का कार्य मानता है।* मात्रा भेद से गुण-भेद की व्याख्या करने की यह प्रवृत्ति सर्वथा आधुनिक है। काल

❋ दे० पाज़िटिव साइन्सेज़, पृ० ७-११; और दासगुप्त, वही पृ० २४६

* तन्मात्ररूपादेः किं कारणम् इति चेत् स्वकारणद्रव्याणां न्यूनाधिकभावेन अन्योन्यं प्रति संयोगविशेष एवं।

—पाज़िटिव साइन्सेज़, पृ० २९ पर उद्धृत।

के बारे में व्यास-भाष्य का कथन है कि वह "बुद्धिनिर्माण" अर्थात् बुद्धि द्वारा निर्मित या कल्पित है ; बुद्धि स्वभावतः वस्तुओं को कालिक ढांचे में ढाल कर देखती है। क्षण, मुहूर्त्त, रात, दिन आदि बुद्धि की कल्पनाएँ हैं ; वे विकास-प्रक्रिया को देखने के विशिष्ट प्रकार या ढंग मात्र हैं, जबकि महाकाल की कल्पना निर्विषयक विकल्पमात्र है।* इसी प्रकार देश की धारणा को भी समझना चाहिये। यह सिद्धान्त काण्ट के अध्यात्मवाद से समानता रखता है।

सांख्य के विकासवाद में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण मन्तव्य यह है कि भौतिक जगत् की व्यक्तियाँ ही नहीं, मनोवैज्ञानिक या मानसिक-जगत् की व्यक्तियाँ भी प्रकृति का ही दूरवर्ती परिणाम हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व या बुद्धि विकसित होती है, और बुद्धि से अहंकार। विकसित तत्त्वों के नाम ही इस बात के द्योतक हैं कि वे केवल भौतिक नहीं हैं। अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है, एक भूतसर्ग, और दूसरा प्रत्ययसर्ग ; एक ओर तो पांच तन्मात्राओं और पंच-महाभूतों का विकास होता है, और दूसरी ओर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का। पर्वत, नदी, ग्रह, उपग्रह आदि ही नहीं, हमारे सुख, दुख, विचार भावनाएँ और मनोवेग भी सत्-रज-तममयी प्रकृति के ही विकार हैं। इस प्रकार विश्व के लगभग अशेष पदार्थों, मानसिक और अमानसिक या भौतिक तत्त्वों, का मूल एकमात्र प्रकृति है।

सांख्य का कारणता-सम्बन्धी सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है। कार्य कारण का ही संस्थान-विशेष या रूप-विशेष है। उत्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है, और किसी भाव के उत्पन्न होने का अर्थ उसके अपने कारण में अन्तर्हित रूप का प्रकट हो जाना है। अपने बृहदारण्यक-भाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने सत्कार्यवाद का बड़ा सुन्दर निरूपण किया

* योगदर्शन के अनुसार विकल्प उस धारणा को कहते हैं जिसका वस्तु-जगत् में कोई आधार नहीं होता, जो केवल शब्द-मात्र है। (शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः)।

है। वे लिखते हैं:—

सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्यतिरोधानं कुर्वत्कार्यान्तरमुत्पादयति। एकस्मिन् कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्..........

प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तररूपेणसंस्थानं, तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्यावृतत्वादनुपलब्धिः।*

भाव यह है कि उत्पत्ति से पहले घट पिण्ड आदि अवयवों में अनभिव्यक्तरूप में वर्तमान होता है। उसकी अभिव्यक्ति को रोकने वाला अथवा उसका आवरण करनेवाला मिट्टी का पिण्डादि दूसरा कार्य होता है। एक समय में कारण एक ही कार्य के रूप में दिखाई दे सकता है; उस समय उसके दूसरे कार्य अप्रकट रहते हैं। अभिप्राय यह है कि एक ही कारण-सामग्री विभिन्न रूपों में संसृष्ट हो सकती है। यह सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान के अनुकूल है। विज्ञान के अनुसार पुद्गल-शक्ति विभिन्न रूप धारण कर सकती है, किन्तु कुल मिलाकर उसका परिमाण अपरिवर्त्तित रहता है।

विकसित सांख्य से पहिले भगवान् बुद्ध ने अपने प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का प्रचार किया था। प्रतीत्यसमुत्पाद का सीधा अर्थ यही है कि जो कुछ उत्पन्न होता है वह किसी कारण से, विश्व में कुछ भी अकारण घटित नहीं होता। विश्व-घटनाओं की व्याख्या उनके अतीत में ढूँढ़नी चाहिये। इस मन्तव्य में यन्त्रवाद (Mechanicalism) का बीज छिपा है। प्रत्येक घटना किसी कारण पर अवलम्बित होती है, यह सिद्धान्त वैशेषिक दर्शन को भी मान्य है, किन्तु वैशेषिक दर्शन कारण से कार्य का उत्पन्न होना आवश्यक नहीं समझता। बौद्ध दर्शन ने इस अन्तिम मन्तव्य को क्षणिकवाद के अतिरंजितरूप में अपनाकर विश्वप्रक्रिया की प्रवाहमयता पर ज़ोर दिया। यूनानी दार्शनिक हेराक्लाइटस ने भी विश्व को प्रवाह-रूप कथित किया, किन्तु वह बौद्ध दर्शन की भांति अपनी सम्मति को कार्यकारणभाव की धारणा से सम्बद्ध नहीं कर सका। बुद्धजी

* बृह० उप० भाष्य, १।१।१

ने इतने प्राचीन-काल में कार्यकारणभाव की धारणा को इतने स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया, यह भारतीय दर्शन के लिये गौरव की बात है। सांख्य दर्शन यद्यपि बौद्ध क्षणिकवाद को नहीं मानता, फिर भी वह प्रकृति की निरन्तर परिणामनशीलता को स्वीकार करता है। इसलिये सांख्य के विकास का आधार कारणभूत प्रकृति के गुणों की सततक्रिया-शीलता को ही समझना चाहिये। इस दृष्टि से हम सांख्य की दी हुई विश्व की व्याख्या को यन्त्रवाद (Mechanical Explanation) कह सकते हैं। जैसा कि हमने ऊपर इंगित किया, सांख्य क यन्त्रवाद केवल भौतिक जगत् तक ही सीमित नहीं है, मानसिक भावों का कारण भी त्रिगुणमयी क्रियाशील प्रकृति ही है। गीता कहती है प्रकृतेःक्रिय-म णानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते, अर्थात् मनुष्य के सब व्यापार वस्तुतः प्रकृति के गुणों द्वारा ही अनु-ष्ठित होते हैं, अहंकार के वश होकर वह भूल से अपने को कर्त्ता मान लेता है। सांख्य को गीता का कथन सर्वांश में अभिमत है। इसका अर्थ यह हुआ कि चेतन के व्यापार वास्तव में प्रकृति के व्यापार हैं और वह उनके लिए वस्तुतः उत्तरदायी नहीं है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष वास्तव में न बंधता है और न मुक्त होता है।

संसार के सब पदार्थ त्रिगुणमय हैं, और वे सत्कार्यवाद के अखण्ड नियम के अनुसार अनवरत त्रिगुणमय कारणों से उत्पन्न हो रहे हैं। सांख्य किसी अपूर्व को नहीं मानता, वह किसी ईश्वर को भी नहीं मानता। विश्व-प्रक्रिया अपने में पूर्ण और निरपेक्ष है, और उसमें घटित होनेवाली प्रत्येक घटना का हेतु या कारण उसके अतीत में है। यह सब मान्यताएँ यन्त्रवाद की पोषक हैं। किन्तु सांख्य इतना ही कहकर संतुष्ट नहीं हो जाता। वह एक दूसरे तत्त्व पुरुष को मानता है और वह यह भी मानता है कि प्रकृति का विकास पुरुष को मुक्त करने के लिए होता है। विकास-प्रक्रिया सप्रयोजन है। सांख्य सृष्टि और प्रलय के सिद्धांत को स्वीकार करता है, इसलिए वह कठिनाई से बचने के लिए यह भी

मान लेता है कि प्रारम्भ में प्रकृति की साम्यावस्था का भंग पुरुष की उपस्थिति के कारण होता है।

अन्य सम्प्रदायों ने सांख्य की इन कमज़ोर मान्यताओं का तीव्र खण्डन किया। पुरुष असंग है, फिर वह प्रकृति की साम्यावस्था को किस प्रकार भङ्ग कर सकता है। प्रकृति अचेतन है, वह पुरुष की मुक्ति के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकती है? दूसरे, अचेतन, पूर्वापर को समझने की शक्ति से शून्य, प्रकृति इस नाना रचना-युक्त, चेतन-प्राणियों के विभिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले नियमित जगत् की सृष्टि कैसे कर सकती है?*

किन्तु सांख्य की यह कठिनाइयां कृत्रिम हैं। वैशेषिक के विरुद्ध भी शङ्कराचार्य ने यह आक्षेप उठाया है कि परमाणुओं को द्वयणुक आदि रूपों में संयुक्त करने के लिए चेतन कारण अपेक्षित है। वास्तव में सांख्य और वैशेषिक दोनों के लिए सृष्टि और प्रलय का सिद्धांत मानना दार्शनिक आवश्यकता नहीं है, इसलिए उक्त आक्षेप महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। विश्व की 'रचना' चेतन कर्त्ता की अपेक्षा करती है, यह आक्षेप भी, विकास-सिद्धांत के प्रचार के बाद, महत्त्वपूर्ण नहीं है। सांख्य दर्शन का सबसे कमज़ोर अंश उसका प्रयोजनवाद है। 'जिस प्रकार बछड़े की शरीर-वृद्धि के लिए अचेतन दूध गाय के स्तनों से प्रस्रवित होने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति अज्ञात भाव से पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।' यह दृष्टांत युक्ति का काम नहीं दे सकता और सांख्य के प्रयोजनवाद में विश्वास उत्पन्न करने में नितान्त असमर्थ है। वास्तव में सांख्य का प्रयोजनवाद उसके मोक्ष-वाद को स्वीकार कर लेने का परिणाम है, और वह सांख्य दर्शन का प्रधानतत्त्व नहीं मालूम पड़ता। यदि सांख्य पुरुष को सर्वथा निष्क्रिय न बना डालता, तो यह कहना सम्भव होता कि किसी प्रकार पुरुष विश्व-प्रक्रिया का अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए—अपना और प्रकृति

* दे० ब्रह्मसूत्र पर शां० भा०, २।२।१, २

का ज्ञान या विवेक सम्पादन करने के लिये—उपयोग कर डालता है।

सांख्य पूरे हृदय से प्रयोजनवादी भले ही न हो, किन्तु वह जड़वादी नहीं है। पुरुष की सिद्धि के लिए सांख्य ने अनेक युक्तियां दी हैं, उनमें से एक है, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। मनुष्य में मोक्ष के लिए, पूर्ण या अनन्त जीवन के लिए, तीव्र इच्छा पाई जाती है। यह इच्छा अचेतन प्रकृति और उसके विकारों में सम्मत नहीं हैं; आदर्श की खोज मानव व्यक्तित्व में प्राकृतिक तत्त्वों के अतिरिक्त किसी ऊँची सत्ता को इंगित करती है। यह सत्ता चिन्मय आत्मतत्त्व या पुरुष है। **यहाँ सांख्य यह मान लेता है कि अचेतन प्रकृति किसी ऊँचे उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त नहीं हो सकती।** पुरुष-तत्त्व को मानना आवश्यक है। किन्तु सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति में क्रियाप्रतिक्रिया नहीं मानता। स्पिनोज़ा की भांति वह जड़ और चेतन भाव-शृङ्खलाओं में समानान्तरभाव भी नहीं मानता। सांख्य का पुरुष परिवर्त्तनशील नहीं है। उसके प्रतिबिम्बमात्र से अन्तःकरण की जड़ वृत्तियां जीवित और सचेतन दीखने लगती हैं। सांख्य दर्शन अपने आत्मवाद और प्रकृतिवाद में सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सका। उसका द्वैतवाद उसके प्रयोजनवाद को और भी दुर्बल बना देता है। किन्तु अनुभव पर दृष्टि रखते हुए सांख्य दर्शन पुरुष की सत्ता से इन्कार नहीं कर सका, और न वह प्रकृति-जगत् की निरपेक्षता को ही अस्वीकार कर सका। जड़-जगत् और मानवकर्म-जगत् दोनों में सांख्य को अखण्ड नियमों का शासन दिखाई दिया, दोनों जगत् तीन गुणों के क्रीड़ा-स्थल प्रतीत हुए, और उसने नियतवाद (Determinism) को भी स्वीकार कर लिया।

भारत के अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में से प्रत्येक पर वैशेषिक या सांख्य दोनों में से एक का प्रभाव देखा जा सकता है। वैशेषिक के वर्गीकरण की प्रवृत्ति मीमांसा के दोनों स्कूलों, जैन दर्शन एवं रामानुज दर्शन में पाई जाती है, तथा वेदांत पर सांख्य की छाप स्पष्ट है। वेदांत

यद्यपि सांख्य के विकास-क्रम को स्वीकार नहीं करता, फिर भी वह प्रकृति को मायारूप में स्वीकार कर लेता है। साथ ही साथ सांख्य की लिङ्ग-शरीर, अन्तःकरण और ज्ञान-प्रक्रिया की धारणाओं से वेदांत काफ़ी प्रभावित हुआ है।

वेदान्त

पहले अध्याय में हमने कहा कि सृष्टि-विकास की व्याख्या में फँसना वेदांत को विशेष प्रिय नहीं है। उसका उद्देश्य मुख्यतः आत्मा के स्वरूप का निर्णय करना है। इसलिए वेदांत दर्शन आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध समझाने की ही विशेष चेष्टा करता है। ब्रह्म और आत्मा एक हैं, तथा ब्रह्म विश्व का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, वेदांत की यही दो मुख्य मान्यताएँ हैं। ब्रह्म के जगत्-कारणत्व पर गौरव देना आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा केवल ब्रह्म पर्याप्त न होगा और श्रुति की यह प्रतिज्ञा कि एक को जानने से सबका ज्ञान हो जाता है, झूठी हो जायगी।

अनिर्वचनीय का अर्थ

यहाँ वेदांत के विश्व-प्रक्रिया-सम्बन्धी सिद्धांत के बारे में हम एक भ्रम का निवारण कर देना उचित समझते हैं। यह प्रसिद्ध है कि वेदांत विश्वजगत् को अनिर्वचनीय घोषित करता है। अनिर्वचनीयता का क्या अर्थ है? प्रसिद्ध वेदांती श्रीहर्ष ने अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' में अनिर्वचनीय की संदेहवादी या अज्ञेयवादी (Sceptical) व्याख्या देने की चेष्टा की है। श्रीहर्ष का कथन है कि प्रमाण, प्रमेय आदि न्याय-वैशेषिक के किसी पदार्थ की बुद्धिसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती। विश्व के सब पदार्थ अनिर्वचनीय अर्थात् अव्याख्येय हैं। श्रीहर्ष के मत में अनिर्वचनीय पदार्थ वह है जिसका निर्वचन अर्थात् लक्षण या परिभाषा न हो सके। विश्व के अशेष पदार्थ इस अर्थ में अनिर्वाच्य हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों की ठीक-ठीक परिभाषा या व्याख्या सम्भव नहीं है। जब स्वयं प्रमाणों का यह हाल है तो

फिर अपने ज्ञान के लिए प्रमाणों पर निर्भर करनेवाले अन्य पदार्थों का तो कहना ही क्या ! इस प्रकार श्रीहर्ष विश्व-प्रपञ्च को अज्ञेय या अव्याख्येय घोषित कर देता है ।

श्रीहर्ष की तर्क-पद्धति पर बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का बहुत प्रभाव पड़ा था । स्वयं श्रीहर्ष ने इसको स्वीकार किया है । उसने एक जगह लिखा है कि वेदांत और माध्यमिक के शून्यवाद में केवल यही अन्तर है कि जहाँ माध्यमिक अशेष विश्व को अनिर्वाच्य मानता है वहां वेदांत ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व का अपवाद कर देता है; केवल आत्म-तत्त्व ही अनिर्वाच्य नहीं है ।

यहां प्रश्न उठता है, क्या वेदांत के प्रवर्त्तक शंकराचार्य भी विश्व-प्रपञ्च को श्रीहर्ष के अर्थ में अनिर्वाच्य कथित करते हैं ? हमारे विचार में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए । अपने भाष्य में प्रमाण, प्रमेय आदि के व्यवहार को न मानने वाले माध्यमिक की शङ्कराचार्य ने तीव्र भर्त्सना की है, यहाँ तक कि वे माध्यमिक को इस योग्य भी नहीं समझते कि उससे तर्क या विवाद किया जाय—'शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते । न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्व-मनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः'—* अर्थात् शून्यवादी माध्यमिक का मत सब प्रमाणों के विरुद्ध है, इसलिए उस का खण्डन करके उस का आदर नहीं करते । सब प्रमाणों से सिद्ध लोक-व्यवहार का अपह्नव अर्थात् निषेध नहीं किया जा सकता, इत्यादि । शङ्कराचार्य, जैसा कि इस अवतरण से स्पष्ट है, प्रमाणों को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते । माध्यमिक के प्रति उनका अनादरभाव और श्रीहर्ष का यह स्वीकार करना कि माध्यमिक दर्शन और वेदान्त दर्शन विशेष भिन्न नहीं हैं, इन दोनों में सङ्गति नहीं बैठती । इससे स्पष्ट यही परिणाम निकलता है कि श्रीहर्ष ने शङ्कराचार्य के सिद्धान्त को ठीक-ठीक नहीं समझा है । वास्तव

---

* ब्र० शां भा० २।२।३१

में जब शंकर विश्व को अनिवर्चनीय कहते हैं, तो उनका यह अभिप्राय नहीं है कि विश्व-प्रक्रिया अव्याख्येय या अज्ञेय अथवा बुद्धिविरोधिनी (Self-contradictory) है, जैसा कि माध्यमिक नागार्जुन और अंग्रेज़ दार्शनिक ब्रेडले का मत है। वास्तव में शङ्कर का अनिवर्चनीय एक भावात्मक धारणा है, जिसका उद्देश्य विश्व-प्रपञ्च की व्याख्या करना है, उसे अव्याख्येय घोषित करना नहीं। नागार्जुन, ब्रेडले और श्रीहर्ष तीनों के अनुसार विश्वप्रपञ्च अव्याख्येय (Inexplicable) **अर्थात्** अज्ञेय है; किन्तु शङ्कराचार्य विश्व को नियमित, नियन्त्रित और ज्ञेय बतलाते हैं। नागार्जुन विश्व के पदार्थों को निःस्वभाव कथित करता है, ब्रेडले सब पदार्थों को विरोधग्रस्त या बुद्धिविरोधी घोषित करता है; शङ्कर को विश्व के सम्बन्ध में यह दोनों ही मत ग्राह्य नहीं होंगे। यह निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगाः—

(अ) अस्य जगतो·········नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य·········**प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य** मनसाप्यचिन्त्यरचना रूपस्य इत्यादि (ब्र० शां० भा० १ । २ । २)

(आ) तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोग्यं···**प्रतिनियतावयवविन्यास**मनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं······(वही, २।२।१)

(इ) तत एव निःसृतं नियमेन चेष्टते·········**नियमेन** क्षणमप्य विश्रांतं वर्त्तते (कठभाष्य ६ । २)

(ई) सर्वपदार्थानां **नियतनिमित्तोपादानात्** (बृह० उ० भा० ३।४।१०)

(उ) यद्धर्मको यः पदार्थः **प्रमाणेनावगतो** भवति स देशकालान्तरेष्वपि तद्धर्मक एव भवति, सचेत् तद्धर्मकत्वं व्यभिचरति सर्वः प्रमाणभावो लुप्येत (वही, २ । १ । २०)

(ऊ) न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम् **एकरूपत्वात्** (शां० भा० २ । १ । ३६)

(ए) विदितन्नाम यद् विदिक्रिययातिशयेनाप्तं विदिक्रियाकर्मभूतं,

क्वचित्किञ्चत्कस्यचिद् विदितं स्यादिति सर्वं व्याकृतं **विदितमेव** (केन-भाष्य १।४)*

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि शङ्कराचार्य विश्वप्रपञ्च को एक **नियमित** समष्टि समझते हैं जिसका एक **निश्चित** स्वरूप है और जिसे **जाना** जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि विश्व के ज्ञान प्राप्त करने का साधन प्रमाण हैं। शङ्कर की इस प्रकार की उक्तियों के रहते हुए उनकी माध्यमिक से तुलना करना अथवा उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहना उचित नहीं। वास्तव में शङ्कराचार्य अनुभवविरोधी-तर्क अथवा कुतर्क के तीव्र आलोचक हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि शङ्कर तर्क को अप्रतिष्ठित मानते हैं। बृहदारण्यकभाष्य में वे एक जगह कहते हैं:- तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैः अस्तिनास्तिकर्त्ताऽकर्त्तेति विरुद्धं बहुतर्कयद्भिराकुलीकृतः शास्त्रार्थः (१।४।१०), अर्थात् 'है' 'नहीं है' 'कर्त्ता-अकर्त्ता' आदि की तर्कनाएँ करने वाले तार्किक लोग श्रुति के अर्थ को असमञ्जस में डाल देते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अपनी विस्तृत ब्रह्म-सूत्र और उपनिषदों की टीकाओं में शङ्कराचार्य ने नागार्जुन-ब्रेडले-श्रीहर्ष के ढंग के युक्तिवाद का कहीं आश्रय नहीं लिया है, न उनके भाष्यों में मण्डन मिश्र की "ब्रह्मसिद्धि" की भांति 'भेद' का तर्कनात्मक

---

* अ—नामरूप से व्याकृत जगत् के······ देश काल-कारण आदि के नियम निश्चित हैं, वह क्रियाफलों का आश्रय है··· इत्यादि।

आ—जगत् के अवयव नियत रूप वाले हैं······।

इ—ब्रह्म से निःसृत जगत् अजस्र नियमानुकूल चेष्टा करता है।

ई—पदार्थों के निमित्त और उपादान कारण निश्चित या नियत हैं।

उ—प्रमाणों से पदार्थ जैसा प्रकट होता है, वैसा ही होता है। इसे न मानने से प्रमाणभाव लुप्त हो जायगा।

ऊ—अविद्या एकरूप है; वह वैषम्य का कारण नहीं बन सकती।

ए—विदित का अर्थ है ज्ञान-क्रिया का कर्म होने वाला; संसार में सब कुछ किसी न किसी को ज्ञात या विदित है।

(Dialectical) खण्डन ही किया गया है । निष्कर्ष यह है कि शङ्कर के मत में विश्व अनिर्वाच्य है, अव्याख्येय या अज्ञेय नहीं। अनिर्वाच्य शब्द का प्रयोग विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न है। 'जो सत् और असत् दोनों से भिन्न है वह अनिर्वचनीय है'। विज्ञानवाद का खण्डन करते हुये शङ्कर ने स्पष्ट कहा है कि जगत स्वप्न के समान नहीं है। विश्वप्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता है और उसके मिथ्यात्व का भान तभी हो सकता है जब आत्मसाक्षात्कार हो जाय उससे पहले जगत् को मिथ्या कहने का कोई कारण नहीं है।*

योरपीय दर्शन

हम निर्देश कर चुके हैं कि योरपीय दर्शन की प्रवृत्ति मुख्यतः विश्व की व्याख्या की ओर रही है। ऐसी दशा में यह अनिवार्य था कि योरप में भारतवर्ष की अपेक्षा विश्व-प्रक्रिया की अधिक-संख्यक व्याख्याएँ प्रस्तुत हों। पुनर्जागृति (Renaissance) के बाद योरप में धीरे धीरे वैज्ञानिक अन्वेषण का उदय हुआ, इस घटना ने भी योरपीय मस्तिष्क की उपर्युक्त प्रवृत्ति को पुष्ट और प्रोत्साहित किया। आधुनिक योरपीय दर्शन पर वैज्ञानिक प्रगति और चिन्तन की स्पष्ट छाप है।

डिमोक्राइटस का परामणुवाद

योरपीय दर्शन में विश्व की व्याख्या करने का पहला उल्लेख-

* स्वप्न के पदार्थों का मिथ्यात्व भी स्वतः नहीं है, अपितु जागृत काल के पदार्थों की अपेक्षा से है (जागृत बोधापेक्षन्तु तदनृतत्वं न स्वतः छा० शां० भा० ८।५।४) विश्व-प्रक्रिया के बारे में शंकर कहते हैं:—सर्व व्यवहारणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः। स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्व प्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतबुद्धि र्न कस्यचिदुत्पद्यते। इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि शंकर प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि उसकी अव्याख्येयता पर निर्भर नहीं करते। वस्तुतः उनके अनुसार जगत अव्याख्येय, या निःस्वभाव, या विरोधग्रस्त नहीं है।

नीय प्रयत्न डिमोक्राइटस (या ल्यूकीपस) का परमाणुवाद है। जैन दर्शन की भांति डिमोक्राइटस मौलिक परमाणुओं को एक ही प्रकार का मानता है। इस दृष्टि से यूनानी परमाणुवाद वैशेषिक परमाणुवाद से श्रेष्ठ है। रूप, रस, स्पर्श आदि धर्म मूल परमाणुओं के धर्म नहीं हैं; सांख्य की भांति यहां भी वे परिमाणगत भेदों के विकार हैं। डिमोक्राइटस के अनुसार आकाश या शून्य तथा परमाणुपुञ्ज, यही दो मूलतत्व हैं। आत्मा की सत्ता है, किन्तु आत्मा भी परमाणु विशेषों का ही संघात है। आत्मा का प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, और प्रतिक्षण सांस लेकर वह नये परमाणुओं से अपनी क्षति को पूरा करता है। आत्मा को बनाने वाले परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और गोलाकार होते हैं। अन्य पदार्थों के कारणभूत परमाणु दूसरे आकारों एवं परिमाणों के होते हैं—सब परमाणु एक ही आकार या परिमाण के नहीं हैं। डिमोक्राइटस बुद्धिवादी था; इन्द्रिय-ज्ञान विश्वासनीय नहीं है। बाह्य पदार्थ इन्द्रियों के मार्ग से अपनी तसवीरें भेजते हैं, जो आत्मा को प्रभावित करके 'प्रत्यक्ष' ज्ञान उत्पन्न करती हैं। यह तसवीरें रास्ते में विकृत हो जाती हैं। इसीलिये प्रत्यक्षानुभव विश्वसनीय नहीं है।

डिमोक्राइटस की वैज्ञानिकता सराहनीय है। यूनानी दर्शन को उसकी मुख्य देन अवकाश या शून्य (void) की स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में कल्पना है। किंतु यह मानना ही पड़ेगा कि वैशेषिककार की तुलना में डिमोक्राइटस की दृष्टि संकुचित या कम व्यापक है, वह सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव जैसे सूक्ष्म तत्वों और सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं देख पाती। वैशेषिककार ने सामान्य और विशेष को 'बुद्ध्यपेक्ष' अर्थात् बुद्धिमूलक या बुद्धिकल्पित कथन किया है, यह भी उनकी सूक्ष्मदर्शिता का द्योतक है। वैशेषिककार को जड़ और चेतन के प्रभेद का भी स्पष्ट आभास है, जो डिमोक्राइटस के दर्शन में नहीं पाया जाता।

वस्तुतः यूनानी दर्शन का गौरव डिमोक्राइटस का परमाणुवाद नहीं, अपितु प्लेटो और अरस्तू की प्रौढ़ दर्शन-पद्धतियां हैं। इन मनीषियों के

चिन्तन में दार्शनिक दृष्टि पूर्ण विकास और व्यापकता को प्राप्त कर लेती है। प्लेटों और अरस्तू ने बाद के योरपीय दर्शन को जितना प्रभावित किया है, उसका ठीक अनुमान करना कठिन है। जिस प्रकार महाभारत के सम्बन्ध में कहा गया है 'जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है', उसी प्रकार एक दार्शनिक प्रवाद है कि प्रत्येक विचारक या तो प्लेटो का या अरस्तू का, ज्ञात या अज्ञातभाव से, अनुयायी होता है। इन तत्त्ववेत्ताओं के दर्शनों को हमें विशेष अवधान और सहानुभूति से समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

प्लेटो का जातिप्रत्ययवाद

प्लेटो के जातिप्रत्ययवाद (Theory of Ideas) को समझने की चेष्टा का आरम्भ उसे ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से सम्बद्ध करने से होना चाहिये। प्लेटो का एक प्रधान उद्देश्य प्रोटेगोरस आदि संदेहवादियों को उचित उत्तर देना था। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रोटेगोरस के संशयवाद या अपेक्षावादसे बचने के लिए प्लेटो ने बुद्धिवाद का आश्रय लिया। इन्द्रियजन्य ज्ञान निश्चित और निरपेक्ष नहीं है, सोफिस्ट लोगों का सन्देह और अपेक्षावाद वास्तव में इन्द्रिय-ज्ञान को लागू होते हैं। बौद्धिक ज्ञान इन न्यूनताओं से ऊपर है। ज्ञान दो प्रकार का है, एक आपेक्षिक, या अनिश्चयात्मक, जिसे प्लेटो 'सम्मति' मात्र कहता है, और दूसरा वैज्ञानिक तथा निश्चयात्मक। पहले प्रकार का ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है और दूसरे प्रकार के ज्ञान का स्रोत बुद्धि है।

दो प्रकार के ज्ञानों के अनुकूल या अनुरूप ही दो प्रकार के जगत् हैं। इन्द्रिय-ज्ञान का विषय दीखने वाला अतात्त्विक या व्यावहारिक जगत् है, एवं बौद्धिक ज्ञान का विषय तात्त्विक जगत् है। यह तात्त्विक जगत् जाति-प्रत्ययों (Universals) का जगत् है जिसकी यह दृश्यमान जगत् छाया या नकल है। अपनी जातिप्रत्ययों की धारणा द्वारा प्लेटो यूनानी दर्शन की 'एक और अनेक' की समस्या का समाधान पा जाता है। अनेक विशेषों में पाई जाने वाली एकता का क्या

रहस्य है, अथवा एक और अनेक में क्या सम्बन्ध है, इसके उत्तर में प्लेटो का कहना है कि वस्तुओं की अनेकता विशेषात्मक है और उन की एकता सामान्यात्मक। वैशेषिक की भाँति प्लेटो भी मानता है कि सामान्यों या जातिप्रत्ययों की विशेषों से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है—'अश्वत्व' केवल बुद्धि की एक धारणा नहीं है, उसका अश्वों से अलग स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। इसी प्रकार विशिष्ट गायों से भिन्न गोत्व का अस्तित्व है। विशिष्ट सुन्दर पदार्थों से भिन्न सौन्दर्य नामक जातिप्रत्यय या सामान्य तत्त्व है; इसी प्रकार न्याय, सत्य आदि सामान्य प्रत्यय भी हैं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जाति-प्रत्ययों के जगत् और दृश्य जगत् में क्या सम्बन्ध है। इसका उत्तर देते समय प्लेटो बरबस रूपक-मयी भाषा का आश्रय लेने लगता है। कहीं तो वह कहता है कि दृश्य जगत् प्रत्यय जगत् की छाया या प्रतिलिपि (Copy) है, और कहीं यह कि दृश्य पदार्थ सामान्य प्रत्ययों के अंशभाक् (अंशभोगी, Participant) हैं। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि प्लेटो के जाति-प्रत्यय दृश्य जगत् के सारभूत (Essences) हैं, और उनका ज्ञान ही यथार्थज्ञान है।

ऊपर का विवरण विश्व-प्रक्रिया का स्थित्यात्मक विश्लेषण जान पड़ता है। जातिप्रत्ययवाद का यह पहलू विश्व की प्रगति और परिवर्त्तनों की कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। वस्तुतः प्लेटो के जाति प्रत्ययवाद का एक दूसरा, गत्यात्मक, पहलू भी है। यदि विशेषों की एकता की व्याख्या के लिए जातिप्रत्यय आवश्यक हैं, तो क्या विभिन्न जातिप्रत्ययों की एकता के लिए कोई तत्त्व आवश्यक नहीं है? उत्तर में प्लेटो का कहना है कि सम्पूर्ण जातिप्रत्ययों को एकता के सूत्र में बांधने वाला, एक समष्टि में गूंथने वाला, भी एक महाप्रत्यय है, अर्थात् श्रेयस् प्रत्यय (Idea of the Good)। ज्ञानमात्र के अभिलाषियों को विशेषों से दृष्टि हटाकर प्रत्यय-जगत् पर दृष्टि जमानी चाहिए, और दार्शनिक जीवन का प्रधान व्यापार श्रेयस्-प्रत्यय के सम्बन्ध में चिन्तन और मनन करना है। श्रेयस-

प्रत्यय की व्याख्या प्लेटो ने एक रूपक द्वारा की है। श्रेयस्-प्रत्यय सूर्य के समान है, वह पदार्थों की उत्पत्ति और वृद्धि का ही नहीं, उनके ज्ञात होने का भी हेतु है, जैसे सूर्य पदार्थों के चक्षुगोचर होने का। इस रूपक में प्लेटो जातिप्रत्ययों को दृश्य पदार्थों के जीवन की प्रेरक-शक्तियां कथन कर डालता है। जातिप्रत्यय वस्तु जगत् की (१) उत्पत्ति और वृद्धि; एवं (२) ज्ञातता या ज्ञात होने के हेतु हैं। इस प्रकार देखे जाने पर जातिप्रत्यय वर्तमान विज्ञान के वस्तु-नियमों अथवा प्राकृतिक नियमों से विशेष भिन्न नहीं रहते। प्राकृतिक नियमों की धारणा प्लेटो में अविकसित रूप में वर्तमान है।

किन्तु जाति-प्रत्यय वस्तुओं या वस्तु जगत् के अस्तित्व का नियंत्रण करने वाले भाव-नियम (Positive Laws) मात्र नहीं हैं; वे विश्व-प्रक्रिया के आदर्श-नियम (Normative Laws) भी हैं। प्रत्यय जगत् के साथ श्रेयस् शब्द का योग प्लेटो के दर्शन को एक दूसरी ही दिशा दे देता है। जाति-प्रत्यय वास्तविक परिवर्त्तन-व्यापारों की प्रेरक-शक्तियां मात्र न रहकर उनके आदर्शभूत अर्थात् लक्ष्य या ध्येय बन जाते हैं। अपने जीवन में मानव-समुदाय किसी ध्येय, उद्देश्य लक्ष्य या आदर्श पर दृष्टि रखकर प्रवृत्त होते हैं; उसी प्रकार विश्व प्रपञ्च की सारी घटनाएँ एक लक्ष्य या आदर्श के लाभ (Realization) के लिए प्रवर्त्तित हो रही हैं। विश्व-प्रक्रिया का चरम लक्ष्य श्रेयस्-प्रत्यय है।

प्लेटो के दर्शन की प्रमुख धारणा श्रेयस्-प्रत्यय की धारणा है, इसलिये प्रयोजनवाद को (अर्थात् इस सिद्धान्त को कि विश्व-प्रक्रिया किसी आदर्श-के लाभ के लिए प्रवर्त्तित हो रही है, अनवरत एक लक्ष्य की ओर बढ़ रही है) उसके दर्शन का प्रधान तत्त्व समझना चाहिये। "टिमियस" नामक सम्वादग्रन्थ में प्लेटो ने ईश्वर का प्रवेश कराया है। वहां प्लेटो कहता है कि ईश्वर जातिप्रत्ययों का, जो वस्तु जगत् के बिम्बरूप अथवा मूलरूप, (Archetypes) हैं, चिन्तन करता है और फिर उन्हें पुद्गल तत्त्व (Matter) में स्थापित कर देता है। इस

प्रकार विश्व-प्रपञ्च का विस्तार होता है। यहां प्लेटो स्पष्ट रूप में द्वैतवाद का प्रतिपादन करता है। उसका पुद्गल-तत्त्व शून्याकाश (Space) से भिन्न नहीं है। यह शून्य तत्त्व जाति-प्रत्ययों के योग से विविध रूपों वाले प्रपञ्च में परिणत हो जाता है। इस प्रकार विश्व-प्रपञ्च दो कारणों का कार्य है, एक आकाश और दूसरा प्रत्यय-जगत् जो समष्टि-रूप में श्रेयस्-प्रत्यय है। श्रेयस्-प्रत्यय विश्व-प्रक्रिया का सारभूत एवं आदर्शभूत दोनों ही है। प्लेटो के अनुसार विश्व-प्रक्रिया की मूल प्रेरक शक्ति उसकी आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति अर्थात् श्रेयस्-प्रत्यय का लाभ (Realization) है। श्रेयस्-प्रत्यय की धारणा ही प्लेटो के दर्शन का केन्द्र है, इसलिए प्लेटो की दी हुई विश्व की व्याख्या को प्रयोजनवाद (Finalism) कहना चाहिए।

अरस्तू

अरस्तू का दर्शन भी विश्व की ऐसी ही व्याख्या देता है। प्लेटो और अरस्तू में मुख्य भेद यह है कि अरस्तू प्लेटो की भांति प्रत्यय जगत् और वस्तु जगत् को एक-दूसरे से नितान्त विच्छिन्न नहीं कर देता। प्लेटो ने प्रत्यय-जगत् और वस्तु-जगत् के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया है, अरस्तू के दर्शन का आरम्भ प्लेटो की इसी कठिनाई के निर्देश से होता है। वस्तुतः अरस्तू के दर्शन में प्लेटो का प्रयोजनवाद पूर्ण विकास पा जाता है। प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का दृष्टिकोण अधिक गत्यात्मक और मूर्त्त है; वह अनुभव जगत् के अधिक निकट चलना पसंद करता है। प्लेटो की भांति अरस्तू को वस्तु-जगत् से द्वेष नहीं है; वह पार्थिव पदार्थों के स्पर्श से कुण्ठित नहीं होता। प्लेटो ने मुख्यतः वस्तु-तत्त्व के अस्तित्त्व या सत्ता (Being) पर विचार किया है, अरस्तू का ध्यान मुख्यतः 'होने' (Becoming) पर जाता है; वह विश्व-प्रक्रिया के गत्यात्मक पहलू को ही अधिक देखता है। प्लेटो के अपरिवर्त्तनीय, स्थिर या ध्रुव प्रत्यय-जगत् में अरस्तू का विश्वास नहीं है।

अरस्तू के दर्शन की केन्द्रीय धारणा विकास या प्रगति (Development) की धारणा है। वस्तु-जगत् कोई स्थिर पदार्थ नहीं है, वह 'है', इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक ठीक है कि वह 'हो रहा है'। प्रत्येक पदार्थ एक दशा से दूसरी दशा में अनवरत परिवर्त्तित हो रहा है। हम कह सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्थिर वस्तु नहीं, अपितु एक क्रिया या प्रक्रिया (Process) है। अरस्तू का कहना है कि वस्तुओं की प्रगति या परिवर्त्तनशीलता सोद्देश्य है। प्रत्येक वस्तु का एक-एक स्वाभाविक, पूर्ण या विकसित रूप है, और प्रत्येक वस्तु उसी रूप को प्राप्त करने की क्रिया में लगी हुई है। विश्व के अशेष पदार्थ अपने-अपने आदर्श रूपों की ओर विकसित हो रहे हैं।

इस विकास को हृदयङ्गम कराने के लिए अरस्तू ने वस्तुओं का दो प्रकार से विश्लेषण किया है। हम इंगित कर चुके हैं कि प्लेटो के विरुद्ध अरस्तू जाति-प्रत्ययों के जगत् को वस्तु-जगत् से अलग कल्पित नहीं करता। यूनानी दर्शन में वस्तु-द्रव्य (Matter) और आकार या "फार्म" के भेद की कल्पना पहले-पहल पाइथेगोरस ने की थी। पाइथेगोरस ने फार्मों को संख्यात्मक बतलाया था। प्लेटो के दर्शन में फार्म और मैटर का प्रभेद अधिक स्पष्ट कर दिया गया, और फार्मों को जातिप्रत्यय बना दिया गया। अरस्तू प्राचीन फार्म नाम का प्रयोग करना अधिक पसन्द करता है। प्लेटो के विरुद्ध उसका कहना है कि वस्तु-द्रव्य और उसका आकार या फार्म अलग-अलग नहीं किये जा सकते। फार्म या आकार वस्तु के द्रव्य में ही रहता है, और स्वयं वस्तु लगातार इस फार्म को अभिव्यक्त करने अथवा प्राप्त करने की क्रियामात्र है। फार्म के लिए अरस्तू ने स्वभाव (Nature) शब्द का प्रयोग भी किया है। फार्म को प्राप्त करने की क्रिया अपने स्वभाव को पाने की क्रिया भी कही जा सकती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जिसे हम वस्तु या पदार्थ कहते हैं वह बीजभाव (Potential) से वास्तविकता, या वास्तविकभाव (Actual) की

ओर संक्रान्ति या संक्रमण-क्रिया है। यह वास्तविक भाव ही वस्तु का स्वभाव भी है। यहां अरस्तू एक और बात कहता है। बीजभाव से वास्तविकता की ओर संक्रमण के लिए एक ऐसे पदार्थ की सहायता अपेक्षित होती है जो स्वयं वास्तविकता रूप है—वास्तविक (Actual) की सहायता से ही बीज-भाव वास्तविक बनता है।

इसी तथ्य को अरस्तू ने अपने चतुष्कारणवाद से समझाने की चेष्टा की है। प्रकृति-जगत् और कला-जगत् दोनों में वस्तु-सृष्टि के लिए चार कारण अपेक्षित होते हैं अर्थात् उपादान या समवायिकारण, वस्तु का आकार, निमित्तकारण और चरमकारण। किसी वस्तु को जानने के लिए उस वस्तु के इन चार कारणों को जानना ज़रूरी है। उदाहरण देने से विषय स्पष्ट हो जायगा। आम्र वृक्ष के विकसित रूप में उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि विकसित आम्र वृक्ष कहीं पर पहले से वर्त्तमान हो जिससे बीज प्राप्त हो सके। बीज आम्र वृक्ष का उपादानकारण है। बीज में जो आम का फार्म या आकार व्याप्त है, वह उसका दूसरा कारण (Formal Cause) है। वह वृक्ष जिससे बीज प्राप्त हुआ है, निमित्त कारण है, और पूर्ण विकसित आम्र वृक्ष, जो बढ़ते हुए आम के पौधे का लक्ष्य है, उसका चरम हेतु (Final Cause) है। अरस्तू का कारण कार्य से पहले ही वर्त्तमान रहने वाली चीज़ नहीं है; वह वस्तु की विकास-प्रक्रिया का पर्यवसान भी हो सकता है। वस्तु का अन्तिम या पूर्ण विकसित रूप, उसका लक्ष्य या आदर्श, भी उसका कारण है। मूर्त्तिकार जब तांबे में मूर्त्ति बनाता है तब तांबा मूर्त्ति का उपादान-कारण होता है, उसमें छिपा हुआ मूर्त्ति का आकार 'फार्मल' कारण, मूर्त्तिकार के मस्तिष्क में जो मूर्त्ति का चित्र है वह तीसरा या निमित्तकारण, और मूर्त्ति का अन्तिमरूप उसका चरमकारण है। निमित्तकारण स्वयं मूर्त्तिकार को भी कहा जा सकता है। वास्तव में वस्तु के मुख्य कारण दो ही हैं, एक उपादान और दूसरा फार्म। इस अन्तिम कारण के ही तीन प्रभेद हैं।

किन्तु अरस्तू निमित्तकारण को अत्यन्त आवश्यक मानता है।

द्रव्य और आकार, मैटर और फार्म, आपेक्षिक शब्द हैं। एक दृष्टि से जो फार्म है, दूसरी दृष्टि से वह मैटर हो सकता है। सोने को खींचकर जब तार बनाया जायगा तब तार फार्म होगा और सोना द्रव्य या मैटर, किन्तु गहने की अपेक्षा तार को मैटर माना जा सकता है। विश्व के पदार्थ लगातार द्रव्यावस्था से आकार-प्राप्ति की ओर बढ़ रहे हैं। यहां प्रश्न उठता है, क्या शुद्ध द्रव्य और शुद्ध फार्म की भी सत्ता है? हम कह चुके हैं कि अरस्तू द्रव्य और आकार को अलग करने का विरोधी था। उसके दृष्टिकोण से शुद्ध द्रव्य और शुद्ध फार्म दोनों की सत्ता असम्भव होनी चाहिये। किन्तु अपने इस मौलिक मन्तव्य के विरुद्ध कि फार्म और मैटर वस्तुमात्र के दो पहलू हैं, जो अलग-अलग नहीं किये जा सकते, अरस्तू मानता है कि ईश्वर शुद्ध फार्म या शुद्ध वास्तविकता है जिसमें द्रव्य का अंश बिल्कुल नहीं है। यही नहीं, ईश्वर विश्व-प्रक्रिया का, उसके विकास का, निमित्तकारण है; वही उसका लक्ष्य या चरम-हेतु भी है। ईश्वर स्वयं गतिहीन है, पर वह विश्व-प्रक्रिया का गतिदाता है। जैसे इच्छा का विषय स्वयं विकृत हुए बिना हममें विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अचल ईश्वर विश्व को गति देता है। विश्व-प्रक्रिया की पूर्णता इसमें है कि वह बीज-भाव को छोड़कर वास्तविकता या वास्तवभाव प्राप्त करले, और क्रमशः अपने द्रव्यभाव को त्यागकर आकाररूप लाभ करले। इस विकास-प्रक्रिया के जारी रहने का कारण ईश्वर है, इसलिए वह निमित्तकारण है; उसका चरम हेतु या लक्ष्य भी ईश्वरत्व अर्थात् शुद्ध आकार है। इस प्रकार अरस्तू की विकास-धारणा उसे अन्त में प्लेटो के इस मन्तव्य पर ले जाती है कि द्रव्य-जगत् अथवा द्रव्य और फार्म परस्पर-विच्छिन्न हैं।

हमने कहा कि अरस्तू के दर्शन का मुख्य तत्त्व विकास की धारणा है, किन्तु यह विकास वर्तमान विकासवाद से भिन्न है। वर्तमान विकासवाद के अनुसार विकास-प्रक्रिया ऐसे रूपों की सृष्टि करती है जो पहले

मौजूद नहीं थे; किन्तु अरस्तू वस्तुओं के विकसित रूप अर्थात् चरम-हेतु को पहले से ही अस्तित्ववाला मानता है। अरस्तू का विकास नूतनताओं की सृष्टि नहीं है, जो ऊँचे रूप विकास-प्रक्रिया से वस्तुओं को प्राप्त होते हैं, वे पहले ही मौजूद है। मूर्त्ति के बनाये जाने से पहले से ही उस का चित्र मूर्त्तिकार के मस्तिष्क में मौजूद होता है; उगते हुए आम के पौधे से पहले ही पूर्ण विकसित आम वृक्ष की सत्ता रहती है। विश्व-प्रक्रिया के विशुद्ध आकार-लाभ से पूर्व ही विशुद्ध आकृति-रूप ईश्वर का अस्तित्व है। विकास का सिद्धान्त वर्तमान काल में मुख्यतः प्राणिशास्त्र से प्रचारित हुआ है। डार्विनके अनुसार एक ही जीवन-तत्त्व क्रमशः विभिन्न जीव-योनियों में विकसित हुआ है। एक जीवयोनि कालान्तर में दूसरी जीव-योनि में परिवर्तित हो सकती है। किन्तु अरस्तू ठीक इसके विपरीत मत का समर्थक था; उसके मत में जीवयोनियां स्थिर हैं। किसी जीव के उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि उस जीव-योनि का कोई सदस्य—निमित्त कारण, पहले से ही वर्त्तमान हो। विकास का अर्थ नवीनता की सृष्टि नहीं अपितु बीजभाव का वास्तविक होना है। वास्तव में अरस्तू के दर्शन में विकास का अर्थ उन्नति या प्रगति नहीं है, उस का अर्थ केवल प्रक्रिया-विशेष का पूरा हो जाना है। विश्व-प्रक्रिया अपने को पूर्ण करने में लगी हुई है अवश्य, किन्तु जो पूर्णता उसका लक्ष्य है उसे एक उच्चतर दशा कहना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार हम अरस्तू के दर्शन को प्रयोजनवादी तो कह सकते हैं, किन्तु उन्नतिवादी या प्रगतिवादी नहीं। वस्तुएँ बीजभाव को छोड़कर जिस वास्तव भाव या वास्तविकता को प्राप्त करती हैं वह किसी न किसी रूप में पहले से ही वर्तमान रहती है और उस वस्तु के विकास का नियन्त्रण करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनान के दोनो प्रमुख दार्शनिकों, प्लेटो और अरस्तू ने, विश्व की प्रयोजनवादी व्याख्या दी है। वास्तव में इस व्याख्या का बीज प्लेटो के गुरु सुकरात ने डाला था। 'फीडो' नामक सम्वाद-ग्रन्थ में सुकरात अपनी आत्मकथा कहते हुए बतलाता है कि

किस उत्साह से उसने बुद्धितत्त्व (Nous) की कल्पना करनेवाले एनेग्ज़ेगोरस के दर्शन का अध्ययन किया और किस प्रकार उसे यह देखकर निराशा हुई कि उक्त दार्शनिक बुद्धितत्त्व को प्रयोजन या उद्देश्य का वाहक नहीं बनाता—बुद्धितत्त्व को विश्व-प्रक्रिया की सप्रयोजनता का हेतु कथित नहीं करता। इस प्रकार डिमोक्राइटस के जड़वाद और यन्त्रवाद के बाद शीघ्र ही यूनानी मस्तिष्क वस्तु-परिवर्त्तनों में प्रयोजन का अन्वेषण करने लगा था। प्लेटो का प्रयोजनवाद नैतिक व्याख्या को भी सहन कर सकता है। श्रेयस्-प्रत्यय, जिसकी ओर विश्व-प्रक्रिया बढ़ रही है अथवा जिसे वह अभिव्यक्त कर रही है, एक नैतिक (Moral) और धार्मिक (Religious) धारणा भी है। किन्तु प्लेटो में, उसके स्थित्यात्मक दृष्टिकोण के कारण, विकास या प्रगति की भावना नहीं पाई जाती। अरस्तू में विकास की धारणा परिपक्व हो जाती है, किन्तु उसका विकास किसी प्रक्रिया की वैज्ञानिक पूर्णता की ओर होता है, नैतिक पूर्णता की ओर नहीं। इस दृष्टि से सांख्य और अरस्तू के विकास में समानता है। किन्तु सांख्य का विकास चरम हेतु (Final Cause) अथवा विकास की अन्तिम अवस्था, विकास-प्रक्रिया के लक्ष्य से, निर्धारित नहीं होता। इसलिए सांख्य-विकास का स्वर यन्त्रवादी है। चरम हेतु को प्रक्रिया-विशेष का निर्धारण या नियमन (Determination) करने वाला मानने के कारण ही प्लेटो और अरस्तू प्रयोजनवादी हैं। इसके विपरीत जिस तन्त्र या मत में चरम हेतुओं को नहीं माना जाता उसे यन्त्रवादी कहना चाहिए। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगाल ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक जड़वाद और नव्योत्क्रान्तिवाद' (Modern Materialism and Emergent Evolution) में यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद की इसी प्रकार व्याख्या की है। वे कहते हैं कि यन्त्रवाद की अपेक्षा हम प्रयोजनवाद को ज्यादा समझते हैं, क्योंकि जीवित प्राणी होने के नाते हमें सोद्देश्य या सप्रयोजन व्यापारों में प्रवृत्त

होने का साक्षात् अनुभव है। प्रयोजनोन्मुख घटनाएँ वे हैं जिन में किसी लक्ष्य का आभास रहता है, और प्रत्येक गति लक्ष्य की ओर प्रगति होती है तथा लक्ष्य-प्राप्ति में कुछ-न-कुछ सन्तोष होता है। जिन घटनाओं में ये गुण नहीं पाये जाते उन्हें यान्त्रिक (Mechanical) घटनाएँ कहते हैं। यान्त्रिक घटनाओं को प्रयोजनवती घटनाओं की भिन्नता या विरोध से समझा जा सकता है। उक्त लेखक के अनुसार यन्त्रवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार विश्व की सारी घटनाएँ—प्राण-धारियों और मनुष्यों के व्यापारों सहित—यान्त्रिक या निष्प्रयोजन हैं; और विश्व के विवर्त्तनों को प्रयोजनोन्मुख मानने वाला सिद्धान्त प्रयोजनवाद है।❀

प्रो० ह्वाइटहेड कहते हैं कि यूनानी लोगों का प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण वस्तुतः नाटकीय था। उसके अनुसार प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या उनके अन्त या लक्ष्य द्वारा ही हो सकती थी।* यह दृष्टिकोण विज्ञान-विरोधी है। इसीलिए प्राचीन यूनान में विज्ञान का उदय न हो सका। विज्ञान का उदय और प्रसार आधुनिक योरप में घटित हुआ है, और आधुनिक योरपीय-मस्तिष्क सर्वांश में प्रयोजनवाद का विरोधी है।

हॉब्ज़

आधुनिक योरपीय दर्शन का आरम्भ प्राचीन प्रयोजनवाद में सन्देह एवं उसके प्रति असन्तोष के साथ हुआ। फ्रांसिस बेकन-(१५६१—१६२६) ने चरम-हेतुओं (Final Causes) की तीव्र आलोचना की। टॉमस हॉब्ज़ के दार्शनिक मन्तव्य यन्त्रवाद की 'स्पिरिट' से पूर्ण हैं। हॉब्ज़ के अनुसार पुद्गल और गति, दो ही विश्व के मूल तत्त्व हैं। चेतना भी पौद्गलिक गतियों का विकार है, वह मस्तिष्कगत स्नायविक परिवर्त्तनों का ही दूसरा नाम है। हॉब्ज़ यद्यपि ईश्वर की सत्ता

❀ पृ० १६३

* Science and the Modern World. p. 18—19

में विश्वास करता था तथापि वह एक प्रकार से जड़वादी ही था। हॉब्ज़ प्रसिद्ध डेकार्ट का सम-सामयिक था। दर्शन शास्त्र पर हॉब्ज़ का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। दर्शन के क्षेत्र में यन्त्रवाद का प्रचार करने का श्रेय मुख्यतः डेकार्ट को है।

डेकार्ट का यन्त्रवाद

यों तो डेकार्ट द्वैतवादी था, और शरीर से भिन्न आत्म-तत्त्व एवं शरीर अथवा जड़ जगत् और आत्माओं के स्रष्टा ईश्वर को मानता था, तथापि उसका यन्त्रवाद की ओर पूरा झुकाव था। आधुनिक योरपीय दर्शन का जनक यह दार्शनिक अपने समय का प्रसिद्ध गणितज्ञ था। भौतिकविज्ञान में भी उसकी अच्छी गति थी। वस्तुतः डेकार्ट का अधिकांश समय विज्ञान और गणित के अध्ययन में ही व्यतीत होता था। डेकार्ट के मत में पुद्गल द्रव्य का प्रधान गुण विस्तार है; पुद्गल विस्तारात्मक है, और उससे भिन्न आकाश या अवकाश की सत्ता नहीं है। इस मन्तव्य के अनुसार पुद्गल और आकाश (Space) एक ही हैं। पुद्गल के अतिरिक्त ईश्वर ने गति को भी उत्पन्न किया है। विश्व में गति का परिमाण सदैव एक ही रहता है। गति एक वस्तु से दूसरी वस्तु में संक्रान्त हो सकती है। अखिल ब्रह्माण्ड में गति और पुद्गल के अतिरिक्त (आत्माओं और ईश्वर को छोड़कर) कुछ भी नहीं है। लक्ष्य या चरम-हेतु की कल्पना का डेकार्ट के दर्शन में कोई स्थान नहीं है। डेकार्ट विश्व की सारी घटनाओं की यन्त्रवादी व्याख्या देता है। जीवधारी भी पुद्गल और गति का विकार हैं। डेकार्ट के अनुसार पशु-पक्षियों में आत्मा नहीं है। आत्मा का विशिष्ट गुण सोचना है, और वह केवल मनुष्य में पाया जाता है, इसलिए मनुष्य में ही आत्मा माननी चाहिए। सोचने-विचारने के अतिरिक्त जीवन या जीवित प्राणियों की सारी क्रियाएं पौद्गलिक स्थान-परिवर्त्तन हैं। डेकार्ट की प्रसिद्ध उक्ति है, 'मुझे सिर्फ पुद्गल तत्त्व

(Matter) मिल जाय, और मैं समस्त विश्व की रचना कर डालूंगा'।*

स्पिनोज़ा

स्पिनोज़ा में डेकार्ट का यन्त्रवाद पूर्णता को पहुंच गया। डेकार्ट ने आत्माओं एवं उनके विचारों को यान्त्रिक पौद्गलिक जगत् की परिधि से बाहर कर दिया था। उसने यह भी मान लिया था कि आत्माएं अपने व्यापारों में स्वतन्त्र (Free) होती हैं, किन्तु स्पिनोज़ा की दुनिया में कहीं कुछ भी स्वतन्त्र नहीं है, सब कुछ अपने कारणों द्वारा नियन्त्रित या निर्धारित (Determined) है। दर्शनशास्त्र के इतिहास में स्पिनोज़ा अपने चरम-हेतुओं (Final Causes) या प्रयोजनवाद के विरोध के लिए प्रसिद्ध है। संसार की कोई घटना—और मानवी-व्यापार अपवाद नहीं है—किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं होती, प्रत्येक घटना की व्याख्या उसके कारणों का निर्देश करके हो सकती है। हमारे विचार और व्यापार ठीक उसी तरह निर्धारित (Determined) हैं जैसे कि भौतिक-जगत् के परिवर्त्तन या घटनाएं। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट के द्वैतवाद को मानने से इन्कार कर दिया। विस्तार और बोध या विचार (Thought) दो भिन्न द्रव्यों के गुण या धर्म नहीं हैं। द्रव्य एक ही हो सकता है और बोध और विस्तार दोनों ही उसके धर्म (Attributes) हैं। इन धर्मों वाला द्रव्य अपने को अनन्त प्रकारों (Modes) में प्रकट करता है; जिन्हें हम आत्माएं कहते हैं वे, और जिन्हें हम जड़ पदार्थ कहते हैं वे भी एक ही द्रव्य के प्रकार हैं। आत्माओं में बोध-गुण की अभिव्यक्ति होती है और जड़ वस्तुओं में विस्तार गुण की। एक द्रव्य से यह विविध जगत् किस प्रकार उद्भूत होता है? इसके उत्तर में स्पिनोज़ा कहता है कि जैसे त्रिभुज अपने गुणों या विशेषताओं का हेतु या आधार है, उसी प्रकार

---

* दे० Baldwin's Dictionary of Philosophy and Psychology Vol. 2, p. 58.

विश्व की अशेष व्यक्तियों का हेतु या कारण द्रव्य है। जिस प्रकार त्रिभुज अपनी विभिन्न विशेषताओं का कारण हुए बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार द्रव्य भी इस सृष्टि का हेतु बने बिना नहीं रह सकता। ऐसी दशा में सृष्टि-रचना का कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं हो सकता। जिस प्रकार त्रिभुज से उसकी विशेषताएं स्वतः निर्धारित या निस्सृत होती हैं, उसी प्रकार द्रव्य से, द्रव्य के स्वभाव से, यह अशेष बोध और विस्तारात्मक सृष्टि निर्धारित या प्रवाहित हो रही है। जिस प्रकार त्रिभुज अपनी विशेषताओं को नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार द्रव्य या ईश्वर से किसी दूसरे प्रकार की सृष्टि सम्भव नहीं थी।

स्पिनोज़ा की कार्यकारणभाव की धारणा में काल (Time) का कोई स्थान नहीं है। उसका कार्य-कारणभाव कालिक सम्बन्ध नहीं है। स्पिनोज़ा बार-बार ईश्वर (द्रव्य) और सृष्टि का सम्बन्ध समझाने में त्रिभुज तथा उसके गुणों या विशेषताओं का उदाहरण देता है। त्रिभुज और उसके गुणों में वस्तुतः कार्य-कारणभाव नहीं है, त्रिभुज अपनी विशेषताओं का आधार या अधिष्ठान (Ground) मात्र है। गुण और गुणी में एक प्रकार का अकालिक (Non-temporal) आवश्यक (Necessary) सम्बन्ध रहता है। ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध को इस प्रकार का घोषित करके स्पिनोज़ा सृष्टि-प्रक्रिया की वास्तविकता को क्षुण्ण कर देता है। यदि ईश्वर और सृष्टि में वही सम्बन्ध है जो त्रिभुज और उसकी विशेषताओं में, तो वे दोनों एक भांति शाश्वत या चिरन्तन हैं, और ईश्वर को सृष्टि से पहले अथवा सृष्टि को ईश्वर के बाद सिद्ध होनेवाला पदार्थ नहीं कहा जा सकता।

स्पिनोज़ा की पद्धति दार्शनिक यन्त्रवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। पुरुष को सृष्टि-प्रक्रिया से अलग न मानने के कारण स्पिनोज़ा का यन्त्रवाद सांख्य की अपेक्षा अधिक उग्र (Radical) और पूर्ण है। स्पिनोज़ा के विश्व में कहीं किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है। सब कुछ निर्धारित या नियत है। मनुष्यों में कर्तृस्वातन्त्र्य की प्रतीति भ्रम है।

पारमार्थिक-दृष्टि से न कोई कर्म शुभ है न अशुभ; नैतिक-भेद व्यावहारिक हैं। किन्तु स्पिनोज़ा मानता है कि दुष्ट कर्मों का बुरा फल मिलता है। शुभ कर्मों से सुख और अशुभ कर्मों से दुःख की प्राप्ति भी उन कर्मों की भाँति ही निर्धारित या निश्चित है। जीवन का सब से बड़ा कर्त्तव्य द्रव्य और सृष्टि को समझ कर उनकी वास्तविकताओं का सन्तुष्ट बुद्धि से चिन्तन करना है।

लाइबनिज़

स्पिनोज़ा की दी हुई विश्व की इस यन्त्रवादी व्याख्या का लाइबनिज़ ने विरोध किया। स्पिनोज़ा के दर्शन में व्यक्ति का कोई अस्तित्व, कोई महत्व, नहीं है। स्पिनोज़ा का द्रव्य या ईश्वर सिंह की गुफा की भांति है; वहां जाने के पदचिह्न तो मिलते हैं, किन्तु वहां से लौटने का कोई पदचिह्न नहीं मिलता। द्रव्य सब चीजों का अपने में ग्रास कर लेता है। लाइबनिज़ का दर्शन विश्व का एक दूसरा ही चित्र उपस्थित करता है। डेकार्ट और स्पिनोज़ा के अनुसार द्रव्य वह है जो अपने में अस्तित्ववान् है (जो अपने आस्तित्त्व के लिए किसी दूसरे तत्त्व की अपेक्षा नहीं करता; जिसकी निरपेक्ष सत्ता है) और जिसकी धारणा अन्य किसी पदार्थ की धारणा से निरपेक्ष बन सकती है। डेकार्ट ने ईश्वर को एक मात्र निरपेक्ष द्रव्य मानते हुए भी आत्माओं और पुद्‌गल को अलग द्रव्य मान लिया था। स्पिनोज़ा ने इसका विरोध किया; निरपेक्ष द्रव्य एक ही हो सकता है। किन्तु लाइबनिज़ ने इन दार्शनिकों की दी हुई द्रव्य की परिभाषा को मानने से इन्कार किया। डेकार्ट के दर्शन ने शरीर और आत्मा के द्वैत को मान कर उनके सम्बन्ध की भयंकर समस्या को जन्म दिया। स्पिनोज़ा ने समानान्तरवाद का आश्रय लेकर ऊपर की समस्या का हल तो किया, किन्तु उसने एक ही द्रव्य को बोध और विस्तार जैसे विरोधी गुणों का वाहक बना डाला। लाइबनिज़ का मत है कि द्रव्य का प्रधान धर्म शक्ति का केन्द्र अथवा परिवर्त्तनों का आश्रय होना है। विश्व-सृष्टि इसी प्रकार के अनन्त शक्ति-केन्द्रों का

समूह है। यह शक्ति-केन्द्र जड़ नहीं, चेतन हैं। लाइबनिज़ ने उन्हें चिद्विन्दु (Monad) नाम दिया है। चिद्बिन्दु निरंश, निरवयव और अविभाज्य हैं। डिमोक्राइटस के जड़ परमाणुवाद के विरोध में लाइबनिज़ चेतनपरमाणुवाद का प्रतिपादन करता है। डिमोक्राइटस के परमाणु विस्तृत अथवा प्रदेशवान् (Extended) होने के कारण अविभाज्य नहीं हो सकते – उनके विभाग की कल्पना सम्भव है। वास्तविक परमाणु चेतन ही हो सकते हैं।

यह अनन्त चिन्मय परमाणु या चिद्बिन्दु एक-दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध हैं; उसमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। एक पर दूसरे का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लाइबनिज़ के शब्दों में चिद्विन्दु गवाक्ष-हीन (Windowless) हैं। प्रत्येक चिद्बिन्दु शक्ति-केन्द्र अथवा व्यापारों का आश्रय है; प्रत्येक चिद्विन्दु के भीतर परिवर्त्तन का क्रम चल रहा है। यह परिवर्त्तन या विकास अधिकाधिक चेतना के लाभ की ओर है। यदि चिद्विन्दु एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं तो शरीर और आत्मा अथवा शारीरिक और मानसिक व्यापारों में सामञ्जस्य क्यों दीखता है तथा समाज के विभिन्न सदस्य परस्पर आलाप-संलाप करके विभिन्न सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित करते हैं? लाइबनिज़ का उत्तर है कि इन सम्भावनाओं का हेतु पूर्वस्थापित-सामञ्जस्य (Pre-established Harmony) है। चिद्बिन्दु-जगत् के स्रष्टा ईश्वर ने उन्हें इस प्रकार बनाया है कि प्रत्येक चिद्बिन्दु अपने भीतर समस्त ब्रह्माण्ड को प्रतिबिम्बित करता है। प्रत्येक चिद्विन्दु का यह प्रतिबिम्बीकरण अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण से होता है; इस प्रकार प्रत्येक चिदविन्दु का संसार अलग है। तथापि चिद्विन्दुओं के विभिन्न प्रतिबिम्बों में समानता भी रहती है जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन सम्भव हो जाता है। लाइबनिज़ के मत में विभिन्न चिद्बिन्दु कम या अधिक उन्नत दशा में हैं और उनमें पड़नेवाली विश्व की छाया भी कम या अधिक स्पष्ट होती है। जड़ तत्त्व की तो, लाइबनिज़ के दर्शन में, सत्ता ही नहीं है।

इसलिए शरीर भी जड़ नहीं है और शरीरात्म-सम्बन्ध की समस्या उठती ही नहीं। लगभग समान स्पष्ट प्रतिबिम्ब वाले चिद्‌बिन्दु एकत्रित होकर एक वैयक्तिक शरीर बनाते हैं, इसीलिए शारीरिक और मानसिक दशाओं में सम्वादिता देख पड़ती है। चिद्‌बिंदुओं के प्रतिबिम्बीकरण का हेतु जैसा कि हमने कहा, ईश्वर द्वारा स्थापित सामञ्जस्य है। जिस प्रकार अनेक घड़ियां नितांत भिन्न और एक-दूसरे के प्रभाव से मुक्त होते हुए भी एक ही समय रखती हैं, उसी प्रकार चिद्‌बिंदु अलग-अलग अपने में एक ही विश्व को प्रतिबिम्बित करते हैं। क्योंकि यह प्रतिबिम्ब कम या अधिक स्पष्ट होते हैं, इसलिए अनन्त चिद्‌बिंदु एक तारतम्यात्मक-श्रेणी (Graded Series) बनाते हैं। सम्पूर्ण विश्व चेतना के विभिन्न दर्जों (Degrees) वाले चिद्‌बिंदुओं का समुदाय है। इस तारतम्यात्मक-श्रेणी का शीर्ष ईश्वर है।

लाइबनिज़ कहता है कि उसका दर्शन व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता देता है क्योंकि उसके अनुसार व्यक्ति के विकास का निर्धारण स्वयं उसके अपने अस्तित्व के नियमों से होता है, जबकि स्पिनोज़ा के दर्शन में सबका निर्धारक द्रव्य है। किन्तु उसका यह दावा अंशतः ही ठीक है। चिद्‌बिन्दुओं की प्रतिबिम्बीकरण-क्रिया का मूल हेतु ईश्वर है और उनके विकास का क्रम सदैव के लिए ईश्वर द्वारा निश्चित या निर्धारित कर दिया गया है। फिर चिद्‌बिन्दुओं को स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः लाइबनिज़ यन्त्रवाद का विरोधी नहीं था। वह स्वयं गणित और विज्ञान का विद्यार्थी था और विश्व की यन्त्रवादी व्याख्या का पक्षपाती था। तथापि यह कहा जा सकता है कि स्पिनोज़ा की अपेक्षा उसके दर्शन में व्यक्ति को अधिक महत्त्व मिला। लाइबनिज़ यह भी कहता है कि ईश्वर चिद्‌बिन्दुओं के **अस्तित्व और सामञ्जस्य** का ही हेतु है, उनके स्वभाव (Essence) एवं उनकी सम्भावना का नहीं।* इस प्रकार लाइबनिज़ ने यन्त्रवाद और प्रयो-

* दे० अर्डमान, भाग २, पृ० १८२

जनवाद में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की। चिद्बिन्दुओं का विकास एक लक्ष्य की ओर है, यद्यपि वह पहले से निर्धारित हैं। किंतु लइबनिज़ का यह सामञ्जस्य अपूर्ण रहा, क्योंकि चिद्बिन्दुओं के विकास पर लक्ष्य या चरम हेतु कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डालते।

डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ की बुद्धिवादी-पद्धतियां प्रायः सत्रहवीं शताब्दी में प्रतिपादित हुई थीं। इसी शताब्दी में गेलिलिओ, केप्लर और न्यूटन के नेतृत्व में विज्ञान काफी प्रगति कर रहा था। यह लोग भी यन्त्रवादी दृष्टिकोण पर ज़ोर दे रहे थे। वस्तुतः इस शताब्दी में भौतिक-विज्ञान और दर्शन साथ-साथ चल रहे थे। उपर्युक्त वैज्ञानिक सब आस्तिक थे, और इस काल के दार्शनिक यन्त्रवाद की महत्ता स्वीकार कर रहे थे। किन्तु कुछ काल बाद यह स्पष्ट हो गया कि यन्त्रवाद और किसी प्रकार का अध्यात्मवाद साथ-साथ नहीं चल सकते। हीगल के दर्शन में प्रयोजनवाद का पुनरुज्जीवन हुआ और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में विज्ञान से प्रभावित यन्त्रवाद और जड़वाद का उदय हुआ।

ह्यूम और काण्ट

ऊपर के मिश्रित वैज्ञानिक और दार्शनिक यन्त्रवाद पर सबसे कड़ा प्रहार डेविड ह्यूम ने किया। यन्त्रवाद का, विशेषतः उसके वैज्ञानिक रूप में, प्रधान अवलम्ब कार्य-कारणभाव की धारणा है। ह्यूम ने कार्य-कारणभाव की वास्तविकता में सन्देह प्रकट किया। यह सन्देह-वाद भौतिक-शास्त्र और उसके यन्त्रवाद की जड़ हिला देने वाला था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के दार्शनिकों को विज्ञान से कोई द्वेष नहीं था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि काण्ट ने ह्यूम के विरुद्ध विज्ञान की सम्भावना एवं सत्यता का मण्डन करने की चेष्टा की, किन्तु काण्ट, डेकार्ट और स्पिनोज़ा के यन्त्रवाद को समग्रता में नहीं अपना सका, न वह लाइबनिज़ के दिए हुये यन्त्रवाद और प्रयो-जनवाद के सामञ्जस्य को ही स्वीकार कर सका। काण्ट ने स्वयं भी दोनों का कोई सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत नहीं किया। इसके विपरीत

उसने यान्त्रिक-जगत् और प्रयोजन-जगत् को नितान्त भिन्न कल्पित कर डाला। प्रकृति-जगत् में कार्य-करण-भाव आदि नियमों का अखण्ड साम्राज्य है, तथा नैतिक अथवा नैतिक प्रयत्नों के जगत् में बुद्धिमूलक स्वतन्त्रता है। नैतिक जगत् लक्ष्यान्वेषण अथवा आदर्शों के लाभ का संसार (Realm of Ends) है। प्रकृति-जगत् अतात्त्विक है, परमार्थ-जगत् का विवर्त्तमात्र है; उसमें रहकर हम कभी वस्तु-तत्व को नहीं पकड़ सकते। हमारा नैतिक-जीवन ही हमें आत्मा, ईश्वर, अमरता आदि पारमार्थिक सत्यों से परिचित करा सकता है।

काण्ट की इस घोर द्वैतवादी स्थिति में दार्शनिक चिन्तन बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकता था। काण्ट ने न यन्त्रवाद का विरोध किया और न प्रयोजनवाद का, किन्तु वह दोनों में किसी प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सका। वस्तुतः काण्ट के दर्शन का विशेष महत्त्व उसकी ज्ञान-मीमांसा में है। काण्ट का सबसे बड़ा अन्वेषण यह था कि मानव-बुद्धि के लिए भौतिक-जगत्-सम्बन्धी सार्वभौम और आवश्यक (Universal and Necessary) तथ्यों का अनुसंधान करना तभी संभव है जब प्राकृतिक नियमों का स्रोत हमारी बुद्धि हो और प्रकृति के निर्माण में उसका हाथ हो। किन्तु बुद्धि को प्रकृति की जनयित्री बनाने के बदले में काण्ट यह भी कह सकता था कि प्रकृति के ज्ञान के लिए मानव-बुद्धि के नियमों और प्रकृति के नियमों में सामञ्जस्य होना अनिवार्य है - यदि बुद्धि कार्य-कारणभाव की कल्पना के बिना नहीं सोच सकती, तो प्रकृति-जगत में भी कार्य-कारणभाव की व्याप्ति होनी चाहिए। सार्वभौम और आवश्यक सत्यों की व्याख्या के लिए हीगल ने काण्ट के दिये हुए समाधान को अस्वीकार करके उपर्युक्त दूसरे विकल्प का ग्रहण या अनुमोदन किया।

हीगल—प्रयोजनवाद का चरम-उत्कर्ष

दर्शनशास्त्र के इतिहास में हीगल की पद्धति विश्वप्रक्रिया की पूर्ण या विस्तृत व्याख्या करने का सम्भवतः सबसे बड़ा प्रयत्न है। यह पद्धति

विश्व के किसी अङ्ग को अछूता नहीं छोड़ती; प्रकृति-जगत् के अतिरिक्त वह जीव-जगत् एवं चेतन मनुष्य के नैतिक और बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक, वैयक्तिक और सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक, साहित्यक और धार्मिक इतिहास को समग्रता में समझाने अथवा बुद्धिगम्य बनाने की कोशिश करती है। हीगल के अनुसार विश्व-ब्रह्माण्ड में कोई घटना ऐसी नहीं होती जिसमें विश्वव्यापी बुद्धि-तत्त्व अभिव्यक्त न होता हो और जिसे बौद्धिक धारणाओं द्वारा न पकड़ा जा सके। बात यह है कि जो बुद्धि-तत्त्व विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वही मानवी बुद्धि की धारणाओं एवं चिन्तन में भी स्फूर्तिमान है। अन्ततः मानव-बुद्धि और विश्व-प्रक्रिया में व्याप्त बुद्धि-तत्त्व एक ही है। विश्व की ज्ञेयता एवं मानव-बुद्धि की ज्ञानक्षमता का यही रहस्य है।*

'विश्व में बुद्धि-तत्त्व व्याप्त है', इसका यही अर्थ है कि विश्व की प्रत्येक घटना पूर्णतया नियमित या नियन्त्रित है, प्रत्येक घटना विश्व के अस्तित्त्व-नियमों का पालन कर रही है। विश्व-प्रक्रिया के इन नियमों की चेतना हमें बौद्धिक धारणाओं के रूप में होती है। हमारी धारणाएं केवल हमारी अथवा आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं हैं, वे वस्तु-सृष्टि के नियमों की प्रतीक हैं। बुद्धि और विश्व में, ज्ञाता और ज्ञेय में, कोई द्वैत नहीं है ; वे दोनों ही एक बुद्धि-तत्त्व (Reason) की अभिव्यक्तियां हैं।

अरस्तू की भांति हीगल मानता है कि विश्व-ब्रह्माण्ड विकास-प्रक्रिया है जो एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रही है। विश्व-प्रक्रिया की विभिन्न सीढ़ियां उसके विकास का क्रम बताती हैं। इसी प्रकार का क्रमविकास बौद्धिक धारणाओं में भी देखा जा सकता है। जो

* हाफ़्डिंग कहता है—'जब हम विश्व-प्रक्रिया के सम्बन्ध में सोचते हैं तब मानो विश्व-प्रक्रिया हममें सोचती है' (When we think existence, existence think in us—A History of Modern Philosophy (1920), पृ० १८०)

बुद्धि-तत्त्व विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वह एक सरल इकाई (Simple Unity) नहीं है, अपितु एक समष्टि है। विश्व के बुद्धि-तत्त्व को हीगल प्रत्यय या पूर्णप्रत्यय (Idea, Absolute Idea) कहता है। यह पूर्ण प्रत्यय सारे अपूर्ण प्रत्ययों, हमारी अपूर्ण अथवा सदोष धारणाओं की, पूर्णता अथवा समष्टि (System) है। पूर्णप्रत्यय हमारी धारणाओं अर्थात् हमारे बौद्धिक चिन्तन का पर्यवसान है, मानवबुद्धि की सारी कल्पनाएं पूर्णप्रत्यय में परिसमाप्त होती हैं। इसी परिसमाप्ति या पर्यवसान के लिए धारणाओं में विकास होता है। एक अपूर्ण धारणा को दूसरी अधिक पूर्ण धारणा खण्डित कर डालती है, और एक तीसरी धारणा में इन पहिली विरोधी धारणाओं का सामञ्जस्य हो जाता है। यह तीसरी धारणा भी कालान्तर में अपनी विरोधी धारणा को जन्म देती है और उनके सामञ्जस्य के लिए फिर एक नूतन धारणा का उदय होता है। वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद इस क्रम से धारणा-जगत् का विकास होता है; मानवी चिन्तन इस विकास को प्रतिफलित करता है। मानवी-दर्शन का इतिहास धारणाओं के द्वन्द्वात्मक अथवा पारस्परिक विरोधमूलक विकास का निदर्शन (Illustration) मात्र है।

एक धारणा दूसरी धारणा का विरोध करती है, उसे काटती है; यह निषेध या विरोध ही धारणाओं के विकास की प्रेरक शक्ति है। निषेधक धारणा निषिद्ध धारणा का लोप नहीं कर देती, वह उस (पहली धारणा) के सत्यांश का अपने में समावेश कर लेती है। इस प्रकार धारणाएं अधिकाधिक पूर्णता की ओर, जिसमें निषेध या विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहेगी, अग्रसर होती हैं। धारणाओं का पर्यवसान पूर्णप्रत्यय में होता है जो एकमात्र समञ्जस (Harmonious, Self-Consistent) धारणा है। पूर्णप्रत्यय में दूसरी सब धारणाओं का तथ्य निहित है; अन्य सब धारणाएं एकांगी हैं, केवल पूर्णप्रत्यय में कोई एकांगिता, कोई कमी नहीं है। पूर्णप्रत्यय विश्व-

प्रक्रिया का अमूर्त्त सार (Abstract Essence) है, वह विश्व की आत्मा है। पूर्णप्रत्यय विश्व-प्रक्रिया में बुद्धितत्त्व, बुद्धिगम्यता के रूप में व्याप्त है।

हमने कहा कि पूर्णप्रत्यय विश्व का अमूर्त्त सार है। जिस प्रकार धारणाएँ या प्रत्यय पूर्णता की ओर विकसित होते हैं, उसी प्रकार विश्व की मूर्त्त व्यक्तियां भी पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो रही हैं। धारणा-जगत् की भांति प्रकृति-जगत् और मानव-समाज में भी द्वन्द्वनियम चल रहा है। वस्तुतः मूर्त्त जगत् अमूर्त्त प्रत्यय-जगत् का ही शरीर या बाहरी रूप है; प्रत्यय जगत् मूर्त्त-जगत् की आत्मा है। दीखने वाले जगत् के अस्तित्त्व अथवा विकास का नियमन करने वाले नियमों की समष्टि को ही प्रत्यय-जगत् कहते हैं। इसलिए, क्योंकि प्रत्यय-जगत् में द्वन्द्वन्याय चल रहा है, यह अनिवार्य है कि मूर्त्त जगत् में भी द्वन्द्वनियम का आधिपत्य हो। हीगल की प्रसिद्ध उक्ति है कि जो कुछ वास्तविक या तात्त्विक है, वह बुद्धिमय (Rational) है, और जो बुद्धिमय या बुद्धिगम्य है, वही वास्तविक है। आशय यह है कि अनुभव-जगत् के सब क्षेत्रों में बुद्धि का राज्य है। वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि जड़ जगत् अखण्ड नियमों के अधीन है, हीगल इस सिद्धान्त को अधिक व्यापक रूप दे देता है। जड़-जगत् की भांति ही जीव-जगत् और चेतना-जगत् भी बुद्धितत्त्व (नियमशीलता) के अधिष्ठान हैं। जीवित प्राणियों का विकास तथा चेतन मनुष्य की कुटुम्ब, भद्र समाज, राज्य आदि संस्थाओं का विकास भी द्वन्द्वनियम के अनुसार हुआ है। राजनैतिक क्षेत्र में क्रान्तियां तथा युद्ध होते हैं और कभी-कभी एक जाति पर दूसरी जाति का आधिपत्य हो जाता है, हीगल के अनुसार यह सब अखण्ड द्वन्द्वन्याय का निदर्शन है। विजयी जाति निषेधक धारणा के समान होती है, उसमें विजित जाति के गुण तो रहते ही हैं, कुछ अन्य गुण भी होते हैं। वह विजित जाति की अपेक्षा पूर्णता के अधिक समीप होती है। इसी प्रकार कला, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में

होनेवाले सैद्धान्तिक परिवर्त्तन भी द्वन्द्वनियम को चरितार्थ करते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारी सीमित दृष्टि को भले ही विश्व की कोई घटना आकस्मिक प्रतीत हो, किन्तु वास्तव में विश्व में कुछ भी अहेतुक नहीं है। कोई तुच्छ-से-तुच्छ या बड़ी-से-बड़ी घटना भी द्वन्द्वनियम का अतिक्रम नहीं कर सकती।

हीगल ने विश्व-प्रक्रिया के समग्र भाव से नियमित होने पर ज़ोर दिया, उसकी यह प्रवृत्ति विज्ञान के अनुकूल थी। किन्तु वह केवल यही बताकर सन्तुष्ट नहीं हुआ कि विश्व-प्रक्रिया सनियम है, उसने उसका सञ्चालन करने वाले व्यापक नियमों का स्वरूप स्थिर करने का प्रयत्न भी किया। विश्व का सर्वव्यापी नियम द्वन्द्वन्याय (Dialectic) है। निषेध या विरोध को विश्व-प्रगति का नियामक कथन करके हीगल ने विश्व-प्रक्रिया का एक नितान्त गतिमय चित्र उपस्थित किया। निषेध या विरोध जगत् की प्रेरक शक्ति है, उसके अस्तित्व का व्यापक नियम है। इस दृष्टि से देखने पर हैगलिक दर्शन यन्त्रवाद का संस्करण-विशेष प्रतीत होता है। किन्तु यह निषेध या विरोध स्वयं विरोधों (Contradictions) को हटाकर सामञ्जस्य-रूप पूर्णता प्राप्त करने के लिए है।* इसलिए समञ्जस पूर्णता—हीगल के पूर्ण प्रत्यय या परब्रह्म—को भी विश्व-प्रक्रिया का नियामक कहा जा सकता है। क्योंकि पूर्णप्रत्यय या परब्रह्म विश्व-विकास का लक्ष्य अर्थात् चरमहेतु (Final Cause) है, इसलिए हीगल के दर्शन को प्रयोजनवाद कहना नितान्त उचित है। इस प्रकार हीगल की पद्धति भी यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद के सामञ्जस्य का प्रयत्न है। यह प्रयत्न लाइबनिज़ की अपेक्षा अधिक सफल और पूर्ण है, क्योंकि वहां पूर्णप्रत्यय में वास्तविक नियामकता है, जब कि लाइबनिज़ यह नहीं बतलाता कि अनन्त चिद्विन्दु अन्ततः अनन्त ईश्वर (पूर्ण चिद्बिन्दु) बन जायंगे।

*हीगल की इस व्याख्या में हम ने मैक्टेगार्ट का अनुसरण किया है (दे० Studies in Hegelian Cosmology).

यहां प्रश्न उठता है क्या परब्रह्म या पूर्णप्रत्यय पहले से पूर्ण विकसित नहीं है, जो उसे विश्व-विकास की अपेक्षा होती है ? क्या उसे अरस्तू के ईश्वर की भांति पहले से सिद्ध-पदार्थ नहीं मानना चाहिए ? हीगल से इस प्रश्न के अधिक स्पष्ट उत्तर की आशा नहीं करनी चाहिए। प्रत्यय-जगत् के विकास को वह कभी-कभी मात्र बुद्धिगत (Logical) कह डालता है, जिसका अर्थ यह है कि यह विकास वास्तविक अर्थात् कालिक (Temporal) या ऐतिहासिक घटना नहीं है। अन्यत्र वह कहता है कि विश्व-प्रक्रिया का पर्यवसान अथवा पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति केवल उस भ्रम या भ्रान्ति को हटाने में है जो उसे अभीतक अप्राप्त प्रदर्शित करती है।* इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व का विकास अथवा विश्व-प्रक्रिया मात्र भ्रम या माया है, वास्तविकता नहीं। इस माया को स्वीकार करके ही, केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से, हम विश्व-प्रक्रिया को वास्तविक कह सकते हैं। वास्तव में पूर्णता पहले से ही सिद्ध है। हीगल की यह व्याख्या उसे अद्वैत वेदान्त के बहुत निकट ले आती है।

हीगल के बाद

हीगल अध्यात्मवादी विचारक था। प्रयोजनवाद और अध्यात्मवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध है। काफी दिनों तक, सन् १८२० से १८४० ई० तक, जर्मनी में हैगलिक अध्यात्मवाद का बोलबाला रहा। उसके पश्चात् जड़वादी प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। हीगल के ही वामपक्षी अनुयायियों का झुकाव जड़वाद की ओर होने लगा। इन अनुयायियों में सबसे प्रसिद्ध कार्ल मार्क्स हुआ जिसने द्वन्द्वात्मक जड़वाद का प्रवर्तन किया।

द्वन्द्वात्मक जड़वाद (मार्क्सवाद)

मार्क्स के दर्शन को बहुत हद तक हम हीगल के दर्शन का विप-

*The consummation of the infinite end consists merely in removing the illusion which makes it seem yet unaccomplished. (Wallace, Logic of Hegel p. 351)

रीत संस्करण कह सकते हैं। द्वंद्वात्मक जड़वाद द्वन्द्ववाद है और जड़-वाद है। द्वन्द्ववाद विश्व-प्रक्रिया के प्रति एक विशेष भाव रखता है। प्रथमतः उसके अनुसार विश्व सृष्टि गतिमय अथवा परिवर्तनमयी है, दूसरे, विश्व की सब घटनायें परस्पर सम्बद्ध हैं। द्वन्द्ववाद का विरोधी वह दर्शन या चिन्तन होगा जो वस्तुओं के स्थिर और अकेले रूप पर ध्यान जमाता है।❋ हीगल के अनुसार सम्पूर्णता या समष्टि ही तात्विक है, अंश या अवयव आत्म-विरोधी होते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण-विषयक सत्य ही पूर्ण सत्य हो सकता है; शेष सब सत्य अपूर्ण सत्य हैं। हीगल के अनुसार द्वंद्व-नियम हमारे मन या चिन्तन का नियम है जिसके शासन में हम अंश से सम्पूर्ण की, अवयव से अवयवी की, विरोध-ग्रस्त से समञ्जस की ओर अग्रसर होते हैं।* हीगल की दृष्टि में द्वन्द्व-नियम मुख्यतः प्रत्यय-जगत् का नियम था। किन्तु वह यह भी मानता था कि अमूर्त प्रत्यय-तत्व प्रकृति और इतिहास में आत्मलाभ करता है। मार्क्स के अनुसार भी द्वन्द्व-नियम केवल विचार-जगत का ही नहीं वस्तु-जगत का भी नियम है। वस्तुतः मार्क्सवाद में प्रत्यय-जगत नहीं, वस्तु-जगत प्रधान है।

इसीलिये जहाँ हीगल अध्यात्मवादी है वहाँ मार्क्स जड़वादी है। जड़वाद की प्रमुख मान्यता यही है कि मूलतत्व जड़-प्रकृति है न कि कोई चेतन शक्ति। जड़ की सत्ता चेतना या चैतन्य से पहले है; चेतना जड़तत्वों के ही संघात-विशेष का धर्म है।

द्वन्द्वात्मक जड़वाद (Dialectical Materialism) के अनुसार प्रकृति-जगत असम्बद्ध वस्तुओं का समूह मात्र नहीं है; इसके विपरीत वह सम्बद्ध अवयवों की समष्टि है। वस्तु-सृष्टि की विभिन्न घटनायें एक दूसरे पर निर्भर करती हैं और एक-दूसरे के द्वारा निर्धारित होती हैं।

❋दे०—टैक्स्टबुक आफ मार्क्सिस्ट फिलासफी (किताब महल, १९४४), पृ० ६

*वही, पृ० ५६

किसी पदार्थ या घटना को उसके अकेलेपन में नहीं समझा जा सकता। दूसरे, प्रकृति में सदैव प्रगति या परिवर्तन होता रहता है; उसमें प्रतिक्षण नूतनताओं का आविर्भाव होता रहता है। हमें वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों का तो अध्ययन करना ही चाहिए, साथ ही उनके विवर्तन या विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। द्वन्द्वात्मक गति वर्तुल (Circular) गति नहीं है जो सदैव अपनी आवृत्ति करती रहती है। प्रकृति में पुनरावृत्ति नहीं है, वहाँ सदैव ऊर्ध्वमुखी गति रहती है। संक्षेप में, प्रकृति-जगत का एक इतिहास है।

हीगल की भाँति मार्क्सवाद भी मानता है कि वस्तुओं में आन्तरिक विरोध रहता है; विरोध वस्तुओं का स्वभाव है। 'विवर्तन या विकास का अर्थ है विरुद्धों का द्वन्द्व या संघर्ष'—लेनिन।† हीगल की ही भाँति मार्क्स का विचार है कि द्वन्द्व-नियम इतर सृष्टि की भाँति समाज और इतिहास की प्रगति को भी लागू है।

वस्तु-जगत् और प्रत्यय-जगत् (Reality and Ideas)

इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स हीगल से बहुत प्रभावित था, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों की पद्धतियों में गम्भीर भेद नहीं है। वस्तुतः हीगल और मार्क्स के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल जैसा अन्तर है; हीगल अध्यात्मवादी है और मार्क्स जड़वादी। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हैगलिक पद्धति से मूलतः भिन्न ही नहीं, उसकी विरोधी है। हीगल के अनुसार चिन्तन-प्रक्रिया जिसे वह प्रत्यय नाम देकर स्वतंत्र विषयी (subject) बना डालता है, विश्व की सृष्टि-कर्त्री है, और वस्तु-सृष्टि प्रत्यय-तत्व का बाह्य या व्यावहारिक रूप मात्र है। इसके विपरीत मेरे मत में प्रत्यय या चिन्तन तथ्य या वस्तु-सृष्टि का प्रतिबिम्ब मात्र है जो मनुष्य के मस्तिष्क में पड़ता है और वहाँ विचारों का रूप धारण

†स्टालिन, डायलेक्टीकल ऐण्ड हिस्टारिकल मैटीरियेलिज्म (मास्को, १९४२), पृ० ७

कर लेता है।'* हीगल के अनुसार प्रत्ययतत्व पहले है, मौलिक है और वस्तु-सृष्टि का अस्तित्व उस पर निर्भर है—वस्तु-सृष्टि मानो प्रत्यय-जगत का ही बाह्य या मूर्त रूप है। इसके विरुद्ध मार्क्स का कहना है है कि वस्तु-सृष्टि (प्रकृति जगत) प्राथमिक या मौलिक है; प्रत्यय जगत उसी का मानसिक प्रतिबिम्ब या संस्करण है। सोचने-समझने वाले मानव-मस्तिष्क से पहले जड़-सृष्टि का अस्तित्व था। जब जड़ तत्व क्रमशः उन्नति करते हुये एक उच्च संगठन (Organisation) को प्राप्त कर लेते हैं तब उनमें चेतना या चिन्तन का उदय होता है।※ और जिस प्रकार सामान्यतः चेतना वस्तु-सत्ता से उद्भूत होती है उसी प्रकार सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता का कार्य होती है—हमारे समाज-सम्बन्धी अर्थात् नैतिक, राजनैतिक और धार्मिक विचार समाज के विशिष्ट संगठन से निर्धारित होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विभिन्न प्रकार के समाजों में लोग भिन्न-भिन्न ढंग से नैतिक और धार्मिक प्रश्नों पर सोचते हैं।

मार्क्स की ज्ञान-मीमांसा

हमारे विचार, हमारा चिन्तन सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित रहता है। बड़े-से-बड़ा और मौलिक-से-मौलिक विचारक अपने सामाजिक वातावरण से घिरा या सीमित रहता है। समाज की वे कौन-सी शक्तियाँ हैं, जो अन्तिम विश्लेषण में हमारे विचारों का आधार होती हैं? मार्क्स का उत्तर है—समाज-विशेष के भौतिक व्यापार अर्थात् वे व्यापार जिनमें कोई समाज वस्तु-जगत अथवा प्रकृति-जगत से सम्बन्धित होता है। सामाजिक भौतिक व्यापार (Material Social Practice) ही अन्ततः विचारों के उद्गम होते हैं और वे ही विचारों की कसौटी भी होते हैं। किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त को—और विज्ञान के बाहर ज्ञान है ही नहीं—हम केवल इसी

* वही पृ० १-२ पर उद्धृत,

※ मार्क्सिस्ट फिलासफी, पृ०६८।

लिए स्वीकार करते हैं कि वह हमें हमारे भौतिक व्यापारों में सफल होने में सहायता देता है।

किसी ऐतिहासिक समाज में भौतिक व्यापार जितने ही विकसित एवं व्यापक होते हैं उनमें उतना ही अधिक चिन्तनात्मक कार्य अथवा ज्ञानान्वेषण होता है। कोई समाज भौतिक जगत से जितना ही अधिक प्राकृतिक शक्तियों का अपने लिये उपयोग कर पाता है—उतना ही अधिक वह वैज्ञानिक चिन्तन अथवा ज्ञान सम्पादन कर सकता है। समाज के भौतिक व्यापारों और सैद्धान्तिक चिन्तन में साथ-साथ उन्नति होती है। असभ्य अथवा जंगली जातियों का ज्ञान (वैज्ञानिक चिन्तन) अथवा विचार नितान्त सीमित होते हैं; कारण यह है कि उनके भौतिक व्यापार भी एक संकुचित दायरे में प्रवृत्त होते हैं। एक सभ्य मनुष्य की तुलना में वह कम देखता है और कम सोचता है; वह प्रकृति-जगत की थोड़ी ही शक्तियों का उपयोग भी करता है।

विस्तृत वैज्ञानिक चिन्तन के लिये व्यापक भौतिक व्यापारों की पृष्ठभूमि चाहिये। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं क्योंकि वैज्ञानिक अन्वेषणों के बिना भौतिक व्यापारों में प्रगति नहीं होती। लोग प्राचीन काल से नावों का उपयोग करते आये थे—यूनान और फोनीसिया के निवासी अच्छे मल्लाह थे। किन्तु उनका अनुभव काफी न था। इस लिए वे हवाओं और समुद्री धाराओं (Ocean currents) को ठीक-ठीक नहीं समझ सके। पूँजीवाद के उदय के साथ इस प्रकार के ज्ञान में भी वृद्धि हुई।* इसी प्रकार यद्यपि मनुष्य को हजार वर्ष पहले से लोहे, ताँबे और चाँदी से परिचय रहा है, किन्तु भूगर्भ-शास्त्र (Geology) की उन्नति के लिए यह आवश्यक था कि खानों में से इन धातुओं के निकालने का अनुभव कहीं अधिक व्यापक या विस्तृत हो जाय जैसा कि औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुआ। हमारे अपने समय में मनुष्य के भौतिक व्यापारों की परिधि बहुत अधिक बढ़ गई है;

* वही, पृ० ७२

इसीलिए भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र आदि में भी द्रुत वेग से प्रगति हुई है।*

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सत्ता मौलिक है और प्रत्यय उसका कार्य्य। समाज-विशेष के भौतिक व्यापार, उसकी भौतिक अवस्था या जीवन प्रधान हैं, जबकि उसका आध्यात्मिक जीवन, उसके सामाजिक, नैतिक और धार्मिक, राजनैतिक और दार्शनिक विचार, गौण हैं—वे अपने अस्तित्व और स्वरूप के लिये समाज की भौतिक सत्ता पर निर्भर करते है। किसी विशिष्ट ऐतिहासिक युग में समाज-विशेष के सब प्रकार के विचारों का आधार उसकी भौतिक अवस्था, उसके भौतिक व्यापारों का संगठन होता है। और क्योंकि मनुष्य के भौतिक व्यापार उसकी जीविका जुटाने के साधन होते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि समाज-विशेष का चिन्तन उसके आर्थिक संगठन (Economic Order) पर आधरित होता है। प्रत्येक आर्थिक संगठन का आधार उपयोग में आने वाली चीज़ों की उत्पत्ति के साधन होते हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि युग-विशेष अथवा समाज-विशेष के विचारों और सभ्यता का रूप तात्कालिक **उत्पादन के साधनों से निर्धारित या निरूपित** होता है। फलतः हम पाते हैं कि कृषि-युग की सभ्यता से यन्त्र-युग की वर्तमान सभ्यता सब दृष्टियों से भिन्न है—हमारे नैतिक और धार्मिक विचार, हमारी राजनीति और दर्शन सब में आमूल परिवर्तन हो गया है।

भौतिक-सामाजिक व्यापार चिन्तन या विचारों के उद्गम ही नहीं, इनकी कसौटी भी हैं। वैज्ञानिक अन्वेषणों की सफलता अज्ञेय-वाद और संशयवाद का सबसे बड़ा खण्डन है। किन्तु व्यावहारिक सफलता सत्य की कसौटी है, उसका लक्षण नहीं। मार्क्सवाद जेम्स के व्यवहारवाद से भिन्न है—उसकी दृष्टि में व्यवहारवाद एक प्रकार

* वही, पृ० ७१।

का सन्देहवाद ही है।

मार्क्सवाद अपेक्षावाद (Relativism) का भी विरोधी है। हमारा वस्तु-ज्ञान अपूर्ण है, वह हमारे भौतिक-सामाजिक व्यापार (Material Social Practic) का मुखापेक्षी है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह ज्ञान झूठा है। पूर्ण ज्ञान मानवता के ऐतिहासिक जीवन में क्रमशः ही प्राप्त किया जायगा। वह ज्ञान आज के ज्ञान का विरोधी नहीं, पूर्णतर रूप होगा। अतः सापेक्ष और निरपेक्ष तथ्यों में कोई विरोध नहीं, जैसा कि अपेक्षावादी समझते हैं।

द्वन्द्ववाद (Dialectic) 'उन सामान्य नियमों का विज्ञान है जो बाह्य जगत और चिन्तन-जगत दोनों की गति को निर्धारित करते हैं।' ये नियम तीन हैं। (१) द्वन्द्वात्मक प्रगति का पहला नियम है मात्रा-भेद से गुणभेद की उत्पत्ति। जब मात्रागत परिवर्तन एक विशेष दर्जे पर पहुँच जाते हैं तब यकायक गुणात्मक भेद आविर्भूत हो जाता है। (२) दूसरा नियम विरुद्धों का समवाय अथवा सहावस्थिति (Inter-penetration of opposites) है। सब वस्तुओं में अन्तर्विरोध रहते हैं, उनके ऋणात्मक और धनात्मक पक्ष रहते हैं। वस्तुएँ स्वभावतः विरोधग्रस्त हैं। यह सहावस्थान संघर्ष को जन्म देता है। विरुद्धों की एकता आपेक्षिक है और उनका संघर्ष निरपेक्ष, इसीलिये मार्क्सवाद सुधार-नीति का विरोध कर क्रान्ति का पक्ष लेता है। (३) द्वन्द्वात्मक विवर्त्तन का तीसरा नियम निषेध का निषेध अथवा विपरिणाम का विपरिणाम (Negation of negation) है। वाद का विरोध करके प्रतिवाद स्वयं भी निषिद्ध हो जाता है। यह अन्तिम निषेध या विपरिणाम युक्त-वाद है। यहाँ भी निषेध का अर्थ अस्वीकृति या विनाश नहीं है।

वैज्ञानिक यंत्रवाद – डार्विन-स्पेन्सर

डार्विन के विकासवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि (१) एक बार पृथ्वी पर किसी प्रकार जीवन का आविर्भाव हो जाने पर उससे तरह-तरह की जीव-योनियों का विकास बिना किसी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप

के निष्पन्न हो सकता है; तथा (२) अधिकाधिक ऊँची योनियों के विकास की व्याख्या के लिए किसी चरम हेतु को मानना आवश्यक नहीं है, यह विकास 'प्राकृतिक चुनाव' अथवा 'योग्यतम की विजय' आदि यान्त्रिक नियमों (Mechanical Principles) की सहायता से अपनी समग्रता में व्याख्येय है। डार्विन ने अपनी गवेषणाओं को प्राणिशास्त्र तक ही सीमित रखा था, उसमें दार्शनिक बनने की इच्छा न थी। किन्तु हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी विकासवाद को अधिक व्यापक रूप देकर एक दर्शन-पद्धति का निर्माण कर डाला। स्पेन्सर के दिये हुए विकास के फार्मूले या सूत्र का हम सांख्य के प्रकरण में ज़िक्र कर आये हैं। संक्षेप में, स्पेन्सर की विश्व-व्याख्या इस प्रकार है। प्रारम्भ में जड़ द्रव्य वायव्य (Gaseous) रूप में था। वह एकरस (Homogeneous) था, उसके अवयवों में संश्लेष (Coherence) का अभाव था, और उसमें किसी प्रकार की जटिलता (Complexity) न थी। धीरे-धीरे यह वायव्य द्रव्य घनीभूत होने लगा तथा उसकी जटिलता और उसके अवयवों में संश्लेष बढ़ने लगा। परिणाम, सौरमण्डलों तथा तारों का प्रादुर्भाव हुआ। स्पेन्सर के अनुसार हमारा सौरमण्डल पहले एक वायव्य पुद्गल-पुञ्ज था। धीरे-धीरे उसके घनीभाव और अवयव-संश्लेषण से सूर्य तथा अन्य ग्रह-उपग्रहों का विकास हुआ। (स्पेन्सर को लाप्लास की बताई हुई प्रक्रिया अभिमत थी।) इसके बाद धीरे-धीरे पृथ्वी के ठण्डे हो जाने पर उस पर जीवन का उदय हुआ और जीवन की प्रारम्भिक एकरस अवस्था (Homogeneity) से विभिन्न जीवयोनियों का पृथक्करण (Differentiation) या विकास हुआ। प्राणधारियों की इन्द्रियों तथा अन्य अवयवों का विकास भी उपर्युक्त व्यापक नियम के अनुसार हुआ है। आदिम जीवाणुओं के शरीर में अवयवों तथा इन्द्रियों का प्रभेद नहीं था—अमीबा आदि क्षुद्र जन्तु शरीर के एक ही भाग से चलने-फिरने, छूने आदि का काम लेते थे। धीरे-धीरे विभिन्न अङ्गों

और इन्द्रियों का, पृथक्करण-प्रक्रिया से, विकास हुआ जिसका सर्वोच्च रूप मनुष्य है। इसी प्रकार जन्तुओं में मस्तिष्क और चेतना का भी विकास हुआ है। स्पेन्सर अपने सिद्धान्त का प्रयोग सामाजिक संस्थाओं के विकास की व्याख्या में भी करता है। उसके अनुसार सभ्यता की प्रगति संस्थाओं एवं मानवी व्यवसायों (उद्यमों या पेशों) के अधिकाधिक पृथक्करण की ओर है। आदि युग में एक ही मनुष्य किसान, बढ़ई और लुहार होता था, धीरे-धीरे यह व्यवसाय अलग हो गये। पहिले प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति आप कर लेता था, अब अमरीका और भारतवर्ष जैसे महादेश भी अपने को आवश्यक सामग्री की दृष्टि से पूर्ण (Self-Sufficient) नहीं पाते।

हेकेल

स्पेन्सर दीखने वाले विश्व के पीछे अन्तर्हित तत्त्व को स्वीकार करता था, यद्यपि यह तत्त्व अज्ञेय है।* किन्तु अध्यात्मवाद के प्रति-क्रिया-स्वरूप वैज्ञानिक जड़वाद के दूसरे प्रचारकों ने किसी अज्ञेय तत्त्व के मानने से इन्कार कर दिया। जिन वैज्ञानिक जड़वादियों पर डार्विन का विशेष प्रभाव पड़ा उनमें अर्नस्ट हेकेल का नाम उल्लेखनीय है। उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग अन्त में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'संसार की पहेली' (The Riddle of the Universe) प्रकाशित की। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य हेकेल का एकवाद या अद्वैतवाद (Monism) है। विश्व की समस्त व्यक्तियां (Entities) अन्ततः एक ही प्रकार के तत्त्व का विकार हैं, अर्थात् पुद्गल का। पुद्गल-तत्त्व अनादि और शाश्वत है, उसका कोई स्रष्टा नहीं है। उसी से

* वस्तुओं को जानने का अर्थ है उनके पारस्परिक सम्बन्धों या प्रभाव को जानना। बौद्धिक ज्ञान सम्बन्धों का अर्थात् सापेक्ष ज्ञान है। सापेक्ष वस्तुएँ निरपेक्ष तत्त्व का संकेत करती हैं, पर उसे बुद्धि जान नहीं सकती। स्पेन्सर अज्ञेयवादी है।

क्रमशः जीवन का विकास होता है, और जीवयोनियां विकसित होकर चेतन मनुष्य को जन्म देती हैं। पुद्गल के कुछ तत्त्व ऐसे हैं जिनमें जीवन का स्फुरण होता है। लाप्लास ने कहा था कि उसे सृष्टि का विकास दिखाने में कहीं ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ी। हेकेल का भी ऐसा ही मत था। वह कट्टर पुद्गला-द्वैतवादी था।

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि विकासवाद का अर्थ उन्नति-वाद करना आवश्यक नहीं है। सांख्य और अरस्तू के प्रकरण में हम इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं। स्पेन्सर और डार्विन के अनुसार विकास-प्रक्रिया किसी लक्ष्य या प्रयोजनपूर्त्ति की ओर नहीं बढ़ रही है। विकासवाद और प्रयोजनवाद दो भिन्न सिद्धान्त हैं; विकासवादी जड़-वादी भी हो सकता है—स्पेन्सर का झुकाव जड़वाद की ओर है; किंतु प्रयोजनवाद अध्यात्मवाद से निकट सम्बन्ध रखता है। जैसा कि हमने कहा, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की जड़वादी पद्धतियां हीगल आदि के अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशाब्दों में इस वैज्ञानिक जड़वाद के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया होने लगी और फिर अध्यात्मवाद का उत्थान हुआ। इस उत्तरकालीन अध्यात्मवाद का आधार मुख्यतः ज्ञानमीमांसा की समस्याएं हैं। उसका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। अध्यात्मवाद की इन नूतन पद्ध-तियों ने विश्व को किसी उल्लेखनीय व्याख्या को जन्म नहीं दिया। व्यापकता और गम्भीरता दोनों की दृष्टि से ब्रेडले और क्रोचे की दी हुई विश्व की व्याख्याएं स्पिनोज़ा, लाइबनिज़ और हीगल की व्याख्याओं से तुलित नहीं की जा सकतीं। अति-आधुनिक काल में इस नूतन अध्यात्मवाद के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई है, उसका सम्बन्ध भी ज्ञानमीमांसा के प्रश्नों से है। विश्व-प्रक्रिया की जो कतिपय व्याख्याएं हाल में प्रस्तुत की गई हैं उन पर विकासवाद और भौतिक विज्ञान, विशेषतः आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद का, प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यहां हम संक्षेप में विश्व की दो व्याख्याओं का उल्लेख

करेंगे, एक बर्गसां का सृजनात्मक विकासवाद और दूसरा एलेक्ज़ेण्डर तथा लॉयड मार्गन का नव्योत्क्रान्तिवाद।

बर्गसां - सृजनात्मक विकासवाद

बर्गसां योरपीय दर्शन में एक नई प्रवृत्ति का प्रतिनिधि है। ज्ञान-मीमांसा में वह अनुभववादी है, और इस प्रकार योरपीय मस्तिष्क की सामान्य प्रवृत्ति का विरोधी है। दूसरे, वह यन्त्रवाद (नियतिवाद) तथा प्रयोजनवाद दोनों का समान रूप से आलोचक है। वह डार्विन आदि के विकासवाद को भी उसके मौलिक रूप में स्वीकार नहीं करता। हेराक्लाइटस की भांति बर्गसां विश्व-तत्त्व को गति और प्रवाहमय मानता है। विश्व-तत्त्व का प्रधान धर्म सतत गति अथवा अनवरत परिवर्त्तन है। नियतिवाद और प्रयोजनवाद दोनों ही काल संक्रमण (Duration) को एक मिथ्या प्रतिभास बना देते हैं; दोनों के अनुसार विश्व-प्रक्रिया का क्रम पहले से निश्चित है।

बर्गसां को विश्व के विकास की ये दोनों व्याख्यायें ग्राह्य नहीं हैं; ये दोनों व्याख्यायें—यंत्रवाद और प्रयोजनवाद—काल या समय को निरर्थक बना देती हैं। यान्त्रिक व्याख्या का मुख्य तत्व यही है कि वस्तु-जगत का भविष्य वर्तमान द्वारा निर्धारित (Determined) है। लाप्लास ने इसका ठीक प्रतिपादन किया था—यदि कोई मस्तिष्क या बुद्धि वस्तु-जगत को प्रेरित करनेवाली सब वर्तमान शक्तियों को जानती हो, तो वह वस्तु-जगत के सारे भविष्य और अतीत को भी उनकी सम्पूर्णता में देख या जान सकेगी। उसके लिये अतीत और भविष्य में, वर्तमान की तरह, कुछ भी अनिश्चित या अज्ञात नहीं होगा।* वैज्ञानिक यन्त्रवाद या नियतवाद के अनुसार संसार में कोई नितान्त नई घटना नहीं हो सकती। यन्त्रवाद को मानकर हम नवीन योनियों के विकास की कभी ठीक व्याख्या नहीं कर सकते। यन्त्रवाद काल-संक्रमण को सर्वथा अर्थहीन या प्रभाव-शून्य बना डालता है।

* Creative Evolution, पृ० ४०

इसी प्रकार प्रयोजनवाद भी सदोष है। यदि विश्व नियमित गति से एक उद्देश्य की ओर बढ़ रहा है, तो यह स्पष्ट है कि उसमें अप्रत्याशित नवीनताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार भी, जो यन्त्रवाद का उलटा है, काल-संक्रमण निरर्थक है।❀ क्या नीची योनियों से ऊँची योनियों का विकास प्रयोजनवाद के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करता? बर्गसां का उत्तर नकारात्मक है। जीवन-विकास से सम्बद्ध घटनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके बर्गसां ने यह परिणाम निकाला कि योनियों का विकास एक दिशा में नहीं, बल्कि तीन दिशाओं में हुआ है।* ऐसा प्रतीत होता है कि अपने विकास में जीवन-शक्ति या प्राण-शक्ति किसी खास उद्देश्य को लेकर अग्रसर नहीं होती। यही कारण है कि हम विकास को तीन दिशाओं में प्रवर्तित हुआ पाते हैं। एक दिशा के विकास का परिणाम वनस्पति-जगत है; दूसरी दिशा में उन जन्तुओं का विकास हुआ है जिनमें नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ (Instincts) बहूत पूर्ण रूप में विकसित हुई है; तीसरी दिशा में रीढदार पशुओं का विकास हुआ है जिनमें मनुष्य मुख्य है। रीढ़दार पशुओं में क्रमशः मस्तिष्क या बुद्धि का विकास हुआ है। अनुकूलीभाव (Adaptation) की धारणा जन्तु-जगत के विकास की सब वास्तविकताओं की व्याख्या करने में असमर्थ है।

विकास-सम्बन्धी घटनाओं पर विचार करके बर्गसां यह परिणाम निकालता है कि विकास का कारण न तो केवल कार्य्यकारण-भाव का नियम है, और न कोई अन्तिम प्रयोजन; जीवन-विकास का पुष्कल हेतु प्राणशक्ति या जीवनशक्ति की सृजनशीलता है। इसीलिए बर्गसाँ ने अपने मुख्य ग्रन्थ का नाम "सृजनात्मक विकास" (Creative Evolution) रक्खा है। विश्व का चरम तत्व प्राणशक्ति या जीवनशक्ति (Elan Vital) है जो काल संक्रमणात्मक या सृजनात्मक है। विश्व-

❀वही, पृ० ४१

*वही, दे० अध्याय २

ब्रह्माण्ड इस प्राणशक्ति का प्रवाह मात्र है। यह प्राणशक्ति न आगे के नियमों से बँधी है, न पीछे के; वह अपने सृजनशील विकास में न कार्य्य-कारण भाव से प्रेरित होकर चलती है न किसी पूर्व-विचारित प्रयोजन से। वह अविच्छिन्न भाव से बदलती और सृष्टि करती रहती है।

पुद्‌गल तत्त्व

यदि प्राणात्मा (Elan vital) या प्राणशक्ति ही विश्व का अन्तिम तत्व है तो जड़ पदार्थों का अस्तित्व नहीं होना चाहिए, और क्योंकि विश्वतत्व सृजनशील अथवा गत्यात्मक है इसलिए स्थिरता की प्रतीति भी नहीं होनी चाहिए। पुद्‌गल या जड़तत्व के विषय में बर्गसां का मत है कि वह प्राणात्मा के प्रवाह का अवरोध मात्र है, प्राणात्मा के प्रवाह के किसी क्षण या स्थल में उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है; और वह स्प्रिंग के तार की भाँति अपने में प्रत्यावर्तित होती है। यह प्रत्यावर्तन ही पुद्‌गल है। बर्गसां का मत है कि पुद्‌गल और बुद्धि दोनों का जन्म साथ-साथ होता है; दोनों एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं। यदि बुद्धि न हो तो पुद्‌गल की प्रतीति भी न हो। बुद्धि का मुख्य कार्य प्राणधारियों (मनुष्यों) को परिस्थितियों के अनुकूलीभाव में सहायता देना है। बुद्धि सफल व्यापार का उपकरण या साधन मात्र है; उसका उद्देश्य तत्वज्ञान की उपलब्धि कराना नहीं है। तत्वज्ञान या दार्शनिक बोध के लिए अनुभव का आश्रय लेना चाहिए।

नव्योत्क्रान्तिवाद

क्रम-विकास की विभिन्न भूमिकाओं में नूतनताओं का आविर्भाव होता है। इन नूतनताओं की दार्शनिक व्याख्या क्या है? जड़वादी विचारक नूतनताओं को आकस्मिक और अतात्त्विक कह कर उड़ा देते हैं। हीगल आदि अध्यात्मवादियों के अनुसार नूतनताएँ विश्व के गुप्त उद्देश्य की अभिव्यक्ति हैं। बर्गसाँ कहेगा कि नूतनताओं की सृष्टि विश्वतत्त्व का स्वभाव है। एलेक्ज़ेण्डर और लॉयड मार्गन ने नूतनताओं के आविर्भाव की एक निराली व्याख्या देने का प्रयत्न किया है।

एस् एलेक्ज़ेण्डर के अनुसार विश्व का आदिम या मूल तत्त्व देश और काल अथवा देश-काल है। यह देश-काल जन-साधारण के देश और काल से भिन्न है। एलेक्ज़ेण्डर का देश-काल एक तत्त्व है जो विशुद्ध गत्यात्मक है। देश-काल गतिमान् पुद्गल नहीं है, वह स्वयं गति-रूप है और पुद्गल उनसे उत्पन्न होता है। देश का सबसे सूक्ष्म अंश बिन्दु कहलाता है और काल का सबसे सूक्ष्म अंश क्षण कहा जाता है। एलेक्जेण्डर के मत में, जो आधुनिक विज्ञान के बहुत समीप हैं, देश और काल मिलकर एक ही तत्व है, जिसमें बिन्दु-क्षण अंशभूत हैं। इन बिन्दु-क्षणों से क्रमशः जड़तत्व अथवा पुद्गल की उत्पत्ति होती है। आदिम देशकाल के कुछ व्यापक गुण हैं जैसे सत्ता, सामान्यता, सम्बन्ध, नियमशीलता, द्रव्यता, परिमाण, संख्या और गति। देश-काल सदा ही बिन्दु-क्षणों के संघातों में सम्भिन्न अथवा विभक्त होता रहता है। इन संघातों में मुख्य विभिन्न गतिवेग (Velocities) अथवा स्पीडें और विस्तार हैं। इसके बाद क्रमशः रूप, रस, गंध आदि गुण उद्भूत होते हैं। विकास में और उन्नति होने पर ऐसी दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे जीवन अथवा प्राणशक्ति का आविर्भाव होता है। इसके बाद चेतना का विकास होता है। चेतन मानसिक क्रियाओं का नाम ही आत्मा है। जिन जीवित प्राणियों को हम जानते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट गुण चेतना है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि संसार में चेतना से ऊँचे किसी गुण का उद्भव नहीं होगा। एलेक्जेण्डर के मत में चेतना के बाद जिस गुण की उत्क्रान्ति या आविर्भाव होगा वह दैवतभाव (Deity) है। मनुष्य के बाद जिस भूमिका में विश्व का विकास होगा वह दैवतभाव की भूमिका है। एलेक्जेण्डर ने दैवत-भाव (Divinity or Deity) के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है उसका अर्थ ईश्वर भी होता है। एक दृष्टिकोण से देखने पर ईश्वर कोई सिद्ध पदार्थ नहीं है, वह 'है' नहीं, अपितु सदैव हो रहा या होने की दशा

में है। विश्व का विकास प्रतिक्षण दैवतभाव की ओर बढ़ रहा है--ईश्वर को सृष्ट कर रहा है।

दूसरे अर्थ में एलेक्जेण्डर दैवतभाव की ओर बढ़ती हुई विश्व-प्रक्रिया को ही ईश्वर कहता है। ऐसा ईश्वर सदैव सिद्ध है। इस विश्व-प्रक्रिया में एक आन्तरिक प्रेरणा निहित है जो उसे दैवतभाव की ओर अग्रसर करती है। हमारा धर्म और कर्त्तव्य यह है कि हम विश्व की इस दैवतभाव की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति में सहायक हों।

इस प्रकार एलेक्जेण्डर नवीनताओं के आविर्भाव की सम्भावना को मानता है। विकास का अर्थ है नूतनताओं का आविर्भाव। इस आविर्भाव का कारण विश्व-प्रक्रिया में अन्तर्हित प्रेरणा या ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति है।

लॉयड मार्गन का नव्योत्क्रान्तिवाद (Emergent Evolution)

विकास-प्रक्रिया में नवीन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, इस सिद्धान्त को प्रचारित करने का सब से अधिक श्रेय लॉयड मार्गन को है। लॉयड मार्गन के अनुसार मूलतत्त्व न चित् (चेतन) है और न अचित् (जड़), वह चिदचिदात्मक है। जगत दो नहीं, एक है; जड़ जगत और चेतन जगत भिन्न भिन्न नहीं हैं। विश्व-प्रक्रिया गतिमयी है। चिदचिदात्मक घटना-समूहों को ही कभी वस्तु और कभी जीव कहकर वर्णित किया जाता है। विकास के क्रम में नये-नये गुण उद्भूत होते हैं। जीवन एक इसी प्रकार का गुण है। इसी तरह कुछ जीवित प्राणियों में चेतना नामक गुण का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु नया गुण उत्पन्न होकर पुराने गुणों को नष्ट नहीं कर डालता, वह केवल गुणों की संख्या में वृद्धि कर देता है। जिस घटना-समूह को हम जीवन कहते हैं वह चिदचिदात्मक तो रहता ही है, उसमें जीवन नामक गुण और आ जाता है। भेद यही है कि जीवित प्राणी की चिदचिदात्मक गतियाँ या क्रियाएँ जीवन-शून्य वस्तुओं से कुछ भिन्न होती हैं। इसी प्रकार चेतन प्राणियों में जीवन-क्रियाएँ भी

होती ही रहती हैं। बाद में विकसित होनेवाला गुण पहले विकसित हुये गुणों का बाधक नहीं होता। इन नये-नये विकसित होने वाले गुणों को लॉयड मार्गन आविर्भूत गुण (Emergent Qualities) कहता है।

लॉयड मार्गन ने ईश्वर में विश्वास प्रकट किया है; ईश्वर वह प्रेरक शक्ति है जिसके कर्त्तृत्व द्वारा आविर्भूत गुणों का आविर्भाव होता है। ईश्वर विकास-प्रक्रिया का प्राण है। वह विकास-प्रक्रिया से बाहर कोई चीज़ नहीं है अपितु उसमें पूर्णतया अभिव्याप्त है।

स्मट्स का समष्टिवाद (Holism)

अफ्रीकन यूनियन के भूतपूर्व प्रधान सचिव जेनरल स्मट्स के मत में क्रम-विकास की प्रवृत्ति अधिकाधिक बड़ी समष्टियाँ बनाने की ओर है। विद्युदणुओं से परमाणु बनते हैं और परमाणुओं से द्वयणुक और त्र्यणुक, तथा उनसे पुद्गल के बड़े समूहों का उद्भव होता है। जीवन के क्षेत्र में भी पहले एक घटक (Cell) वाले जीवों का प्रादुर्भाव होता है और फिर क्रमशः लाखों घटकों वाले प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं। जीवजगत में सबसे ऊँची सृष्टि मनुष्य का व्यक्तित्व है। राजनीतिक क्षेत्र में भी विकास की प्रवृत्ति अधिकाधिक व्यापक शासन-संस्थाओं की उत्पत्ति की ओर दिखाई देती है। प्राचीन काल के छोटे-छोटे राज्यों का स्थान आजकल ब्रिटिश कामनवेल्थ जैसे साम्राज्यों ने ले लिया है तथा आधुनिक विचारक विश्वसंघ की स्थापना की कल्पना कर रहे हैं।

स्मट्स के अनुसार उसका समष्टिवाद केवल एक वर्णनात्मक सूत्र या फार्मूला नहीं है। वह समष्टिभाव को एक प्रकार की शक्ति वर्णित करता है जो विश्व-प्रक्रिया को समष्टियों की उत्पत्ति की ओर नियोजित करती है। यह समष्टिभाव या शक्ति बुद्धितत्त्व या आत्मतत्त्व नहीं है क्योंकि इन तत्त्वों की उत्पत्ति बाद को होती है। इसके विपरीत समष्टिभाव की शक्ति प्रारम्भ से ही विकास का नियन्त्रण कर रही है। जब बड़े-बड़े समुद्रों, ग्रहों और तारों की उत्पत्ति हुई थी तब

आत्मा या बुद्धि कहाँ थी? बर्गसां की भाँति स्मट्स भी काल की यथार्थता से बहुत प्रभावित हुआ है।

स्मट्स के दर्शन में समष्टिभाव नामक शक्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। विश्व-प्रक्रिया की अधिकाधिक उच्च समष्टियाँ विकसित करने की प्रवृत्ति ही स्मट्स का ईश्वर है। इस प्रकार समष्टिभाव नामक शक्ति या प्रवृत्ति और ईश्वर एक ही वस्तु हैं। इस शक्ति या प्रवृत्ति को चेतन या सज्ञान नहीं कह सकते। स्पष्ट ही ऐसा ईश्वर भक्ति और उपासना का विषय नहीं हो सकेगा।

तुलनात्मक दृष्टि

इस अध्याय में हमने पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों में दी गई विश्व की उल्लेखनीय व्याख्याओं पर दृष्टिपात करने की चेष्टा की है। विश्व की व्याख्या करने से पहले दार्शनिक-विशेष का विश्व से परिचय होना आवश्यक है। किन्तु मानवी अनुभव में विश्व-ब्रह्माण्ड सदा एक ही आयाम या आयतन का नहीं रहता, उसकी परिधि बढ़ती रहती है। एक समय था जब मनुष्य को भूमण्डल का भी पूरा ज्ञान न था, आज कोलम्बस आदि की भौगोलिक खोजों ने ही नहीं, अणुवीक्षण और दूरवीक्षण यन्त्रों के आविष्कार ने भी, हमारे अनुभव की परिधि को अतिशय विस्तृत कर दिया है। डार्विन के विकासवाद ने जीव-जगत् सम्बन्धी धारणाओं को बहुत-कुछ प्रभावित किया है। इसी प्रकार आधुनिक मनुष्य के सामने अपेक्षाकृत अधिक लम्बा-चौड़ा ऐतिहासिक अतीत है, और वह मानव-सभ्यता की प्रगति के बारे में यूनानी और प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक चिन्तन-सामग्री पा सकता है। अभिप्राय यह है कि विज्ञान आदि की उन्नति अथवा अनुभव-वृद्धि के साथ मनुष्य के ज्ञात विश्व, अथवा उसकी कल्पना को स्पर्श करने वाले ब्रह्माण्ड की सीमाएं भी बढ़ती जाती हैं, और इस वर्धिष्णु अनुभव-जगत् की पुरानी व्याख्याएँ भी असन्तोषजनक हो जाती हैं एवं नवीन व्याख्याओं की आवश्यकता महसूस होती है।

दर्शन के इतिहास में नितान्त नवीन विश्व-व्याख्याओं के प्रतिपादित होने का समय प्रायः नवीन अनुभव-क्षेत्रों के अनुसंधान का समय रहा है। द्रव्यापरत्व, जीव-विकास, फ्रायड का विश्लेषणात्मक मानस-शास्त्र जैसे अन्वेषण मानव-जाति के चिन्तन में हलचल पैदा करने वाले होते हैं, और उनका दार्शनिक प्रगति पर निश्चित प्रभाव पड़ता है।

इसलिए, हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि योरपीय दर्शन ने भारतीय दर्शन की अपेक्षा विश्व की अनेक एवं विविध व्याख्याओं को जन्म दिया। इसका प्रधान कारण योरप में विज्ञान तथा ऐतिहासिक खोजों का उदय ही है। प्राचीन काल में भारतीय दर्शन अनवरत उन्नति करता रहा, किन्तु कुछ काल बाद, यवनों का आक्रमण होने पर, यहाँ पर सब प्रकार की विचार-धाराओं का वेग कम पड़ गया, और अनुभव-जगत् में नवीन-तत्त्वों का समावेश होना बन्द हो गया। परिणाम भारतीय चिन्ता-प्रवाह का सब ओर से अवरोध हुआ। यदि भारत स्वतन्त्र रहता तो सम्भवतः यहां भी लौकिक अभिरुचि (Secular-interest) शिथिल न पड़ती तथा भौतिक विज्ञान का अभ्युदय संभव होता। किन्तु राजनैतिक पराधीनता ने भारतीय हिन्दुओं को लौकिक सुखों से विरक्त और परलोकान्वेषी तथा यहां के दार्शनिकों को मोक्ष-कामी बना दिया, जिसके कारण उनके जीवन का ध्येय आत्म-ज्ञान बन गया और भौतिक विज्ञान की उपेक्षा होने लगी। इसीलिए हम पाते हैं कि जहां वैशेषिक और सांख्य ने विश्व की साहसपूर्ण व्याख्याएं प्रस्तुत कीं, वहां बाद के दार्शनिक इस ओर से उदासीन हो गए। शङ्कर, वाचस्पति, उदयन और रामानुज आदि के बाद, जिन्होंने प्राचीन पद्धतियों को पूर्णरूप देने के अतिरिक्त अनेक मौलिक सिद्धान्तों का भी आविष्कार किया, भारत में मौलिक विचारक उत्पन्न होना प्रायः बन्द हो गया और विद्वान् पण्डित अनुयायी बने रहने में अपने को धन्य समझने लगे। योरप की भाँति यहां भौतिक विज्ञान का उदय नहीं

हुआ, जिससे भारत की अनुभव-परिधि में विस्तार होता। अतएव विश्व की प्राचीन व्याख्याओं के प्रति असन्तोष भी नहीं जगा।

हम कह चुके हैं कि सांख्य की व्याख्या मुख्यतः विश्व की यान्त्रिक व्याख्या है, उसका प्रचुर हेतु प्रकृति की चंचलता एवं कार्य-कारणभाव का शासन है। किन्तु सांख्य दर्शन प्राकृतिक विकास को सप्रयोजन भी मानता है—प्रकृति का विकास पुरुष को मुक्त करने के लिए है। सांख्य की प्रकृति जिस लक्ष्य को लेकर प्रवर्त्तित होती है वह स्वयं उसका उद्दिष्ट नहीं है, उसका फलभोगी पुरुष है। इसीलिए तो सांख्य का प्रयोजनवाद अपूर्ण लगता है। विश्व-प्रक्रिया का उद्देश्य अपने से भिन्न पुरुष में यह ज्ञान उत्पन्न करके कि वह विश्व-जगत् से भिन्न है, उसे मुक्ति दिलाना है, यह सिद्धान्त कुछ विचित्र लगता है। सांख्य की प्रकृति परोपकारिणी हो सकती है, प्रयोजनान्वेषिणी नहीं। सांख्य की तुलना में योरप की विभिन्न प्रयोजनवादी पद्धतियां कहीं अधिक प्रौढ़ हैं।

किन्तु यन्त्रवाद की दृष्टि से सांख्य दर्शन में आश्चर्यजनक पूर्णता और आधुनिकता है, वह वर्त्तमान भौतिक-विज्ञान के काफी समीप है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि डार्विन से पहले के दर्शनों (अरस्तू, सांख्य, लाइबनिज़ आदि) में विकास की धारणा परिपक्व नहीं है। किन्तु विश्व-प्रक्रिया उन्नति की ओर अग्रसर हो रही है, यह विश्वास हीगल में पूर्ण रूप में वर्त्तमान है। भारतवर्ष में यह विश्वास कभी प्रचलित नहीं हुआ, और, महायुद्ध के बाद, योरपीय विचारक भी 'उन्नति की अनिवार्यता' में विश्वास खोने लगे हैं। वर्त्तमान महायुद्ध के बाद सम्भवतः उक्त विश्वास के ध्वंसावशेष भी अन्तर्हित हो जायंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां योरप में प्रयोजनवादी, यन्त्रवादी एवं विकासवादी तीन प्रकार की विश्व-व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं वहां भारतीय दर्शन में इस प्रकार की विविधता नहीं पाई जाती। इस दृष्टि से योरपीय दर्शन भारतीय दर्शन से काफ़ी आगे रहा है।

अध्याय ४

अध्यात्मवाद

प्रारंभिक—पिछले अध्याय में हमने जिन दर्शन-पद्धतियों का उल्लेख किया है उनमें से कुछ अध्यात्मवादी (Idealistic) पद्धतियां कहलाती हैं। प्लेटो, स्पिनोजा, लाइबनिज़ और हीगल विश्व के अध्यात्मवादी व्याख्याता हैं। इनके अतिरिक्त काण्ट, फिच्टे, शेलिङ्ग, शोफेनहावर, ब्रेडले, क्रोचे आदि अनेक प्रसिद्ध योरपीय दार्शनिक अध्यात्मवादी निर्दिष्ट किये जाते हैं। भारतवर्ष में प्रायः बौद्धों के दो सम्प्रदायों, विज्ञानवाद और शून्यवाद, तथा वेदान्त के कतिपय सम्प्रदायों की अध्यात्मवाद संज्ञा है। यह अध्यात्मवाद क्या है?

अध्यात्मवाद की परिभाषा

अध्यात्मवाद की परिभाषा करना सरल नहीं है। अपने ग्रन्थ 'भारतीय अध्यात्मवाद' (Indian Idealism) में डा० दासगुप्त लिखते हैं:—'वर्त्तमान अध्यात्मवाद का, यद्यपि उसके व्याख्याताओं में बहुत मतभेद है, मुख्य मन्तव्य यह मालूम पड़ता है कि वस्तु-तत्त्व (विश्व का मूल-तत्त्व) चिदात्मरूप (Spiritual) है।'❀ प्रो० कैम्प स्मिथ के मत में 'वे सब पद्धतियां जिनके अनुसार विश्व-प्रक्रिया के दिशा-निर्धारण या नियमन में आध्यात्मिक मूल्यों का निश्चित हाथ रहता है'* अध्यात्मवादी हैं। किन्तु प्रो० यूइंग को कैम्प स्मिथ की परिभाषा में अतिव्याप्ति दीखती है। उनके अनुसार अध्यात्मवादी दर्शनों का समान्य सिद्धान्त यह है कि 'कोई भौतिक पदार्थ (चेतन) अनुभव के बाहर नहीं रह सकता।'† [एक दूसरे लेखक के शब्दों में

❀पृ० २०

*Idealism: A critical Survey, पृ० २ में उद्धृत

†वही, पृ० ३

'अध्यात्मवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है जिसके अनुसार जड़तत्त्व अथवा देशकाल-गत घटना-समष्टि के यथार्थरूप पर विचार करते समय उसके साथ आत्मतत्त्व पर, जो किसी अर्थ में उसका आधार है, विचार करना अनिवार्य हो जाता है।' अन्तिम दो परिभाषाओं का अभिप्राय यह है कि आत्मतत्त्व की कल्पना के बिना जड़ जगत् अधूरा रहता है।

उक्त तीनों ही परिभाषाएँ विशिष्ट दृष्टिकोणों से ठीक हैं, किन्तु तीनों साथ-साथ किसी भी अध्यात्मवादी दर्शन को कठिनता से लागू होंगी। बात यह है कि यहां अध्यात्मवादी दर्शनों में समानताएँ हैं, वहां विषमताएं भी हैं। विशेषतः जब हम योरपीय और भारतीय अध्यात्मवाद की तुलना करने लगते हैं, तो उनमें काफी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

वस्तुतः ऊपर की तीन परिभाषाएं अध्यात्मवादी दर्शनों के तीन प्रकारों या श्रेणियों का वर्णन देती हैं। प्रो० कैम्प स्मिथ की परिभाषा उन पद्धतियों को विशेष रूप से लागू होती है जिन्हें हम विश्व की प्रयोजनवादी व्याख्याएं अभिहित कर आये हैं। इन दर्शनों के अनुसार विश्व-प्रक्रिया निरुद्देश्य या निष्प्रयोजन नहीं है, वह आध्यात्मिक मूल्यों, अध्यात्मिक-पूर्णता के, लाभ (Realization) या प्राप्ति के लिये है—विश्व-प्रक्रिया क्रमशः पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो रही है। प्लेटो और हीगल की पद्धतियां इस अर्थ में अध्यात्मवादी हैं; अरस्तू और लाइबनिज़ भी इस प्रकार के अध्यात्मवाद के प्रचारक कहे जा सकते हैं। अध्यात्म-जगत् में जिसे मूल्यवान् समझा जाता है, जैसे सत्य, सौन्दर्य और नैतिक पवित्रता, उनके प्रति विश्व-प्रक्रिया उदासीन नहीं है। यह आध्यात्मिक मूल्य विश्व-प्रक्रिया को प्रभावित अथवा निर्धारित करते हैं।

डा० दासगुप्त की परिभाषा भारतीय अध्यात्मवाद को विशेष रूप से लागू होती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल आत्मा या ब्रह्म ही तात्त्विक पदार्थ है, विश्व-प्रपञ्च मिथ्या या अतात्त्विक है। विज्ञानवाद और शून्यवाद इन दोनों के अनुसार भी प्रपञ्च मिथ्या है; विज्ञानवाद विज्ञान-प्रवाह को ही सत्य मानता है। बार्कले का भी ऐसा ही मत है।

तीसरी परिभाषा योरपीय अध्यात्मवाद के आधुनिक, विशेषतः ब्रिटिश, रूप को लागू होती है। ब्रेडले, बोसांक्वेट आदि का अध्यात्मवाद, जिस पर क्रमशः काण्ट और हीगल का विशेष प्रभाव पड़ा है, और जो बार्कले के आत्मपाती अध्यात्मवाद (Subjective Idealism) से भिन्न है, इस परिभाषा का प्रधान रूप से लक्ष्य है।

तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि अध्यात्मवाद के उपर्युक्त विभिन्न रूपों में कोई भी सामान्य तत्त्व नहीं है। अधिकांश अध्यात्मवादी देश-काल में प्रसरित जगत् को कम तात्त्विक या अतात्त्विक मानते हैं। इस दृष्टि से प्लेटो और वेदान्त अधिक समीप हैं। वेदान्त के अनुसार विश्व-प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त्त या आभास मात्र है; प्लेटो के अनुसार भी दृश्यमान जगत् वस्तु-जगत् की छाया मात्र है। प्लेटो और वेदान्त दोनो ही तात्त्विकता के दर्जे (Degrees) नहीं मानते, यद्यपि दोनो यह स्वीकार करते हैं कि विश्व की व्यक्तियों में तत्त्व पदार्थ कहीं कम और कहीं अधिक अभिव्यक्त होता है,* फिर भी वे लाइबनिज़, हीगल और ब्रेडले के भी समान यह विश्वास नहीं प्रकट करते कि क्रमशः कम और अधिक तात्त्विक पदार्थ एक तारतम्यात्मक श्रेणी (Graded Series) बनाते हैं। लाइबनिज के चिद्‌विन्दु और हीगल की धारणाएं स्पष्ट ही तात्त्विकता (Reality) के विभिन्न दर्जों की द्योतक हैं; ब्रेडले भी विश्व-विवर्त्तों के तात्त्विकता के क्रम से व्यवस्थित (Arrange) किये जाने की आवश्यकता और सम्भावना स्वीकार करता है, यद्यपि वह स्वयं ऐसा करने में असमर्थ रहा है। किन्तु प्लेटो और शङ्कर ने इस प्रकार

* शङ्कर कहते हैं—प्राणित्वाऽविशेषेऽपि मनुष्यादि-स्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान् भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवति इत्यादि - ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।३।३। प्लेटो ने "सिम्पोज़ियम" नामक संवादग्रन्थ में यह मत प्रकट किया है कि पदार्थ न्यूनाधिक सुन्दर हैं, क्योंकि वे सौंदर्य-प्रत्यय का न्यूनाधिक अंशभोग करते हैं।

के प्रयत्न को कभी वांछनीय नहीं समझा। वेदान्त और पश्चिमी अध्यात्मवाद की भांति बौद्ध अध्यात्मवादी भी प्रपञ्च को अतात्त्विक मानते हैं। जिस प्रकार हीगल और ब्रेडले ने अनुभव-जगत् की धारणाओं अथवा व्यक्तियों (Entities) को विरोधग्रस्त कथित किया है, उसी प्रकार नागार्जुन भी विश्व के पदार्थों को सारहीन घोषित करता है।

तात्त्विक और अतात्त्विक अथवा तत्त्व और आभास (Reality and Appearance), का भेद, पारमार्थिक और व्यावहारिक (बौद्ध सम्वृति) अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष सत्यों का विभाग, तथा वर्त्तमान से ऊँची व्यक्ति अथवा विश्व की दशा में विश्वास—यह सिद्धान्त अध्यात्मवाद के पूर्वी और पश्चिमी प्रायः सभी रूपों में समान हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्वी और पश्चिमी अध्यात्मवाद की पद्धतियों में महत्त्वपूर्ण भेद नहीं हैं। यहां हम इन भेदों की सकारण व्याख्या देने का प्रयत्न करेंगे, साथ ही कुछ स्पष्ट दीखने वाली समानताओं पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

विज्ञानवाद और बार्कले

भारतीय विज्ञानवाद और अंग्रेज दार्शनिक बार्कले के मन्तव्यों में स्पष्ट समानता है; किन्हीं अन्य सम्प्रदायों में इतनी समानता दुर्लभ है। बार्कले को योरपीय अध्यात्मवाद के आधुनिक रूपों का प्रवर्त्तक ही कहना चाहिए। उसका सिद्धान्त आत्मपाती अध्यात्मवाद (Subjective Idealism) कहलाता है, किन्तु ब्रेडले आदि का वस्तुपाती (Objective अध्यात्मवाद भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं है।

बार्कले एक प्रतिभाशाली विचारक और तार्किक है। वह लॉक के अनुभववाद (Empiricism) को लेकर चलता है। हमारे समस्त ज्ञान का स्रोत अनुभव है। 'ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय होनेवाले पदार्थों पर विचार करके कोई भी इस परिणाम पर स्पष्ट रूप से पहुँच सकता है कि वे पदार्थ या तो वे प्रत्यय (Ideas) हैं जो इन्द्रियों पर

अंकित किये गये हैं, अथवा वे प्रत्यय जो इनकी क्रियाओं (सोचना, क्रोध करना आदि) पर ध्यान जमाने से उत्पन्न होते हैं, या स्मृति और कल्पना द्वारा लाये गये प्रत्यय। कुछ प्रत्यय ऊपर कहे प्रत्ययों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं।'* ये प्रत्यय ही ज्ञान का विषय हैं; इन प्रत्ययों से भिन्न कोई बाह्य जगत ज्ञान का विषय नहीं होता। अतः बाह्य जगत की कल्पना व्यर्थ है। जो कुछ है वह मन में है। विश्व मनोमय है।

ये प्रत्यय क्या अकारण हमारे मन में उठते हैं, अथवा कारण से? क्या यह मानना उचित नहीं कि बाह्य पदार्थ इन्द्रियों में प्रत्यय उत्पन्न करते हैं? बार्कले मानता है कि प्रत्यय सकारण हैं, पर उनका कारण ईश्वर है, बाह्य पदार्थ नहीं। यदि एक ईश्वर को प्रत्ययों का कारण मानने से काम चल सकता है तो अनन्त पदार्थों को क्यों मानें?

किसी वस्तु के अनुभव का अर्थ है विशेष शक्ल, रूप, स्पर्श आदि का अनुभव; ये सब प्रत्यय हैं, और मेरे भीतर; इनके अतिरिक्त किसी ऐसे द्रव्य (Substance) को मानने की क्या ज़रूरत है जो अनुभव का विषय नहीं होता - क्या प्रमाण है कि ऐसा द्रव्य गुणों का आश्रय होता है?

अपने अनुभव से मैं जानता हूँ कि 'मैं'—एक आत्मा—क्रियाशील तत्त्व हूँ, या है। मैं कल्पनाओं को जन्म देता हूँ, और इच्छाओं का निर्माता हूँ। अतः यह मानना उचित है कि मेरे समान कोई चेतन शक्ति (ईश्वर) प्रत्ययों का कारण है। जड़ द्रव्यों की कल्पना व्यर्थ है।

यह कहना भी ग़लत है कि प्रत्यय बाह्य पदार्थों के समान होते हैं। भला प्रत्ययों और वस्तुओं में क्या समानता हो सकती है? प्रत्यय देश (आकाश) में रहनेवाले या जगह घेरनेवाले नहीं होते,

*रैण्ड, माडर्न क्लासिकल फ़िलासफ़र्स, पृ० २६३

वस्तुएँ जगह घेरती हैं; वस्तुएँ जड़ हैं, प्रत्यय चेतन। एक प्रत्यय प्रत्यय के ही समान हो सकता है—प्रत्यय से भिन्न चीज़ के समान नहीं। इसी प्रकार कार्य-कारण भी समान होते हैं। भला वस्तुएँ नितान्त भिन्न प्रत्ययों का कारण कैसे हो सकती हैं? निष्कर्ष यह कि मन से भिन्न, द्रष्टा से भिन्न या बाहर, वस्तुओं की सत्ता नहीं है।

कोई चीज़, मेज़ या कुर्सी, है—इसका एकमात्र मतलब यह है कि मुझे कुछ ख़ास प्रत्ययों (रूप, रंग आदि) की चेतना होती है। 'होने' का अर्थ है, प्रतीत होना; ज्ञान का विषय होना। अस्तित्व प्रतीति-मूलक है। कोई चीज़ है इसका एक-मात्र अर्थ यही है कि वह चीज़ देखी या अनुभव की जाती है। अनुभूत वस्तुओं के अतिरिक्त अनुभवकर्त्ता की सत्ता भी बार्कले मानता है। अतः उक्त मन्तव्य को इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है—अस्तित्व का अर्थ है, देखना या देखा जाना। जो देखता नहीं और देखा नहीं जाता उसकी सत्ता असिद्ध है। यहाँ 'देखने' का अर्थ 'अनुभव करना' समझना चाहिए।

जब कुर्सी देखी जाती है तब वह है, जब नहीं देखी जाती तब नहीं है! क्योंकि 'कुर्सी' के प्रत्यय को ईश्वर उत्पन्न करता है, इसलिये वह सब को दीखती है। जिस प्रत्यय को मैं उत्पन्न करता हूँ—जैसे कल्पना में—वह केवल मुझे ही दीखता है।

उक्त सिद्धांत मनुष्य की बुद्धि में सहज धँसनेवाला नहीं है, बार्कले इसे जानता है। अतः उसने विस्तार से जहाँ-तहाँ विरोधी तर्कों का खण्डन किया है।*यदि स्वप्न में बिना बाह्य वस्तुओं के अनुभव हो सकते हैं तो जाग्रत अवस्था में क्यों नहीं?

इस अन्तिम तर्क का प्रयोग विज्ञानवादियों ने भी किया है। बार्कले मानता है कि प्रत्ययों का द्रष्टा के बाहर कारण होना चाहिए—अन्यथा

* दे० A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge, पैराग्राफ ४०—७२

हमारे अनुभव हमारे निरपेक्ष और हमें लाचार बनानेवाले, अर्थात् अनिवार्य, न होंगे। किन्तु यदि प्रत्ययों का कारण ईश्वर है तो वह कभी सुखद और कभी दुःखद प्रत्यय क्यों उत्पन्न करता है ? करुणामय ईश्वर में इतनी निर्दयता क्यों और पक्षपात भी क्यों ? पुनर्जन्म को न माननेवाला ईसाई बार्कले इस आपत्ति का कोई उत्तर नहीं दे सकता।

इस दृष्टि से अनीश्वरवादी बौद्ध (विज्ञानवादी) अधिक संगत हैं। वे भी विश्व को प्रत्ययों या विज्ञानों का प्रवाह मानते हैं, पर वे न ईश्वर को मानते हैं, न आत्माओं को। वे किसी स्थिर पदार्थ को नहीं मानते।

प्रत्ययों या विज्ञानों का कोई विज्ञानेतर कारण नहीं। फिर अनुभव की विचित्रता का क्या कारण है ? क्यों तरह-तरह के पदार्थ दीखते हैं ? उत्तर है—वासना-वैचित्र्य ही उक्त वैचित्र्य का प्रचुर कारण है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज निकलता है वैसे ही विज्ञान एवं वासनाएँ एक-दूसरे का हेतु बन जाते हैं। स्वप्न इसका निदर्शन है।

विज्ञानवादियों की अन्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

वस्तुएँ, बाह्य पदार्थ, जिन्हें विपक्षी मानते हैं, परमाणु-रूप हैं या परमाणुओं के समूह-रूप ? यदि वे परमाणु-रूप हैं तो उनका ज्ञान नहीं हो सकता, सूक्ष्म होने से।

यदि वस्तुएँ परमाणु-समूह-रूप हैं तो प्रश्न उठता है कि परमाणु-समूह परमाणुओं से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न हैं तो उनका ज्ञान न हो सकेगा सूक्ष्मता के कारण। यदि भिन्न हैं तो वे गाय-घोड़े की भाँति विलक्षण हैं- तब वस्तुओं और परमाणुओं में कोई सम्बन्ध न रहेगा।

सहोपलंभ-नियम से भी वस्तु और उसके ज्ञान की एकता सिद्ध होती है। दो चीज़ों का भेद देखा जाय इसके लिये यह आवश्यक है कि उनका अलग-अलग अनुभव हो। जो चीज़ें एक साथ ज्ञान का

विषय होती हैं उनका भेद नहीं देखा जा सकता। क्योंकि नील पदार्थ और नील-बुद्धि का ग्रहण या उपलब्धि एक साथ होती है इसलिये उन दोनों में अभेद मानना चाहिए।❋

आत्मावगति (अपनी अवगति या अनुभूति) में आत्मा स्वयं ही ज्ञेय और ज्ञाता होता है। 'मैं हूँ' के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय एक ही पदार्थ है। इसी प्रकार समस्त ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनो हैं। ज्ञातृ-रूप से देखने पर विज्ञान-सन्तान 'आत्मा' प्रतीत होते हैं और ज्ञेय-रूप से देखने पर 'पदार्थ-समूह'; वास्तव में विज्ञानों के अतिरिक्त कहीं कुछ है नहीं

बाह्य जगत्-विषयक निष्कर्ष की समानता के बावजूद बार्कले और विज्ञानवाद के उद्देश्य भिन्न थे ; उनकी युक्तियाँ भी भिन्न हैं। तत्त्व-मीमांसा में भी उनमें भिन्नता है, विशेषतः ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में।

बार्कले का उद्देश्य था वैज्ञानिक जड़वाद का खण्डन। इसके विपरीत विज्ञानवाद बाह्य जगत् का निराकरण इसलिये करता है कि साधकों में वैराग्य उत्पन्न हो। कम-से-कम कुमारिल का यही विचार है* — वे यह विश्वास करना कठिन पाते हैं कि कोई विचारक सचमुच बाह्य जगत् को असत् या मनोमय कह सकता है। "अद्वैतसिद्धि" के उप-टीकाकार विट्ठलेशोपाध्याय के विचार में अद्वैत वेदान्त भी विश्व को इसीलिये मायिक कहता है कि लोगों में वैराग्य-भावना का उदय हो।†

यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि विज्ञानवाद के कतिपय प्राचीन विचारकों, जैसे अश्वघोष ने, विज्ञान-प्रवाह के आधारभूत एक स्थिर तत्त्व में भी विश्वास प्रकट किया था। अश्वघोष ने इस तत्त्व को

❋ देखो ब्र० शां० भा० और भामती, २।२।२८

*दे० "श्लोकवार्त्तिक" (Bibliothica Indica सं०), पृ० १४२

† दे० न्यायामृताद्वैतसिद्धी, कलकत्ता सं० सी०, भूमिका, पृ० ७७

भूततथता नाम दिया था।❀ "लङ्कावतार सूत्र" में इसी अर्थ में आलय विज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है, कहीं-कहीं उसे शून्यता एवं तथागतगर्भ नाम से पुकारा गया है। किन्तु 'लङ्कावतार सूत्र' इस प्रकार के तत्त्व में वस्तुतः विश्वास नहीं रखता; रावण के पूछने पर वहाँ बुद्धजी कहते हैं कि दूसरे मतों के लोगों को आकर्षित करने के लिए ही कभी-कभी एक स्थिर तत्त्व की कल्पना करनी पड़ जाती है।

विज्ञानवाद के विरुद्ध शंकर ने कहा है—यदि बाह्य वस्तुएँ नहीं हैं तो 'बाहरपन' की भ्रान्ति क्यों होती है? जिसे सर्प का अनुभव नहीं उसे सर्प का भ्रम नहीं होता, और जिसे 'बाह्यता' का अनुभव नहीं उसे बाह्यता की भ्रान्ति नहीं हो सकती। बार्कले से पूछा जा सकता है कि ईश्वर 'बाहरपन' की भ्रान्ति-रूप प्रत्यय को उत्पन्न ही क्यों होने देता है? वस्तुतः विज्ञानवाद मनुष्य की सहज बुद्धि के इतना विपरीत है कि उसमें विश्वास उत्पन्न होना असम्भवप्राय है। काण्ट के साथ ही योरप में भिन्न कोटि के अध्यात्मवादी मन्तव्य जन्म लेने लगे। भारतीय वेदान्त भी विज्ञानवाद से भिन्न है।

नागार्जुन और ब्रेडले

हमने ऊपर कहा कि बाह्य जगत् की यथार्थता के विरुद्ध विज्ञानवादियों की एक युक्ति यह भी है कि बाह्य जगत् की कल्पना विरोधग्रस्त है। ब्रेडले और नागार्जुन ने बाह्य और आन्तर विश्व की सारी व्यक्तियों के विरुद्ध इस प्रकार के युक्तिवाद का प्रयोग किया है। ब्रेडले का कथन है कि तत्त्व-पदार्थ को निर्विरोध अथवा समञ्जस होना चाहिए। हमारी द्रव्य, गुण, सम्बन्ध, देश, काल परिवर्त्तन, कार्यकारणभाव, आत्मा आदि की धारणाएँ आदि से अन्त तक विरोधग्रस्त हैं, वे विचार

❀ दे० इण्डियन आइडियलिज़्म, पृ० १०१, १०३ तथा हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, (दासगुप्त), भाग १

का सहन नहीं कर सकतीं, बुद्धि की परीक्षा में फ़ेल हो जाती हैं, इसलिए ये सब धारणाएँ अथवा उनके विषयभूत पदार्थ अतात्त्विक हैं। ब्रेडले ने 'विरोध' का लक्षण करने की कहीं चेष्टा नहीं की है और उसका प्रयोग किसी भी बौद्धिक कठिनाई के अर्थ में कर डाला है। ब्रेडले की भाँति ही नागार्जुन ने भी बौद्धिक धारणाओं की समीक्षा की है। वह भी धारणाओं और पदार्थों को बुद्धिविरोधी एवं अतात्त्विक कथन करता है। किन्तु उसकी तर्कप्रणाली ब्रेडले से कुछ भिन्न है। विरोधग्रस्त के बदले वह वस्तुओं को निःस्वभाव कहना अधिक पसन्द करता है। ब्रेडले के ग्रन्थ में अक्सर 'एक' और 'अनेक' के भेद को विरोध कहा गया है।❁ 'यदि विशेषण विशेष्य से अभिन्न होता है, तो वह व्यर्थ है, और यदि वह विशेष्य में उससे भिन्न वस्तु का आरोप करता है, तो वह मिथ्या है।' ब्रेडले के अनुसार यह कठिनाई आत्म-विरोध है।* 'सम्बन्ध की धारणा के बिना गुण समझ में नहीं आते, सम्बन्ध को साथ लेकर भी गुण बुद्धिगम्य नहीं बनते इसलिए गुण की धारणा विरोधग्रस्त है।' † ब्रेडले ने इसी प्रकार सम्बन्ध, गति आदि की भी समीक्षा की है।

नागार्जुन का तर्कना-प्रकार भिन्न है। वह विश्व के पदार्थों को शून्य कहता है। हिन्दू दार्शनिकों ने शून्य का सीधा कोशगत अर्थ 'अभाव' लिया है। किन्तु प्रायः सब आधुनिक विद्वान् यह मानते हैं कि नागार्जुन के शून्य का कुछ और अर्थ है। नागार्जुन यह नहीं कहता कि विश्व के पदार्थों का अस्तित्व नहीं है; वह सिर्फ यह कहता है कि यह पदार्थ निस्सार या निःस्वभाव हैं। 'नागार्जुन का सिद्धान्त यह है कि सब वस्तुएँ सापेक्ष अतएव अपने में अनिर्वाच्य अथवा लक्षण करने के अयोग्य हैं, उनके

❁ दे० Pringle Pattison, Man's Place in the Cosmos, पृ० १०० तथा आगे

* Appearance and Reality, पृ० १७

† वही, पृ० २५

स्वभाव को खोज निकालना असम्भव है; और, क्योंकि उनका स्वभाव अलक्ष्य (Indefinable) और अवर्ण्य ही नहीं अपितु अज्ञेय है, इस लिए कहना चाहिए कि वे स्वभावशून्य हैं।'❀ सुजुकी कहता है कि 'वस्तुओं की शून्यता का अर्थ यही है कि वे कारणों पर निर्भर करती हैं और अनित्य होती हैं।'* डा० शर्वात्स्की ने शून्य का अनुवाद आपेक्षिक या अनित्य तथा शून्यता का सापेक्षता या अनित्यता किया है।† कोई वस्तु अपने में पूर्ण नहीं है, प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओं पर निर्भर करती है, अर्थात् सापेक्ष है। 'जो कारणों या हेतुओं से उत्पन्न हुआ है उसे हम शून्यता कहते हैं' (यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे—मूल्य-मध्यमक कारिका, २४।१८) मतलब यह है कि 'स्वभाव' का अस्तित्व उसी वस्तु में माना जा सकता है जो हेतुओं या कारणों से रहित है। किन्तु विश्व में इस प्रकार का कोई पदार्थ अपने व्यक्तिगत अकेलेपन में व्याख्येय नहीं है, इसलिए अशेष विश्व शून्य-रूप है।

ऊपर के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि ब्रेडले और नागार्जुन की तर्क-प्रणालियों में कोई समानता नहीं है। किन्तु यह सर्वथा ठीक नहीं है। ब्रेडले ने यद्यपि आपेक्षिकता (Relativism) शब्द का स्पष्ट रूप में प्रयोग नहीं किया है, फिर भी वह विरोधग्रस्तता और आपेक्षिकता में असामञ्जस्य या असंगति नहीं देखता। विश्व के विवर्त्तों या प्रतिभासों (Appearances) के बारे में वह अक्सर यह कहता है कि उनमें विषम या खरदरे कोने (Rugged Edges) होते हैं, और वे अपने से बाहर या परे की ओर संकेत करते हैं। कहीं-कहीं तो उसने नागार्जुन की 'आपेक्षिकता' का प्रयोग भी कर डाला है। एक जगह वह कहता है, 'संक्षेप में तत्व पदार्थ में आपेक्षिकता और आत्मातिक्रमण

❀ दास गुप्त, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग २, पृ० १६३-६४

* Outlines of Mahayana Buddhism, p. 173.

† The Conception of Buddhist Nirvana p. 42.

(Relativity and self-transcendence) नहीं हो सकते।'* ठीक यही मत नागार्जुन का है। नागार्जुन और ब्रेडले दोनों के अनुसार विश्व की व्यक्तियां अतात्त्विक और अबुद्धिगम्य हैं।

यहां तक नागार्जुन और ब्रेडले में समानता है किन्तु दोनों की पद्धतियों में गम्भीर भेद भी हैं। नागार्जुन तात्त्विकता के दर्जे (Degrees) नहीं मानता, जबकि ब्रेडले के अनुसार विश्व के पदार्थ कम और अधिक तात्त्विक हैं। यह मानना पड़ेगा कि तात्विकता के दर्जों का सिद्धान्त ब्रेडले के युक्तिवाद (Dialectic) का आवश्यक परिणाम नहीं है। यदि वस्तुओं की विरोधग्रस्तता न्यूनाधिक नहीं है, यदि सब धारणाएं और पदार्थ समानरूप से विरोधग्रस्त हैं, तो फिर उनमें न्यूनाधिक तात्त्विकता कैसे हो सकती है ? ब्रेडले कहता है कि वस्तुओं में न्यूनाधिक सामञ्जस्य या संगति (Harmony, Self-Consistency) है, इसलिए उनमें न्यूनाधिक तात्त्विकता है। किन्तु वह यह नहीं बतलाता कि इस सामञ्जस्य या व्यक्तिभाव (Individuality) का माप किस प्रकार किया जाय।

क्या अतात्त्विक जगत् के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व भी है ? कुछ विद्वानों की सम्मति है कि नागार्जुन अक्षरशः शून्यवादी है और किसी तात्त्विक पदार्थ के अस्तित्त्व में विश्वास नहीं रखता। किन्तु नागार्जुन के अधिक सहानुभूतिपूर्ण व्याख्याकार इस व्याख्या से असहमत हैं। वस्तुतः नागार्जुन आपेक्षिक विश्व-प्रपञ्च के अतिरिक्त एक निरपेक्ष-तत्त्व को भी मानता था, पर वह इस तत्त्व को निर्वाच्य या वर्णनीय नहीं समझता था। मूलमध्यमककारिका के आरम्भ में ही हम पढ़ते हैं:—

* वही, पृ० ३०१, यहाँ ब्रेडले के कुछ वाक्य मननीय हैं, यथा—
And it is the inconsistency, and hence the self-transcendence of time, which here we are urging (p.185)..........And the self-transcendent charac ter of the 'this' is, on all sides, open and plain (p, 201),

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥

अर्थात् चरमतत्व नाशहीन और उत्पत्ति-रहित है; वहां न उच्छेद है न नित्यता; वह अनेकार्थक है और अनेकार्थक नहीं भी है; उसमें न आना होता है न जाना। कभी-कभी नागार्जुन अतात्त्विक जगत् की भांति तत्त्वपदार्थ को भी शून्य कहता है। कहीं वह यह भी कहता है कि विश्वतत्त्व को वस्तुतः न शून्य कह सकते हैं न अशून्य, न उभय न अनुभय; विश्व-तत्त्व वस्तुतः अकथ्य है, दूसरों को समझाने के लिए ही कुछ कहना पड़ता है।

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत् ।
उभयन्नोभयञ्चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥

विश्व की सारी वस्तुएं आपेक्षिक और अनित्य हैं, इसलिए नागार्जुन कह सकता था कि विश्व-तत्त्व अथवा तत्त्व-पदार्थ निरपेक्ष और नित्य है। किन्तु इसके बदले वह विश्व-तत्त्व को वाणी से परे बतलाता है। इस प्रकार के विश्व-तत्त्व को कैसे **समझा** जाय अथवा **प्राप्त** किया जाय यह नागार्जुन नहीं बतलाता। उसकी शिक्षा इतनी ही है कि दृश्यमान जगत् को सारहीन समझ कर उससे विरक्त होना चाहिए। जैसा कि हम आगे देखेंगे वेदान्त की विशेषता इसमें है कि वह अतात्त्विक प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार से तात्त्विक ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग बताने की चेष्टा करता है।

नागार्जुन की अपेक्षा ब्रेडले का तत्त्व-पदार्थ-विषयक मत अधिक भावात्मक है। तत्त्व पदार्थ को निर्विरोध होना चाहिए, इस कथन को भावात्मकरूप देते हुए ब्रेडले कहता है कि तत्त्व-पदार्थ समञ्जसरूप है, वह एक ऐसा अवयवी (Whole) है जिसके अवयवों में पूर्ण पारस्परिक संगति है। यही नहीं, ब्रेडले यह भी कहता है कि तत्त्व-पदार्थ अनुभूतिरूप हैं। 'अन्ततः कोई वस्तु तात्त्विक नहीं हो सकती जो कभी अनुभव का विषय नहीं होती और मेरे लिए वह कुछ भी तात्त्विक नहीं

हो सकता जिसका मैं अनुभव नहीं करता।'* इसके साथ ब्रेडले यह भी कहता है कि अनुभव जगत् के सारे विवर्त्त या प्रतिभास (Appearances) ब्रह्म या विश्व-तत्त्व में हैं। **'इन विवर्त्तों के अतिरिक्त** ब्रह्म **के पास और कोई सम्पत्ति** (Assets) नहीं है।' मतलब यह है कि यद्यपि स्वयं अपने में प्रत्येक प्रतिभास या विवर्त्त अतात्त्विक है, पर अपनी समग्रता में सब विवर्त्त मिलकर परब्रह्म के समञ्जस रूप का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हीगल की भांति ब्रेडले भी विश्व-प्रक्रिया और परब्रह्म को समीकृत (Equate) कर देता है। नागार्जुन ने भी लिखा है कि अन्ततः संसार और निर्वाण (अर्थात् प्रपञ्च और तत्त्वपदार्थ या परब्रह्म) एक ही हैं।

न संसारस्य निर्वाणात्किञ्चिदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात्किञ्चिदस्ति विशेषणम्।
न तयोरन्तरं किञ्चित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।

मूलमध्यमककारिका, २५। १६, २०

श्रीयामाकामी सोगेन उक्त उद्धरण पर टीका करते हुए कहते हैं कि बौद्धदर्शन ने यह कभी नहीं सिखाया कि निर्वाण संसार से अलग होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसी जगत् के व्यवहारों को यदि हम एक दृष्टि से देखें तो वह बन्धनरूप प्रपञ्च है, और यदि दूसरी, पारमार्थिक दृष्टि से देखना सीख जायँ तो वह तात्त्विक अथवा निर्वाण-रूप है। यदि सोगेन की यह व्याख्या ठीक है, तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि ब्रेडले और नागार्जुन में विशेष भेद नहीं है। किन्तु साधारणतः इन दोनों दार्शनिकों का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों पर यह प्रभाव पड़ता है कि ब्रेडले का परब्रह्म नागार्जुन के निर्वाण से अधिक भावात्मक धारणा है।

वास्तव में, भारतीय अध्यात्मवाद की तुलना में, योरपीय अध्यात्मवाद की यह विशेषता है कि वह किसी-न-किसी स्थान पर पहुँच कर

* दे० Essays on Truth and Reality, पृ० ११०

अनुभव-जगत् और तात्त्विक जगत्, प्रपञ्च और परब्रह्म की एकता या तादात्म्य घोषित कर देता है। भारतीय उपनिषदों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है, उनमें भी जगह-जगह सप्रपञ्च ब्रह्म का वर्णन है। वास्तव में उपनिषद् शाङ्कर वेदांत की भांति मायावाद के समर्थक नहीं हैं, वे जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं। 'उस ब्रह्म में पृथ्वी और अन्तरिक्ष तथा प्राणों सहित मन पिरोया हुआ है' (मुण्डक, २।२।५)। 'अग्नि उसका सिर है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएं कान हैं, और वेद उसकी वाणी हैं; वायु उसका प्राण है, विश्व उसका हृदय, पृथ्वी उसके चरणों से उद्भूत हुई है और वह उसका अन्तरात्मा है।....उसी से समुद्र और पर्वत निकले हैं, उसी से अनेक रूप नदियां प्रस्रवित होती हैं, उसी से सारी औषधियां और रस निकले हैं।' (वही, २।१।४,६)। किन्तु हीगल की भाँति उपनिषद् यह नहीं मानते कि परब्रह्म विश्व-प्रक्रिया में अशेष हो जाता है। उनके मत में विश्व-प्रपञ्च परब्रह्म का एक अंश-मात्र है। श्रुति कहती है—पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि, अर्थात् विश्व प्रपञ्च परब्रह्म का एक चरण है, उससे परे ब्रह्म के तीन अमृतमय चरण हैं। गीता में भी कहा है—विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्, अर्थात् भगवान् अपने एक अंश से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित हैं। इसके विपरीत हीगल और ब्रेडले परब्रह्म को देश-काल में प्रसरित जगत् में अशेष हुआ मानते हैं। ब्रेडले के अनुसार परब्रह्म के विवर्त्तों के अतिरिक्त कोई सम्पत्ति नहीं है; और हीगल मानवजाति के इतिहास में, बढ़ती हुई सामाजिक और दार्शनिक चेतना में, परब्रह्म की उच्चतम अभिव्यक्ति देखता है।

यदि हम उपनिषदों को छोड़ दें, तो मानना पड़ेगा कि भारतीय अध्यात्मवाद का झुकाव ब्रह्म की निष्प्रपञ्च धारणा की ओर अधिक रहा है। नागार्जुन ने विश्व-जगत् की अतात्त्विकता की जितनी विशद और विस्तृत व्याख्या की है, उसके अनुपात में तत्त्व पदार्थ के निरूपण में विशेष परिश्रम नहीं किया है। विशेषतः नागार्जुन तात्त्विक और

अतात्त्विक के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में नितांत मौन है। यह मौन उसकी प्रपञ्च-विषयक मुखरता की तुलना में और भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है। संसार और निर्वाण को एक कहने से नागार्जुन का क्या तात्पर्य है, यह समझना कठिन है। पर यह निश्चित मालूम पड़ता है कि नागार्जुन विश्व-प्रपञ्च को तत्व-पदार्थ की तात्विकता का **वाहक** या **अभिव्यञ्जक** नहीं समझता। हीगल की अपेक्षा ब्रेडले का दृष्टिकोण भी अभावात्मक (Negative) है, यद्यपि वह योरपीय अध्यात्मवादी परम्परा के प्रभाव से परब्रह्म को विवर्त्तों की समष्टि कहता है। शाङ्कर वेदान्त भी विश्व-प्रपञ्च के पसारे में विशेष संतोष अनुभव नहीं करता, उसकी दृष्टि में भी विश्व ग्राह्य की अपेक्षा त्याज्य ही अधिक है। यहाँ सत्यता के अनुरोध से हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि कहीं-कहीं शङ्कराचार्य ने इस बात को माना है कि विश्व-प्रक्रिया जीवों की प्रयोजन-सिद्धि के लिए है और उसके विभिन्न रूपों में ब्रह्म की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं,

तथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादि स्तम्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबंधः परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवती त्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम् (ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।३।३०)। अर्थात् मानव-जगत् से वनस्पति-जगत् तक क्रमशः ब्रह्म के ज्ञानादि की अभिव्यक्ति कम होती जाती है, और मनुष्य से हिरण्यगर्भ तक ज्ञानादि की अभिव्यक्ति बढ़ती जाती है। शङ्कर कहते हैं कि यह बात श्रुतियों और स्मृतियों में **बार-बार कही गई है**। यहाँ शंकराचार्य तात्त्विकता के दर्जों के सिद्धांत को स्वीकार करते मालूम पड़ते हैं। वे यह भी मानते हैं कि ससार की सारी प्रवृत्तियों का लक्ष्य आत्मज्ञान है। एक जगह वे कहते हैं, 'यदि नामरूप व्याकृत न होते तो आत्मा का निरूपाधिक प्रज्ञानघन रूप प्रसिद्ध नहीं होता।'* इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व-

---

*** यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदाऽस्यात्मनो प्रज्ञानघनाख्यम**

प्रक्रिया ब्रह्म के रूप को अभिव्यक्ति देने के लिए है। यदि इसी को शंकर का वास्तविक मत मना जाय तो उनका अध्यात्मवाद हैगलिक अध्यात्मवाद के बहुत समीप पहुँच जायगा। हीगल भी विश्व-प्रक्रिया को ब्रह्म की अभिव्यक्ति कहता है, उसका ब्रह्म या पूर्णप्रत्यय विश्व-प्रक्रिया की विभिन्न सीढ़ियों (Stages) में गुज़र कर मानो अधिक पूर्ण रूप में आत्मचेतना का लाभ करता है।❀ हीगल के मत में विश्व-प्रक्रिया का लक्ष्य ही यह आत्म-चेतना है। किन्तु शंकराचार्य के दर्शन में अभिव्यक्तिवाद और प्रयोजनवाद उनके चिन्तन की निचली सतह में ही पड़े रहे, वे उसकी मुख्य धारा के अङ्ग नहीं हैं। हाँ, एक प्रकार का प्रयोजनवाद शाङ्कर दर्शन का मुख्य अङ्ग है, यह कि विश्व-प्रक्रिया और उसका प्रमाण-प्रमेय व्यवहार मिथ्या होते हुए भी तत्त्वज्ञान के साधन हैं। किन्तु, क्योंकि तत्त्वज्ञान और तज्जन्य मोक्ष वैयक्तिक जीवन के साध्य हैं जिनके लिए प्रयत्न अपेक्षित है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व-प्रक्रिया स्वभावतः तत्त्वज्ञान और मोक्ष की ओर बढ़ रही है। वेदांत के अनुसार ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत साधना और प्रयत्न नितांत अपेक्षित हैं, और उनका फल भी व्यक्ति-विशेषों तक सीमित रहता है। बन्धन और मोक्ष, अवनति और उन्नति का सम्बन्ध व्यक्तियों से रहता है, सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया से नहीं। इसके विपरीत हीगल का दर्शन सृष्टि-प्रक्रिया में ही पूर्णता की ओर प्रगति पाता है। हीगल के अनुसार सृष्टि-मात्र पूर्णत्व की ओर बढ़ रही है, और पूर्णता या मुक्ति केवल वैयक्तिक घटना नहीं है।

पूर्वी और पश्चिमी अध्यात्मवाद का यह एक महत्त्वपूर्ण भेद है। पश्चिमी दर्शन मोक्ष या पूर्णता को विश्व-प्रक्रिया की ही अन्तिम मंज़िल

निरुपाधिकं रूपं न प्रतिख्यायेत—बृह० उप० भा० २।५।१० (पृ० ३६४ आनन्दाश्रम संस्करण)

❀ दे० Falckenberg, History of Modern Philosophy, 3rd Edn. p. 489

मानता है, जब कि पूर्वी अध्यात्मवाद के अनुसार मोक्ष या पूर्णत्व का अर्थ सृष्टि-क्रिया से सम्बन्ध-विच्छेद अथवा अनुभव-जगत् से नितान्त भिन्न एक नई भूमिका (Plane of Existence) में प्रविष्ट हो जाना है। इसीलिए हम भारतवर्ष में वास्तविक प्रयोजनवादी पद्धतियों का अभाव पाते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं सांख्य का प्रयोजनवाद, यह सिद्धान्त कि प्रकृति पुरुष को मुक्त करने के लिए प्रवृत्त होती है, उसके दर्शन का अवियोज्य अङ्ग नहीं मालूम पड़ता, न उसके पीछे युक्तिपूर्ण चिन्तन का ही बल है। इसी प्रकार वेदान्त की दुनिया भी प्रयोजनोन्मुख प्रक्रिया नहीं है। हीगल के विश्व में प्रगति अनिवार्य घटना-सी लगती है; वेदान्त की विश्वदृष्टि (World-view) में प्रगति कोई आवश्यक तत्व नहीं है। वेदान्त के अनुसार विश्व-प्रपञ्च अनादि अविद्या का परिणाम है जिससे अपने को भिन्न समझ लेने में ही आत्मा का कल्याण है; इसके विपरीत हीगल के मत में परब्रह्म या पूर्णप्रत्यय अपने को अधिक पूर्णता में सचेतन महसूस करने के लिए विश्व-प्रक्रिया में विकसित होने का अनुभव स्वीकार करता है।

संवित्शास्त्रीय अध्यात्मवाद

प्लेटो, लाइबनिज़ और हीगल का अध्यात्मवाद तत्व-दर्शन (Ontology) से विशेष सम्बन्ध रखता है। अरस्तू, फिच्टे और शेलिङ्ग की गणना भी उक्त कोटि के अध्यात्मवादियों में की जा सकती है। किन्तु गत अर्धशताब्दी में इंग्लैण्ड और अमरीका में एक दूसरे प्रकार के अध्यात्मवाद का विकास हुआ जिसकी मूलभित्ति ज्ञानमीमांसा-विषयक सिद्धान्त है। ब्रेडले ने एक ओर तो अपने नवीन ब्रह्मवाद (Absolutism) का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर इस नवीन (Epistemological Idealism) को पुष्ट और प्रोत्साहित किया। इस नवीन अध्यात्मवाद का पिता अथवा बीजारोपक बार्कले को कहना चाहिए। बार्कले ने कहा था कि क्योंकि मेरे अनुभव का विषय प्रत्यय है, और प्रत्यय मेरे अर्थात् आत्मा के भीतर हैं, इसलिए विश्व मनोमय है और

जड़ तत्त्वों की सत्ता असिद्ध है। बार्कले का मत आत्मपाती अध्यात्मवाद (Subjective idealism) कहलाता है। जर्मन दार्शनिक काण्ट ने इस मत का खण्डन किया, नये अध्यात्मवादी भी बार्कले से सहमत नहीं हैं। किन्तु काण्ट स्वयं अध्यात्मवादी था। उसने कहा कि जिस जगत् का हमें अनुभव होता है उसके निर्माण में हमारी बुद्धि का भी हाथ है। अपने यथार्थ या परमार्थ रूप में वस्तुएं अज्ञेय हैं, और वस्तुओं के जिस रूप से हम व्यावहारिक जगत् में परिचित होते हैं वह वस्तुओं का असली रूप नहीं है, हम उनके जिस रूप को जानते हैं वह उनका वह रूप है जो हमारी बुद्धि के स्पर्श से विकृत हो चुका है। पारमार्थिक वस्तुएं जिन सम्वेदनों को उत्थित करती हैं उन्हें हमारी बुद्धि स्वभावतः देश, काल, कारणता आदि के ढांचों में ढालती है जिसके फल-स्वरूप दृश्य जगत् का आविर्भाव होता है। इस प्रकार काण्ट यह मानता प्रतीत होता है कि भौतिक विज्ञान में विश्व का जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। अपनी यथार्थता में विश्व अज्ञेय है।

नये अध्यात्मवादियों का मत काण्ट से आंशिक समता रखता है, वे भी मानते हैं कि ज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञाता निष्क्रिय भाव से बाह्य विश्व का ग्रहण नहीं करता, अपितु वह अपने ज्ञान-व्यापार से उसे प्रभावित भी करता है। इस सम्वित्शास्त्रीय (Epistemological) अध्यात्म-वाद को समझने के लिए उसके विरोधी यथार्थवाद का स्वरूप जानना लाभदायक होगा। प्राइचर्ड के शब्दों में यथार्थवाद के अनुसार ज्ञान की सम्भावना इस मान्यता पर निर्भर है कि 'ज्ञेय तत्त्व ज्ञान से, या ज्ञात होने से, स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, और हम उसे उसके इसी स्वतन्त्ररूप में जानते हैं।'* अभिप्राय यह है कि जानने की क्रिया ज्ञेय पदार्थ को प्रभावित या विकृत नहीं करती, वह पदार्थ के **पहले से निर्श्चित** स्वरूप को प्रकट मात्र कर देती है। ज्ञाता से सम्बद्ध

* बोसांक्वेट, Logic, Part II, p. 305 पर उद्धृत

होने से पहले ज्ञेय की जो दशा होती है, ज्ञाता के ज्ञान में प्रविष्ट होने के बाद भी उसकी वही दशा रहती है। ज्ञेय पदार्थ न तो अपने अस्तित्व के लिए और न अपने स्वरूप के लिए ज्ञाता पर निर्भर करता है। यदि संसार से सारे चेतन ज्ञाताओं को निकाल दिया जाय तो भी ज्ञेय-विश्व में कोई परिवर्तन न होगा, वह जैसा है वैसा ही बना रहेगा। ज्ञाता से सम्बद्ध होना ज्ञेय के जीवन में कोई महत्वपूर्ण-घटना नहीं है। यदि कल कोई देखने वाला न होगा, तो भी फूलों के रूप-रंग एवं नक्षत्रों की ज्योति में कोई अन्तर न आएगा। वे जैसे हैं वैसे ही बने रहेंगे। ज्ञेय किसी भी अर्थ और किसी भी अंश में अपनी सत्ता या स्वरूप के लिए ज्ञाता की अपेक्षा नहीं करता।

ऊपर का मत मानवता की सहज बुद्धि के अनुकुल है, वर्त्तमान काल के विचारकों का झुकाव भी इसी की ओर है। किन्तु अध्यात्म-वादी विचारक अपने को उक्त सिद्धान्त का समर्थन करने में असमर्थ पाते हैं। नव्य अध्यात्मवादी बार्कले के इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि वस्तुओं के होने का अर्थ उनका देखा जाना है। वे मानते हैं कि बाह्य जगत् केवल द्रष्टा के प्रत्यय या विज्ञानमात्र नहीं है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। किन्तु वे यह नहीं मानते कि ज्ञेय पदार्थ के जीवन में ज्ञाता से सम्बद्ध होना एक महत्व-शून्य घटना है। अधिकांश सम्वित्शास्त्रीय अध्यात्मवादी अन्तरङ्ग-सन्बन्धवादी हैं। अन्तरङ्ग-सम्बन्धवाद (Theory of Internal Relations) के अनुसार सम्बन्धी तत्त्वों का स्वरूप उनके विभिन्न सम्बन्धों द्वारा निर्मित या निर्धारित होता है। हीगल के समय से अध्यात्मवादी विचारक यह मानते चले आए हैं कि विश्व की वस्तुएं परस्पर सम्बद्ध हैं। हीगल ने यहां तक कहा था कि जिन्हें हम विरोधी (Contradictories) कहते हैं उनमें भी सम्बन्ध होता है; युक्तवाद या समन्वयवाद (Synthesis) में वाद और प्रतिवाद (Thesis and Anti-thes's)

दोनों का समावेश हो जाता है। 'विरोध-नियम' की सत्यता आपेक्षिक है।※ आशय यह है कि विश्व एक समष्टि (System) है जिसमें प्रत्येक वस्तु प्रत्येक दूसरी वस्तु से सम्बद्ध है। अध्यात्मवादी यह भी कहते हैं कि सम्बन्ध अर्थहीन नहीं होते, प्रत्येक वस्तु का तत्त्व उसके सम्बन्धों में निहित है। दो वस्तुओं में सम्बन्ध है, यह इस बात का द्योतक है कि उन वस्तुओं में कोई गम्भीर ऐक्य है और वे परस्पर-निरपेक्ष नहीं हैं। ब्रेडले कहता है—'एक अवयवी या ऊंची श्रेणी के अन्तर्गत ही सम्बन्ध हो सकते हैं; इसके अतिरिक्त सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं है।'* एक गज और एक घण्टे में सम्बन्ध सम्भव क्यों नहीं दीखता, इसलिए कि हमारी बुद्धि उन्हें एक श्रेणी के अन्तर्गत नहीं ला सकती। इसीलिए यह प्रश्न निरर्थक या विचित्र लगता है कि 'लन्दन के पुल से एक बजे का समय कितनी दूर है?'‡

निष्कर्ष यह है कि सम्बन्ध सम्बन्धियों का स्वरूप बनाते हैं, उन्हें प्रभावित करते हैं। सम्बन्धों के अतिरिक्त सम्बन्धी की सत्ता का कोई अर्थ ही नहीं है। किसी व्यक्ति को जानने का अर्थ उसके सामाजिक सम्बन्धों को जानना है, वह व्यक्ति कैसे जीविका कमाता है, किसका पुत्र है, किस स्त्री का पति और किस बालक का पिता; इन सम्बन्धों के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व का कोई अर्थ ही नहीं। विशेषतः **ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है,** और वह ज्ञेय पर निश्चित प्रभाव डालता है। हम जिस विश्व को जानते हैं वह अनुभूत विश्व है, चेतन ज्ञाताओं से अलग होकर विश्व का स्वरूप क्या होगा, यह हम कभी नहीं जान सकते। वास्तव में ऐसे विश्व के बारे में बात करना ही फिज़ूल है। वह विश्व जिसे हम जानते हैं अर्थात् ज्ञात या अनुभूत जगत्, उस पर चेतन

※ दे० Caird, Hegel, p. 162

*Appearance and Reality, p 142

‡ Bosanquet, Logic, Part II, p. 273

ज्ञाताओं की सत्ता का निश्चित प्रभाव पड़ता है—वह ज्ञातृ-चेतना के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। यदि बाह्य विश्व हमें प्रभावित करता है, तो यह कैसे सम्भव है कि हम उसे प्रभावित न करते हों?

बोसांक्वेट कहता है कि ज्ञान-सम्भावना की आवश्यक मान्यता (Pre-supposition) यह नहीं है कि ज्ञेय ज्ञाता पर अवलम्बित नहीं है अथवा ज्ञान-सम्बन्ध ज्ञेय को प्रभावित नहीं करता, बल्कि यह कि 'जिस हद तक हम वस्तुओं को जानते हैं, हम उन्हें वैसी ही जानते हैं जैसी की वे हैं।'※ नव्य अध्यात्मवादी काण्ट के साथ यह नहीं मानते कि ज्ञान-व्यापार ज्ञेय को विकृत कर देता है और परमार्थ वस्तुएं अज्ञेय हैं। सम्बन्ध ही वस्तुओं का जीवन है, विभिन्न सन्बन्धों से ही वस्तु आत्मलाभ करती है। जो समाज में किसी से सम्बद्ध नहीं है, उस व्यक्ति का जीवन वस्तुतः अपूर्ण या अधूरा है। इसी प्रकार ज्ञेय जगत् का यथार्थ और पूर्णरूप तभी प्रकट होता है जब वह ज्ञाता से सम्बद्ध हो जाता है। इसलिए यह कहने के बदले कि ज्ञाता का सम्बन्ध ज्ञेय को विकृत कर देता है, कहना चाहिए कि ज्ञाता की चेतना में ही, ज्ञाता से सम्बद्ध होकर ही, ज्ञेय जगत् का यथार्थ रूप प्रकट होता है। विश्व-प्रक्रिया स्वभावतः अपने को वैयक्तिक चेतनाकेन्द्रों में प्रतिबिम्बत या प्रकट कर रही है, वह स्वभावतः अपने को वर्धिष्णु ज्ञान-चेतना में प्रकाशित करती रहती है। अपने को इस प्रकार व्यक्त करने से पहले विश्व-प्रक्रिया अपूर्ण है।※

सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद, जिसकी हमने ऊपर रूपरेखा खींची है, हेकेल, स्पेन्सर आदि के वैज्ञानिक जड़वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। इंग्लैण्ड में ग्रीन, ब्रेडले और बोसांक्वेट ने, इटली में क्रोचे ने तथा अमरीका में रॉइस (Royce) आदि ने विज्ञानावलम्बित जड़वाद का विरोध किया। इस अध्यात्मवाद का मुख्य तर्क यही है कि 'संसार

※वही, पृ० ३०६

※वही, पृ० ३१२

के पदार्थों को द्रष्टा या ज्ञाता के अनुभव से अलग नहीं किया जा सकता।' काण्ट ने कहा था कि अहं प्रत्यय सब अनुभवों का सहगामी है, अहं के लिए अस्तित्ववान् होना (Existence for Self) पदार्थों का साधारण या व्यापक धर्म है। काण्ट ने साक्षी अथवा अनुभव-केन्द्र को विश्व-प्रक्रिया के मध्य में स्थापित करने की चेष्टा की। नव्य-अध्यात्मवाद भी इसी बात पर जोर देता है कि अनुभव-कर्त्ता अथवा चेतनानुभूति का अपलाप नहीं हो सकता। यही नहीं, प्रपंच के विस्तार में चेतन अनुभव-केन्द्रों का एक विशिष्ट स्थान है; ज्ञात विश्व अपनी सत्ता और स्वभाव के लिए द्रष्टा या अनुभव-केन्द्रों पर निर्भर करता है।

सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद प्रधानतः वस्तु-ज्ञान के विश्लेषण पर निर्भर है। वह जड़वाद का सम्वित्-शास्त्रीय (Epistemological) खण्डन या उत्तर है। इस विशिष्ट अध्यात्मवाद का (पाठक याद रखें) मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य अथवा नैतिक व्यापारों से विशेष सम्बन्ध नहीं है—वह इनके बारे में कोई युक्तिसम्मत सिद्धान्त प्रतिपादित करने की चेष्टा नहीं करता। वह सिर्फ इस बात पर जोर देता है कि जिस विश्व को हम जानते हैं उसका अस्तित्व और स्वभाव बहुत कुछ चेतन द्रष्टाओं पर निर्भर है। इन चेतन द्रष्टाओं के स्वरूप पर भी यह अध्यात्मवाद विशेष विचार नहीं करता। योरपीय दर्शन की सामान्य-प्रवृत्ति के अनुसार योरपीय अध्यात्मवाद भी आत्मतत्त्व पर विशेष मनोयोग से विचार नहीं करता। ब्रेडले ने तो अन्य धारणाओं की भांति आत्म-प्रत्यय को भी विरोधग्रस्त कहकर उड़ा दिया है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात जो स्मरण रखने योग्य है वह यह है कि योरपीय दर्शन प्रायः आत्मा को संवेदन, संकल्प, वेदना आदि व्यापारों की समष्टि मानता है। क्रोचे ने अपने दर्शन में विभिन्न चेतन व्यापारों का वर्गीकरण करने की चेष्टा की है, और ब्रेडले भी तात्त्विकता के दर्जों का विचार करते हुए नैतिक अनुभूति, सौन्दर्यानुभूति, धार्मिक—(Religious) अनु-

भूति आदि का उल्लेख करता है, इनके आश्रयभूत एक आत्मा को वह विशेष महत्व नहीं देता।

अद्वैत वेदान्त

भारतीय अध्यात्मवाद का चरम विकास शाङ्कर अद्वैत में हुआ है। जैसा कि हम कह चुके हैं भारतीय अध्यात्मवाद का प्रयोजनवाद से विशेष सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि भारत के प्रायः सभी दर्शन इस सिद्धान्त को मानते हैं कि संसार में एक नैतिक क्रम (Moral Order) है, और किये हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, तथापि भारतीय अध्यात्मवाद भी इस मन्तव्य को आवश्यक नहीं समझता कि विश्व-प्रक्रिया स्वतः मुक्ति या ब्रह्मभाव की ओर बढ़ रही है। इसी प्रकार भारतीय अध्यात्मवाद सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद से भी आवश्यक रूप में सम्बद्ध नहीं है। अद्वैत-मत के प्रवर्त्तक श्रीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में विज्ञानवाद का तीव्र खण्डन किया है। किन्तु कहीं-कहीं शङ्कर के अनुयायियों एवं स्वयं शङ्कर में भी ब्रे डले-बोसांक्वेट वर्ग के वस्तु-पाती अथवा सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद (Objective or Epistemological Idealism) के संकेत पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'विवरण प्रमेह-संग्रह' कार कहते हैं—सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव, अर्थात् संसार की सारी वस्तुएं ज्ञातभाव से अथवा अज्ञात भाव से (अज्ञातता में) साक्षिचैतन्य का विषय ही हैं।* मतलब यह है कि साक्षी से भिन्न वस्तुओं की सत्ता नहीं है। अन्यत्र वे अध्यस्त तत्त्व को प्रतीतिमात्र शरीरवाला बतलाते हैं (अध्यस्तस्य प्रतीतिमात्र शरीरत्वात्—पृ० १८)। स्वयं शङ्कर इतनी दूर तक नहीं जाते। किन्तु वे भी कभी-कभी ब्रे डले आदि अध्यात्मवादियों की भांति कह देते हैं कि 'वस्तुतत्त्व है और जाना नहीं जाता, यह कहना अयुक्त है' (वस्तु-तत्वं भवति किञ्चिन्न ज्ञायते इति चानुपपन्नम्—प्रश्नोपनिषद्, ६।२), इसलिए सारे व्याकृत पदार्थ कहीं किसी-न-किसी रूप में किसी को ज्ञात ही

*विवरण प्रमेय संग्रह (विजयानगरम् संस्करण), पृ० १७

रहते हैं (क्वचित् किञ्चित् कस्याचिद् विदितं स्यादिति सर्वं व्याकृतं विदितमेव—केन भाष्य, १।४)। पहले उद्धरण पर टीका करते हुए आनन्दज्ञान कहते हैं—तस्याज्ञाने तत्सद्भावासिद्धेस्तथाभूतपदार्थोऽसिद्ध इत्याह वस्तुतत्वेति, अर्थात् जिस पदार्थ का किसी को ज्ञान नहीं है उसकी सत्ता ही असिद्ध है, इत्यादि।

ऊपर के अवतरणों से कोई यह परिणाम निकाल सकता है कि वेदांतीय अध्यात्मवाद और सम्वित्-शास्त्रीय अथवा ब्रेडले आदि के अध्यात्मवाद में कोई भेद नहीं है। किन्तु हमारा विश्वास है कि इन दो प्रकार के अध्यात्मवादों में जो समता दीखती है वह तात्त्विक की अपेक्षा ऊपरी अधिक है। बात यह है कि ज्ञान-मीमांसा में शङ्कर यथार्थवादी हैं। काण्ट ने कहा था कि बौद्धिक धारणाएं दृश्य जगत् को निर्मित करती हैं, वे उसके अस्तित्व या शरीर का आवश्यक तत्त्व हैं। सम्वित्-शास्त्रीय आधुनिक अध्यात्मवाद भी, अन्तरङ्ग सम्बन्धवाद को स्वीकार करके, यह मानता है कि ज्ञाता या चेतन नुभूति ज्ञेय जगत् के स्वरूप को बनाती अथवा निर्धारित करती है। इसके विपरीत शङ्कर यह कभी नहीं कहते कि ज्ञान ज्ञेय को निर्मित, विकृत या निर्धारित करता है। उनके अनुसार ज्ञान का काम ज्ञेय को प्रकाशित करना है। शङ्कर अन्तरङ्ग-सम्बन्धवाद (Theory of Internal Relations) जैसे किसी मन्तव्य को नहीं मानते, वे विश्व-तत्त्व को अनेक तत्त्वों की समष्टि भी नहीं मानते। इसलिए उन का मत ब्रेडले आदि के सिद्धान्तों से काफ़ी दूर हो जाता है। वस्तुतः ब्रेडले पर तो बार्कले का भी काफी प्रभाव दिखाई पड़ता है। शङ्कर ने विज्ञानवाद का घोर विरोध किया है और उनकी यह उक्ति सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद के हिमायतियों को नितान्त आश्चर्यजनक लगेगी कि 'ज्ञान और ज्ञान का विषय एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं' (तस्मादर्थ ज्ञानयोर्भेदः—ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।२८)।

इस प्रकार वेदान्तीय अध्यात्मवाद योरपीय अध्यात्मवाद के दोनों प्रमुख रूपों से भिन्न है। प्रश्न यह है कि ऐसी दशा में वेदान्त को अध्यात्म-

वाद संज्ञा क्यों दी जाय ? और यदि वेदान्त अध्यात्मवाद है तो उसकी विशेषताएं क्या हैं ? पहले प्रश्न के समाधान का रहस्य डा० दासगुप्त की दी हुई अध्यात्मवाद की परिभाषा में निहित है। वेदान्त चरमतत्त्व को चिदात्मरूप कहता है, उसके अनुसार आत्मा ही तात्त्विक है, इसलिए उसे अध्यात्मवाद कहना समुचित है। दूसरे, वेदान्त दृश्य-जगत् को अतात्त्विक कहता है, उसकी यह प्रवृत्ति भी अध्यात्मवादी है। वेदान्त की विशेषता इसमें है कि उसने चरमतत्त्व और अतात्विक जगत् दोनों पर अत्यन्त नवीन या मौलिक ढंग से विचार किया है, और इन दोनों के बारे में भी उसका नितान्त मौलिक मत है। वेदान्त की इन विशेषताओं का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

वेदान्त के मत में तत्त्व पदार्थ चिदात्मरूप (Spiritual) है। वेदान्त जड़-प्रपञ्च को मायिक मानता है। एक दृष्टि से प्लेटो, बार्कले, लाइबनिज़ और हीगल का तत्त्व-पदार्थ भी चिदात्मक है। किन्तु वेदान्त एवं इन दर्शनों में महत्त्वपूर्ण भेद है। योरपीय अध्यात्मवाद में विश्व-तत्त्व या परब्रह्म को प्रायः प्रत्ययात्मक अथवा बौद्धिक धारणाओं की समष्टि-रूप कल्पित किया गया है। प्लेटो का श्रेयस्-प्रत्यय सामान्यों की समष्टि है, और उसके सामान्यों या जातिप्रत्ययों को चिदात्मक नहीं कहा जा सकता है।* उन्हें चिदात्मक कहने का केवल यही अर्थ होगा कि वे पौद्गलिक (Material) नहीं हैं। यही बात हीगल के पूर्णप्रत्यय के बारे में कही जा सकती है। स्पिनोज़ा का द्रव्य तो न जड़ है न अजड़, जड़ता और चैतन्य, बोध और विस्तार दोनो उसके धर्म हैं। इसी प्रकार काण्ट की परमार्थवस्तुओं को चिदात्मक कहना समुचित प्रतीत नहीं होता। ब्रे डले अपने परब्रह्म को अनुभवरूप भी कहता है, किन्तु वह आत्मतत्त्व को विरोधग्रस्त धारणा घोषित करता है। लाइबनिज़ के चिद्बिन्दुओं में जड़त्व भी पाया जाता है, और

* इस प्रसंग में दे० Windelband, A History of Philosophy, पृ० ११७-१८

बार्कले की दृष्टि में आत्माओं का प्रधान धर्म प्रत्ययों का वाहक होना है।

वस्तुतः व्यक्तिगत आत्माओं का विचार किये बिना चिदात्मकता का अर्थ समझना कठिन हो जाता है। वेदान्त आत्मतत्व को क्षणिक विज्ञानों अथवा प्रत्ययों से भिन्न चिद्घन अथवा मात्र ज्योतिःस्वरूप लक्षित करता है। उसके अनुसार हमारी मानसिक दशाओं, हमारे प्रत्ययों या विज्ञानों की चिदात्मकता वास्तविक नहीं है, वह आत्म-ज्योति का प्रतिबिम्बमात्र है।

वेदान्त के ब्रह्मवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह ब्रह्म और वैयक्तिक आत्मा को एक घोषित करके ब्रह्म या विश्वतत्व की सत्ता का अनुभवात्मक अकाट्य प्रमाण देने की चेष्टा करता है। जहाँ तक हमें मालूम है, दुनिया की किसी अध्यात्मवादी पद्धति ने तत्व-पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध करने का इतना उत्साहपूर्ण और सफल प्रयत्न नहीं किया है। प्रायः योरप के सारे अध्यात्मवादी विचारकों ने विश्व-तत्व को बुद्धि द्वारा पकड़ने की चेष्टा की है। भारतवर्ष में, चरमतत्व के सम्बन्ध में माध्यमिक का दृष्टिकोण अभावात्मक-सा है। वह माध्यमिक जो बौद्धिक-धारणाओं तथा अनुभव-जगत् के तत्त्वों की आलोचना में सबसे अधिक बोलनेवाला है, चरमतत्त्व के बारे में कुछ कहते हुए अनावश्यक संकोच का अनुभव करता है। प्लेटो का श्रेयस्-प्रत्यय एक कल्पित धारणा-मात्र है, वह अपने विश्वव्यापी प्रयोजनवाद का कोई पुष्ट दार्शनिक आधार प्रस्तुत नहीं करता। अरस्तू के अचल गतिदाता ईश्वर की सत्ता में भी कोई अच्छी युक्ति नहीं दी गई है। वर्त्तमान विज्ञान के अनुसार गतितत्त्व को पुद्गल से अलग नहीं किया जा सकता, जड़द्रव्य को गति देने के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। स्पिनोज़ा का द्रव्य और लाइबनिज़ के चिद्‌विन्दु तो उनके बुद्धिवाद के कल्पित पुत्र हैं, 'हमारी बुद्धि को यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि द्रव्य-तत्त्व इस प्रकार का होना चाहिए।' इसके अतिरिक्त वे

अपने-अपने द्रव्यों के विशिष्ट रूपवाले होने का कोई प्रमाण नहीं देते। वस्तुतः बुद्धिवादी दर्शनों की शक्ति उसकी आन्तरिक संगति अथवा सामञ्जस्य (Inner Harmony) में है। यौक्तिक प्रौढ़ता की दृष्टि से हीगल के दर्शन को ऊँचा स्थान दिया जाता है। हीगल ने नितांत बारीक ढंग से तर्कना करके पूर्णप्रत्यय की वास्तविकता सिद्ध करने की कोशिश की है। सत् (सत्ता Being) की धारणा सबसे दरिद्र धारणा है, उसकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। अपने तर्कशास्त्र (Logic) में हीगल इसी धारणा को लेकर चलता है। सत् की धारणा बरबस, द्वन्द्वनियम के अनुसार, असत् की ओर ले जाती है। और असत् से हम विवश होकर 'होना' (Becoming) पर पहुंच जाते हैं जिसमें सत् और असत् का सामञ्जस्य होता है। इसी प्रकार हमारा चिन्तन द्वन्द्वनियम के अनुकूल बढ़ता हुआ पूर्णप्रत्यय तक पहुंच जाता है। हीगल अपने तर्कशास्त्र में कहीं पर भी मूर्त्त अनुभव की ओर संकेत करने अथवा उसकी दुहाई देने की आवश्यकता महसूस नहीं करता। इस तर्कना-प्रकार की सब से बड़ी कठिनाई यह है कि यदि उसमें कहीं पर भी भूल हो जाय तो उसका अन्तिम निष्कर्ष अप्रामाणिक हो जाता है। आज हीगल का बड़े-से-बड़ा प्रशंसक और पक्षपाती भी यह दावा नहीं करेगा कि अपने विस्तृत तर्क-शास्त्र में हीगल ने कहीं भी कोई भूल नहीं की है, और वह वस्तुतः पूर्णप्रत्यय की धारणा को मानव-चिन्तन की आन्तरिक आवश्यकता सिद्ध कर सका है। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि मानव-चिन्तन बरबस पूर्णप्रत्यय की धारणा की ओर अग्रसर होता है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्णप्रत्यय-नामक धारणा-समष्टि सचमुच ही विश्व के सार (Essence) के रूप में अस्तित्ववान् है। सत् की धारणा को मान लेने का अर्थ उसके मानव-बुद्धि से बाहर स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लेना नहीं है, वास्तव में पूर्णप्रत्यय की वस्तुगत (Objective) सत्ता सिद्ध करने के लिए हीगल ने सेण्ट एन्सेल्म और डेकार्ट की सत्ता-सम्बन्धी

युक्ति (Ontological Argument) का प्रयोग किया है, जिसका महत्त्व नितान्त संदिग्ध है। काण्ट ने जो इसकी समीक्षा की थी उसका कोइ संतोषजनक उत्तर कभी नहीं दिया गया। स्वयं काण्ट ने तो आत्मा और ईश्वर को नैतिक विश्वास का विषय एवं परमार्थ वस्तुओं को दार्शनिक बुद्धि द्वारा अज्ञेय कथन कर डाला है। यह आश्चर्य की बात है कि विश्व को आत्ममय (अथवा मनोमय ?) घोषित करने वाले बार्कले ने आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है।

ब्रेडले भी अपने परब्रह्म की सत्ता सिद्ध कर सका है, इसमें सन्देह है। 'तात्त्विक वह है जो निर्विरोध है,' इस परख से निर्विरोध पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि अनुभव-जगत् में, जैसा कि ब्रेडले पाता है, कुछ भी निर्विरोध नहीं है, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि अनुभव से परे कोई तत्त्व ऐसा है जो विरोधग्रस्त नहीं है ? वस्तुतः ब्रेडले ब्रह्म को अनुभवातीत नहीं बतलाता, ब्रह्म अनुभवरूप है, किन्तु अनुभवरूप ब्रह्म के निर्विरोधभाव को हम किस प्रमाण द्वारा पकड़ें, किस मार्ग से उसके अस्तित्त्व को हृदयंगम करें, यह बताने में ब्रेडले नितान्त असमर्थ रहा है। वास्तव में ब्रेडले का परब्रह्म भी अपने अस्तित्त्व की सिद्धि के लिए Ontological Atgument पर निर्भर करता है। ब्रेडले जगह-जगह एक फार्मूले की आवृत्ति करता है। 'जो हो सकता है, उसे यदि होना भी चाहिए, तो वह अवश्य ही है' (What may be, if it also mus tbe, assuredly it is)। यह उक्ति सत्ता-सम्बन्धी युक्ति का ही एक रूप है।

परब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त ब्रेडले ने यह भी सिद्ध करने की कोशिश की है कि ब्रह्म में सुख का अतिरेक है और नैतिक बुराई की अपेक्षा शिवत्व अथवा मंगलत्व का आधिक्य है। ब्रेडले की युक्ति यह है कि यदि ब्रह्म में दुःख की अधिकता हुई तो उसका सामंजस्य (निर्विरोधता का भावात्मक रूप) नष्ट हो जायगा। इस तर्क की आलो-

चना करते हुए प्रिंगिल पेटिसन ने लिखा है कि 'युक्तिगत (Logical) निर्विरोधता या विरोध से वेदनीय सुख या दुःख तक पहुँचने के लिए सम्भवतः दार्शनिक बुद्धि ने इससे कमजोर पुल कभी नहीं बनाया।'* ब्रेडले पहले तो विरोधाभाव को सामञ्जस्य बना डालता है, और फिर उसे केवल तर्कात्मक न रहने देकर 'व्यक्तित्व के संतुलन' का रूप दे देता है। यौक्तिक विरोधाभाव, सामंजस्य और संतुलन, अथवा आनन्द-रूपता, यह तीनो एक वस्तु नहीं हैं। किन्तु ब्रेडले ने तीनों को समानार्थक रूप में प्रयुक्त करके अपनी पद्धति की अयौक्तिकता को ढकने की चेष्टा की है। वास्तव में परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विरोध-नियम पर निर्भर करना नितांत अपर्याप्त है। विरोध-नियम, अन्ततोगत्वा, एक बौद्धिक धारणा है और कोई भी बौद्धिक धारणा या धारणा-समष्टि अनुभव का स्थान नहीं ले सकती। दार्शनिक चिन्तन का पुष्ट आधार अनुभव होना चाहिए, न कि बौद्धिक कल्पनाएं। जो दर्शन अनुभव का आश्रय छोड़ कर मात्र कल्पनाओं को लेकर बढ़ेगा, वह कहीं-न-कहीं अवश्य ठोकर खायगा। जब बुद्धि अनुभव की सीमाओं का उल्लङ्घन करके अमूर्त्त वातावरण में अमर्यादित भाव से घूमने लगती है, तब वह क्रमशः वस्तु-जगत् की दृष्टि और स्पर्श से दूर होती हुई नितान्त अस्वाभाविक और असह्य हो उठती है।

अद्वैत वेदान्त परब्रह्म को अनुमान या कल्पना के सहारे नहीं ढूंढ़ता, वह उसका स्पर्श मानवता की अपरोक्षानुभूति में करना चाहता है। हम निर्देश कर चुके हैं कि वेदान्त अनुभव-निरपेक्ष तर्क को शंकित दृष्टि से देखता है। ज्ञान का पर्यवसान साक्षात् अनुभूति में होना चाहिए, मात्र बौद्धिक संतोष पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः वेदान्त का उद्देश्य चरमतत्त्व का ज्ञान ही नहीं, अपितु उसकी प्राप्ति थी, इसलिए वह पाश्चात्य दर्शनों की भांति केवल बौद्धिक संगति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। भारतवर्ष में दर्शन का उद्देश्य मात्र विश्व की व्याख्या करना नहीं था; दर्शन को

* दे० The Idea of God, पृ० २३४

मोक्षमार्ग का प्रदर्शक होना चाहिए। दर्शनशास्त्र को तत्त्वपदार्थ की व्याख्या करके ही नहीं रुक जाना चाहिए, उसे यह भी बताना चाहिए कि किस प्रकार हम तात्त्विक भाव को प्राप्त करें। ब्रे डले की भांति शङ्कर भी मानते हैं कि तत्त्व-पदार्थ अनुभवातीत नहीं हो सकता। 'यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है, तो उसकी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए; और यदि ब्रह्म नितान्त अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा सम्भव नहीं है।' अप्रसिद्ध पदार्थ को जानने की इच्छा ही कैसे हो सकती है, वह इच्छा का विषय ही नहीं हो सकता। शङ्कर का उत्तर है कि ब्रह्म न नितान्त प्रसिद्ध है, न सर्वथा अप्रसिद्ध, ब्रह्म सबका आत्मस्वरूप है, और आत्मतत्त्व को न सर्वथा ज्ञात कहा जा सकता है, न अज्ञात। क्योंकि ब्रह्म आत्मरूप है, इसीलिए उसकी सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है और उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। नागार्जुन, ब्रे डले और हीगल की भांति शङ्कर आत्मतत्त्व को विरोधग्रस्त धारणा कह कर नहीं उड़ा देते, वे आत्मानुभूति में चरम तत्त्व की खोज करते हैं। यदि चरमतत्त्व हमारे अनुभव में वर्त्तमान नहीं है, तो उसकी सत्ता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती; और यदि हम अनुभव को विरोधग्रस्त कह कर उड़ा दें, तो विश्वतत्त्व तक पहुँचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रह जायगा। बौद्धिक तर्कनाओं को अनुभव से ऊपर स्थान नहीं दिया जा सकता; जो अनुभव-सिद्ध है, उसे विरोधग्रस्त कहने से कोई लाभ नहीं।

विश्वतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करने में हमें अनुभव का ही आश्रय लेना पड़ेगा। तात्त्विकता की परख बौद्धिक न बनाकर अनुभवात्मक माननी चाहिए। तात्त्विक वह है जिसका कभी अनुभव द्वारा अपलाप नहीं होता, जो अनुभव से कभी बाधित नहीं होता। रज्जु-सर्प और शुक्ति-रजत क्यों मिथ्या हैं? इसलिए कि बाद के अनुभव से उनका अपलाप या बाध हो जाता है। तत्त्व-पदार्थ वह है जिसका अनुभव अबाधित है, जो अबाधित अनुभव का विषय है। आत्मतत्त्व इसी प्रकार का पदार्थ है, इसलिए वह तात्त्विक है।

se ... at page 90

क्या आत्मा का हमें कभी ज्ञान होता है ? बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य पूछते हैं कि आत्मा जो स्वयं ज्ञाता है, कैसे, किस साधन से, जाना जा सकता है ? जो सबको जानता है वह स्वयं ज्ञान का विषय कैसे होगा ? शङ्कर के सचात् शिष्य पद्मपादाचार्य कहते हैं– पराग्भावेनेदन्तासमुल्लेखो हि विषयो नाम भवति तद्वैपरीत्येन प्रत्यग्रूपेणानिदम्प्रकाशो विषयी,* अर्थात् विषयता का अर्थ है पराग्भाव या बाह्यता; विषय वही हो सकता है जिसकी ओर 'यह' संकेत किया जा सके; इसके विपरीत विषयी का अनुभव 'न-यह' (अनिदम्) के रूप में होता है, क्योंकि वह आन्तरिक है। इसलिए आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए शङ्कर कहते हैं कि—न तावदयमेकान्तेनाविषय:, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्। अर्थात् अहं के अनुभव में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, इसलिए आत्मा को सर्वथा ज्ञान का अविषय नहीं कह सकते। अहंप्रत्यय में 'यह' और 'न-यह' दोनो प्रकार के तत्व रहते हैं, इसलिए अहंप्रत्यय में आत्मा की प्रतीति सम्भव है। किन्तु अहंप्रत्यय में जिस तत्व का विषय-रूप में ज्ञान होता है वह अन्तिम विश्लेषण में अन्तःकरण का ही विकार है, इसलिए यह कथन कि अहं के अनुभव में आत्मा का विषय-रूप में अनुभव होता है, समुचित नहीं लगता। सम्भवतः इस प्रकार के आक्षेप की कल्पना करके ही शङ्कराचार्य ने ऊपर के आक्षेप का दूसरा समाधान दिया, वह यह कि आत्मा की प्रतीति स्वतः अपरोक्ष है (अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः)*। आत्मतत्त्व विषयरूप में प्रत्यक्ष नहीं होता, वह स्वयं प्रत्यक्षरूप है। प्रत्यक्ष या अपरोक्ष-प्रतीति ही आत्मा है। श्रुति कहती है कि आत्मा की ज्योति से ही दूसरे सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं। आत्मा स्वयं प्रकाशरूप है, उसे किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। वाचस्पति कहते हैं—आत्मा

---

*पंचपादिका, (विजया नगरम् संस्करण), पृ० १७

* ब्र० शां० भा० भूमिका

को अवश्य ही अपरोक्ष मानना चाहिये, क्योंकि यदि आत्मा को अप्रतीत या अप्रकाशित माना जायगा, तो शेष विश्व सुतरां अप्रतीत या अप्रकाशित बन जायगा, समस्त जगत् प्रकाशहीन या अंधकारमय हो जायगा।❀ अनुभव में जो विषयों की प्रतीति होती है उसके लिए विषयों की उपस्थिति पर्याप्त नहीं है, बिना आत्मज्योति के विषयानुभूति सचेतनरूप में उद्भासित नहीं हो सकती। इसलिए ज्ञान या प्रकाश-स्वरूप आत्मतत्व को विषयानुभूति की प्रकाशमानता के रूप में अवश्य मानना चाहिए। अपने चिद्रूप में ही नहीं, व्यावहारिक रूप में भी आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध है। किसी को कभी यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ'। 'आत्मा होने के कारण ही आत्मा का अपलाप नहीं हो सकता। आत्मा, किसी के लिए भी, बाहर से आई हुई चीज नहीं है, वह स्वयं सिद्ध है; वह दूसरे प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों का उपयोग करता है, स्वयं उसके लिए प्रमाण अपेक्षित नहीं है·········वह प्रमाणादि व्यवहारों का आश्रय होने के कारण, प्रमाणादि व्यवहार से पहले ही सिद्ध है। ऐसी वस्तु का निराकरण नहीं हो सकता। आगन्तुक (बाहर से आई हुई) वस्तु का ही निराकरण होता है, अपने स्वरूप का निराकरण सम्भव नहीं है; अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है!'—

आत्मत्वाचात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः, न ह्यात्माऽऽगन्तुकः कस्यचित् स्वयं सिद्धत्वात्, न ह्यात्माऽऽत्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिद्धयति, तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि अन्याप्रसिद्ध-प्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते·····आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराऽऽश्रयत्वात्प्रागेव प्रामाणादि व्यवहारात्सिद्धयति, न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्,·········न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते (ब्रह्मसूत्र-भाष्य, २।३।७)।

इस अवतरण से प्रकट है कि शङ्कराचार्य ज्ञाता एवं प्रमाता-रूप

❀ प्राप्तमान्ध्यमशेषस्य जगतः — भामती।

आत्मा को भी स्वयंसिद्ध मानते हैं। जो आत्मा प्रमाणों के व्यवहार का आश्रय है, उसके अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रमाण अपेक्षित नहीं हो सकते। स्वयं प्रमाणों की सिद्धि प्रमाता आत्मा के अधीन है, इसलिए आत्मा की सिद्धि प्रमाणों के अधीन नहीं हो सकती।*

इस प्रकार आत्मा की सिद्धि हो जाने पर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या आत्मा को तात्त्विक माना जा सकता है ? हमने ऊपर कहा कि तात्वपदार्थ वह है जिस का कभी अनुभव द्वारा बाध या अपलाप न हो। इस परख के अनुसार आत्मा तात्त्विक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मूर्च्छा और गहरी नींद में चिद्रूप आत्मा अथवा चेतना का अभाव देखा जाता है। अत्यन्त गहरी नींद से उठ कर मनुष्य कहता है कि 'मैं बड़े सुख से सोया, मुझे किसी बात की सुध नहीं थी।' उत्तर में शङ्कर कहते हैं कि चेतना का कभी वस्तुतः अभाव नहीं होता। गाढ़ निद्रा में जो चैतन्य का अभाव प्रतीत होता है, उसका कारण यह नहीं है कि उस समय सचमुच चेतना नहीं रहती, बल्कि यह कि ज्ञेय विषयों का अभाव रहता है। 'मैं उस समय कुछ नहीं जानता था', यह ज्ञान स्पष्ट ही प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है ; इसे अनुमान भी नहीं कह सकते क्योंकि इसका आधार व्याप्ति-ज्ञान नहीं है ; इसलिए इसे स्मृति कहना चाहिए। क्योंकि स्मृति पहले ज्ञान की आवृत्ति होती है इसलिए मानना चाहिए कि गाढ़ निद्रा में भी 'मैं कुछ नहीं जानता', यह ज्ञान वर्त्तमान था। इससे निष्कर्ष यह निकला कि 'कुछ नहीं' का ज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान है, और गहरी नींद में भी आत्मचैतन्य जागरूक रहता है। तैत्तिरीय भाष्य में शङ्कर लिखते हैं—वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येव इति चेत्, येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यते इति वक्तव्यं वैनाशिकेन, तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः (२। १)। भाव यही है कि यदि ज्ञेय के अभाव में ज्ञान (ज्ञानरूप आत्मा) का अभाव

*तु० की० यतो राद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति—नैष्कर्म्य सिद्धि

माना जाय तो इस अभाव का साक्षी कौन होगा ? ज्ञान या चेतना का अभाव कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञान या चिद्रूप आत्मा का कभी अनुभव द्वारा अपलाप नहीं हो सकता। इससे आत्म-पदार्थ की तात्त्विकता सिद्ध होती है। आत्मतत्व हमारे सम्पूर्ण अनुभव में ओतप्रोत है। अनुभव का अर्थ है अर्थ या विषय का प्रकाश होना, * और यह प्रकाश आत्म-ज्योति के बिना सम्भव नहीं है। जिसके बिना अनुभव असम्भव है, उसका अनुभव द्वारा बाध कैसे हो सकता है ? सारांश यह कि चिद्रूप आत्मा की अनुपस्थिति या अभाव कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता।

अपनी पुस्तक, 'द नेचर ऑफ सेल्फ' में श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी ने यह मत प्रकट किया है कि शङ्कर ने जिस पद्धति से आत्मा की सत्ता सिद्ध की है उस में तथा काण्ट के बौद्धिक धारणाओं की प्रामाणिकता सिद्ध करने के ढंग में बहुत समानता है। काण्ट कहता है कि बुद्धि की धारणाओं के बिना अनुभव असम्भव है, ठीक यही शङ्कर भी कहते हैं, चिद्रूप आत्मा को माने बिना किसी प्रकार का अनुभव नहीं बन सकता।❀सच पूछो तो काण्ट की धारणायें स्वयंसिद्ध न होकर एक प्रकार के अनुमान पर आश्रित हैं। धारणाओं का प्रमाण देते हुए काण्ट अनुभव का विश्लेषण करता है। वह जिस अनुभव को लेकर चलता है उस अनुभव की कुछ विशेषता या विशेषताएं हैं। काण्ट तर्क करता है कि **इस प्रकार का** अनुभव बौद्धिक धारणाओं के बिना सम्भव नहीं है। काण्ट का विशिष्ट अनुभव जिसके बल पर धारणाओं की सिद्धि की गई है, कालिकता की चेतनायुक्त अनुभव है। डा० यूइंग कहते हैं कि धारणाओं के निगमन

---

* तु० की०—योऽ यमर्थप्रकाशः फलम्—भामती (ब्रह्मसूत्र शां० भा० पृ० १६)

❀ दे० The Nature of Self, पृ० ३०७-८

(Deduction) का आधारभूत पक्षवाक्य या प्रेमिस यह है कि 'सम्वेदन-समूह का कालिक अनुभव होता है'*। प्रो० कैम्प स्मिथ के अनुसार काण्ट अनुभव को एक जगह कालिक-व्यापार तथा दूसरी जगह विषय-चेतना मानकर चलता है†। काण्ट के ढंग से यह स्पष्ट है कि वह धारणाओं की चेतना की अपेक्षा कालिक-व्यापार अथवा विषय-चेतना को अधिक मौलिक समझता है ; तभी तो वह धारणाओं को अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध करता है। कैम्प स्मिथ कहते हैं कि 'कालिक चेतना' एक ऐसी वस्तु है जिसकी यथार्थता में सन्देह नहीं किया जा सकता, इसलिए धारणाओं की सिद्धि के लिए काण्ट इस चेतना का अवलम्ब लेता है‡। किन्तु शङ्कर किसी भी अनुभव को चिद्रूप आत्मा के अनुभव से अधिक मौलिक नहीं मानते। उनके अनुसार चिद्रूपता की अनुभूति कालिक-चेतना से भी अधिक मौलिक या निश्चित है, क्योंकि जहां ऐसा अनुभव सम्भव है जो कालिक-व्यापार नहीं है, वहां ऐसी अनुभूति सर्वथा असम्भव है जिस में चेतन आत्मतत्त्व के प्रकाश का अभाव हो। इसलिए शङ्कर का आत्म-तत्त्व काण्ट की धारणाओं की तुलना में कहीं अधिक स्वयंसिद्ध कहलाने का अधिकारी है।

अब हम वेदान्त के प्रपञ्च-विषयक मन्तव्य की विशेषता का दिग्दर्शन करेंगे। वेदान्त का मत, जैसा कि हम इंगित कर चुके हैं, योरप के आधुनिक अध्यात्मवादियों की अपेक्षा प्लेटो के अधिक समीप

* 'The premiss of the whole argument of the transcendental deduction is 'that there occurs awareness of a manifold in time'- A Short Commentary on Kant's Critique of Pure Reason, पृ० ४१

† दे० Commentary to the Critique of Pure Reason, पृ० २४०

‡ वही, पृ० २४१

है। प्लेटो और वेदान्त दोनो विश्व-प्रपञ्च को अतात्विक मानते हैं। हीगल और ब्रेडले परब्रह्म को विश्व-विवर्त्तों की ही समष्टि मानते हैं, किन्तु वेदान्त के अनुसार ब्रह्म विश्व से भिन्न है, यद्यपि स्वयं विश्व ब्रह्म से बाहर नहीं है। गीता कहती है—नत्वहं तेषु ते मयि, अर्थात् विश्व भगवान् में है पर भगवान् विश्व में नहीं हैं। हीगल के अनुसार विश्व-प्रक्रिया ब्रह्मभाव की ओर बढ़ रही है, ब्रेडले के मत में विश्व के विवर्त्त अपनी समग्रता में समञ्जस ब्रह्मभाव का निर्माण करते हैं; किन्तु वेदान्त के अनुसार देश-कालगत अस्तित्त्व का अतिक्रम अथवा उससे परे होना ब्रह्मभाव है।

विश्व के अतात्त्विक होने का वेदान्त क्या प्रमाण देता है? नागार्जुन, ब्रेडले और हीगल ने भी विश्व की व्यक्तियों तथा धारणाओं को तर्कशास्त्र की तुला पर तौलकर यह परिणाम निकाला है कि वे विरोधग्रस्त, अथवा अतात्त्विक हैं। शङ्कर तात्त्विकता की परीक्षा दूसरी तरह करते हैं। अतात्त्विक वह नहीं है जो तर्क या बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं करता, बल्कि वह जो अनुभव द्वारा बाधित हो जाता है। स्वप्न या भ्रम के पदार्थों को हम इसलिए मिथ्या नहीं कहते कि वे तर्क की दृष्टि से असन्तोषप्रद या विरोधग्रस्त हैं, बल्कि इसलिए कि वे अनुभव की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। वास्तव में व्यावहारिक जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक ब्रह्म साक्षात्कार न हो। जिस प्रकार बिना रज्जु-ज्ञान के सर्पभ्रम की निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार बिना ब्रह्म-साक्षात्कार के विश्व के मिथ्यात्व का निश्चय नहीं हो सकता। इस निश्चय को उत्पन्न करने में कोरा युक्तिवाद असमर्थ है। तर्क अप्रतिष्ठित हैं, इसलिए भी कोरा तर्क विश्व को मिथ्या सिद्ध नहीं कर सकता। शङ्कर स्पष्ट कहते हैं—न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्, अपवादाभावे उत्सर्गप्रसिद्धेः (ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।३१), अर्थात् 'प्रपञ्च से ऊँची कोटि के तत्त्व का अनुभव हुए बिना सब प्रमाणों से सिद्ध

लोक-व्यवहार को मिथ्या नहीं कहा जा सकता ।' एक दूसरे प्रसंग में वे कहते हैं कि 'जब तक ब्रह्म की सर्वात्मता का ज्ञान न हो तब तक व्यवहार-जगत् को सत्य ही माना जाता है......इस प्रकार के ज्ञान से पहले सारा लौकिक और धार्मिक व्यवहार अक्षुण्ण चलता रहता है, (वही, २।१।१४)। सुरेश्वराचार्य भी कहते हैं—ऐकात्म्यप्रतिपत्तेः प्राग् न मिथ्या हेत्वभावतः,* अर्थात् एकात्मता के ज्ञान से पहिले जगत् को मिथ्या कहने का कोई कारण नहीं है।

तो क्या शङ्कर ने विश्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति नहीं दी है? ब्रह्मसूत्र ३।२।४ पर टीका करते हुए शङ्कर कहते हैं कि हमने विश्व के मायामय होने की सिद्धि "तदनन्यत्व" सूत्र (२।१।१४) के भाष्य में की है। इस सूत्र के भाष्य में शङ्कर ने प्रपञ्च के मिथ्यात्व-साधन के लिए दो प्रधान युक्तियाँ दी हैं। एक का आधार श्रुति की वे उक्तियाँ हैं जिनमें ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान होना कथित किया गया है। श्रुति यह भी कहती है कि कारण के कार्य या विकार वाचारम्भण (नाम) मात्र होते हैं, कारण ही सत्य होता है। ब्रह्म जगत् का कारण है, उसका कार्य प्रपञ्च-नाम-मात्र या वाणी का विलास मात्र अर्थात् मिथ्या है। 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है,❀ यहाँ अनेकता नहीं है', इत्यादि श्रुतियाँ भी विश्व को मिथ्या सिद्ध करती हैं। यह स्पष्ट है कि आधुनिक विचारकों की दृष्टि में शङ्कर की श्रुत्यलम्बित युक्तियों का कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु शङ्कर ने श्रुतियों को उद्धृत करने के अतिरिक्त विश्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिए एक दूसरी युक्ति भी दी है।

वह युक्ति यह है कि यदि प्रपञ्च को मिथ्या न माना जाय तो मुक्ति की सम्भावना नष्ट हो जायगी। वास्तव में यही शङ्कर का प्रधान और मौलिक तर्क है। बन्धन का अर्थ है कर्तृत्व और भोक्तृत्व अर्थात् प्रपञ्च-

* सम्बन्ध वार्तिक, पृ० २८८ (आनन्दाश्रम सं०)

❀ सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानाऽस्ति किञ्चन।

सम्बन्ध। यदि विश्व-प्रपञ्च को नित्य माना जाय तो यह बन्धन भी नित्य हो जायगा और मोक्ष सम्भव न हो सकेगा। सब प्रकार के द्वैत-वाद के विरुद्ध शङ्कर का यही तर्क है। 'प्रायः सब मोक्षवादी मानते हैं कि सम्यग्ज्ञान से मोक्ष मिलता है।'❀ किन्तु सम्यग्ज्ञान मोक्ष अथवा बंधन के नाश का कारण तभी हो सकता है जब बन्धन स्वाभाविक न होकर मिथ्या हो। ज्ञान से केवल मिथ्या पदार्थ का नाश हो सकता है, वास्तविक पदार्थ का नहीं। यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा का स्वभाव है, यदि वह वास्तविक है (जैसा कि न्याय-वैशेषिक मानते हैं) तो उसका विनाश कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव अविनश्वर होता है (स्वभावस्यानपायित्वात—ब्रह्मसूत्र शां० भा० ३।२।७ तथा सांख्यप्रवचन सूत्र, १।८)। वाचस्पति कहते हैं, न हि ज्ञानेन वस्त्वपनीयते, अपितु मिथ्याज्ञानेनारोपितम् (भामती, २।१।१४) अर्थात् ज्ञान सत् पदार्थ या वास्तविकता को नहीं हटा सकता, वह मिथ्याज्ञान की सृष्टि को ही दूर कर सकता है। 'यदि आत्मा का बन्धन (तप्यत्व) पारमार्थिक है, और यदि बन्धन का हेतु (तापक) प्रपञ्च नित्य है, तो मोक्ष कभी सम्भव नहीं हो सकता।'*

शङ्कर ने अपने भाष्य का आरम्भ अध्यास की सम्भावना से किया है। इस आरम्भ की प्रासंगिकता का मण्डन करते हुए पद्मपाद करते हैं कि ब्रह्मज्ञान को अनर्थ अर्थात् बन्धन का नष्ट करने वाला बताते हुए सूत्रकार ने ही यह स्पष्ट लक्षित कर दिया कि बन्धन का कारण अज्ञान है†।

❀ अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः ब्र० शां० भा० २।२१

* अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि तवैव सुतरामनिर्मोक्षप्रसंगः प्रसज्येत नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य—ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।२।१०

† दे० ब्रह्मसूत्र शां० भा० नव टीका सहित (कलकत्ता), पंचपादिका, पृ० ३८ ४३

'विवरण-प्रमेय-संग्रह' का लेखक कहता है—बन्धन सत्य है या मिथ्या, इस विषय में श्रुति तटस्थ है; किन्तु श्रुति को संगत बनाने के लिए हम बन्धन की असत्यता या मिथ्यात्व की कल्पना करते हैं।'† क्योंकि 'यदि बन्धन सत्य हो तो वह कभी ब्रह्मज्ञान के द्वारा निवृत्त नहीं हो सकता।'‡ मतलब यह है कि ज्ञान से मोक्ष तभी सम्भव हो सकता है जब बन्धन अविद्यात्मक हो, अथवा प्रपञ्च और उसका आत्मा से संसर्ग मिथ्या हो। सांख्य का द्वैत, ज्ञान द्वारा मोक्ष की सम्भावना का मण्डन नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रपञ्च के मिथ्यात्व के समर्थन में शङ्कर का मुख्य और मौलिक तर्क यह है कि इसको माने बिना मोक्ष की सम्भावना नष्ट हो जावगी।

ब्रह्म और प्रपञ्च के सम्बन्ध के विषय में भी शङ्कर के मौलिक विचार हैं। प्रपञ्च ब्रह्म में है, किन्तु ब्रह्म प्रपञ्च से परे है। वेदान्त स्पिनोज़ा की भांति सर्वेश्वरवादी नहीं है। श्रुति के अनुरोध से शङ्कर सृष्टि और प्रलय में विश्वास रखते हैं, और मानते हैं कि ब्रह्म जगत का कारण है। 'चेतन ब्रह्म जड़ जगत् का कारण है' शङ्कर ने इसका मण्डन करने तथा विरोधी आक्षेपों का उत्तर देने में काफी यत्न किया है। ब्रह्म जगत् का कारण है, पर वह परिणामी कारण नहीं है। स्वयं विकृत न होते हुए भी ब्रह्म जगत् का सृजन कर डालता है अथवा उसकी प्रतीति का हेतु बन जाता है। विश्व-प्रपञ्च ब्रह्म का विकार नहीं, उसका विवर्त्त है, जैसे शुक्ति की विवर्त्त रजत और रज्जु का विवर्त्त सर्प है। ब्रह्म और जगत् के संबन्ध को शङ्कर अध्यास कहते हैं; ब्रह्म में जगत् अध्यस्त है। इसी प्रकार अनात्मा में आत्मा अध्यस्त है। 'जो जैसा नहीं है उसमें वैसी बुद्धि होना अध्यास है।' प्रपंच ब्रह्म नहीं है, पर बिना ब्रह्म के आधार के उसकी

† श्रुतेर्बन्ध सत्यत्वासत्यत्वयोस्ताटस्थ्यात्। अस्माभिस्तु श्रुतोपपत्त्यर्थम् बन्धस्याविद्यात्मत्वं कल्प्यते। —विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० ८

‡ शंकर कहते हैं—न तु पारमार्थिकं वस्तु कर्त्तुं निवर्त्तयितुं वार्हति ब्रह्मविद्या—बृह० भा० १।४।१०

सत्ता भी नहीं हो सकती। ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है। कारण की अपेक्षा से कार्य में जो नूतनता दीखती है उसका क्या रहस्य है? शङ्कर के मत में यह नूतनता अध्यास का परिणाम है। नूतनताएं कारण का विवर्त्त हैं। वेदान्त के अध्यासवाद और विवर्त्तवाद में सांख्य के सत्कार्यवाद तथा न्याय-वैशेषिक के आरम्भवाद का समन्वय हो जाता है। वेदान्त मानता है कि नूतनताओं का अविर्भाव होता है, किन्तु वह उन नूतनताओं को तात्त्विक नहीं मानता।

अध्यास की धारणा वेदान्त की अपनी मौलिक धारणा है। बौद्ध विचारक नागार्जुन ने तात्त्विक और अतात्त्विक के सम्बन्ध की समस्या को अछूता छोड़ दिया है। प्लेटो भी इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाल सका है। हीगल और ब्रेडले, तथा स्पिनोज़ा भी, तत्त्व पदार्थ को अंतात्त्विक विवर्त्तों की समष्टि बता डालते हैं। वेदान्त तात्त्विक को कभी अतात्त्विक से समीकृत नहीं करता, वह अतात्त्विक को तात्त्विक का विवर्त्त-कार्य घोषित करता है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म का कार्य होते हुए भी ब्रह्म की पूर्णता और पवित्रता को क्षुण्ण नहीं करता।

वेदान्त का विवर्त्तवाद और अध्यासवाद उसे पश्चिमी अध्यात्म-वादियों की एक महत्वपूर्ण कठिनाई से बचा लेता है। ब्रह्म को विश्व-प्रक्रिया या विश्व-विवर्त्तों से समीकृत करनेवाले दर्शन संसार में 'अशुभ' (Evil) के अस्तित्व की व्याख्या नहीं कर पाते। यदि विश्व पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है तो उसमें पाप और दुःख क्यों पाये जाते हैं? हम ऊपर कह चुके हैं कि ब्रेडले ने ब्रह्म में सुख का अतिरेक स्थापित करने की चेष्टा की है। किन्तु जो हमारी दृष्टि से दुख या पाप है, उसे सिर्फ यह कह देने से सन्तोष नहीं होता कि वह ब्रह्म के समञ्ज-सरूप की रक्षा के लिए आवश्यक है। हीगल प्रगति की प्रतीति को भ्रम मानता है, उसके अनुसार पाप और दुःख की प्रतीति भी भ्रम ही है। वस्तुतः लाइबनिज़, हीगल और ब्रेडले तीनों के अनुसार यह

दुनिया **श्रेष्ठतम** सम्भव सृष्टि है, इससे अच्छी दुनिया हो ही नहीं सकती थी। लाइबनिज़ और हीगल दोनों के मत में विश्व-प्रक्रिया अनिवार्य रूप से पूर्णता की ओर बढ़ रही है। इन विचारकों के यह सिद्धान्त नैतिक पुरुषार्थ की भावना को शिथिल करनेवाले हैं। क्योंकि वेदान्त विश्व को ब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं मानता, इसलिए उसमें पाप और दुःख की समस्या ऊपर कहे रूप में नहीं उठती।

वेदान्त अध्यास का कारण अविद्या को बताता है। वस्तुतः ब्रह्म के बाद अद्वैत-वेदान्त की सब से महत्त्वपूर्ण धारणा अविद्या या माया है। यह माया या अविद्या क्या है? माया को आकाश, अक्षर, अव्यक्त और प्रकृति भी कहा गया है। पद्मपादाचार्य ने माया को 'जड़ात्मिका अविद्या शक्ति' कहा है। शङ्कराचार्य भी माया को ईश्वर की शक्ति बतलाते हैं, जिसके बिना ईश्वर सृष्टि नहीं कर सकता *। माया की उपाधि सहित ब्रह्म को वेदान्ती ईश्वर कहते है, और यह ईश्वर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। माया अनिर्वचनीय है, उसे न तात्त्विक कह सकते हैं, न अतात्त्विक, वह न सत् है न असत्; वह अनादि है, किन्तु ज्ञान द्वारा नष्ट की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि ईश्वर की शक्ति होते हुए भी माया कोई वाञ्छनीय पदार्थ नहीं है, उसे ज्ञान से नष्ट कर देना चाहिए। वेदान्ती ब्रह्म को सर्वशक्ति-सम्पन्न मानते हैं—यद्यपि यह विशेषण उपाधि-मूलक है—किन्तु प्रतीत यह होता है कि माया ब्रह्म की शक्ति को सीमित करती है। दुनिया के पाप और दुःख का पुष्कल हेतु अविद्या या माया है। एक जगह शङ्कराचार्य ने सृष्टि की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है—यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदा अस्यात्मनो प्रज्ञानघनाख्यं निरुपाधिकं रूप न प्रतिख्यायेत (बृह० भा० २।५।१०), अर्थात् यदि इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि न हो तो ब्रह्म का प्रज्ञानघन (चैतन्यमय या चैतन्यघन) रूप प्रसिद्ध न हो सके। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि-

* दे० ब्रह्मसूत्र शां० भा० १।४।३

प्रक्रिया ब्रह्म के चैतन्य की अभिव्यक्ति का साधन है। क्या इसका यह साफ निष्कर्ष नहीं है कि सृष्टि से पहिले माया-शबल ब्रह्म अपने चिद्रूप में ठीक अभिव्यक्त न था ? उस समय की कम अभिव्यक्ति का कारण माया ही हो सकती थी, और यह अनुमान असंगत नहीं है कि सृष्टि-क्रिया द्वारा ब्रह्म क्रमशः अपने स्वरूप को अधिकाधिक व्यक्त करके माया के आवरण का नाश कर रहा है। इस दृष्टि से देखने पर माया ब्रह्म की शक्तियों को सीमित करने वाली दृष्ट होती है; माया ब्रह्म की शक्ति ही नहीं, उसकी अशक्ति भी है। इस व्याख्या के अनुसार संसार के दुःख और पाप का उत्तरदायित्व ब्रह्म की इस अशक्ति पर रहेगा। वर्तमान काल में विलियम जेम्स आदि मनीषियों ने सीमित शक्तिवाले ईश्वर की कल्पना की है जो शैतान या पाप की शक्तियों से अजस्र युद्ध करता है और उस युद्ध में मानवता के नैतिक प्रयत्नों की अपेक्षा रखता है। ब्रह्म भी अपनी आवरक माया को हटाने का अजस्र यत्न कर रहा है, और अपने चिन्तन और मनन से हम मानव उसके प्रयत्न को आगे बढ़ा सकते हैं।

हीगल का पूर्णप्रत्यय या परब्रह्म पूर्ण होते हुए भी विश्व-विकास के आयास को क्यों स्वीकार करता है, इसका कोई समुचित समाधान नहीं दिया गया है। कहा जाता है कि विश्व-प्रक्रिया के माध्यम से पूर्ण-प्रत्यय आत्म-चेतना (Self-consciousness) को अधिक तीव्र रूप में प्राप्त करता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी व्याख्या रूपक द्वारा करने की चेष्टा की है। मां अपने बच्चे को उछालती है, क्यों ? इसलिए कि बाद को जब बच्चा लौट कर उसकी बाँहों में आये, तो वह उसके अपने होने का अधिक तीव्र अनुभव कर सके। परब्रह्म अपनी पूर्णता या आत्मचेतनता की अधिक तीव्र अनुभूति के लिए ही मानो उसे विश्व-प्रक्रिया में क्रमशः अभिव्यक्त होते हुए अनुभव करता है। यह सभी व्याख्याएं किसी-न-किसी रूप में यह स्वीकार कर लेती हैं कि प्रारम्भ में परब्रह्म कुछ अंशों में सीमित (Limited) था। इस दृष्टि से देखने पर

वेदान्त और हीगल के अध्यात्मवाद में विशेष भेद नहीं है। वेदान्त माया को सान्त मानता है, इसका यही आवश्यक अर्थ नहीं है कि सुदूर भविष्य में माया और उसका कार्य सृष्टि नष्ट हो जायँगे;* इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि विश्व-सृष्टि की चरम विकसित अवस्था में माया ब्रह्म का आवरण न रह कर सर्वथा उसके अधीन हो जायगी, वह वस्तुतः उसकी शक्ति, उसकी अभिव्यक्ति का साधन बन जायगी।

---

* अध्यास-भाष्य में शंकराचार्य ने विश्व-प्रक्रिया को अनादि-अनन्त कहा है (एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो), इससे हमारी व्याख्या की पुष्टि होती है। वस्तुतः जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, मोक्ष की संभावना के अतिरिक्त शंकर विश्व के मिथ्यात्व का कोई अच्छा प्रमाण नहीं दे पाए हैं। क्या मोक्ष का अर्थ प्रपञ्च और शरीर से छूटने के बदले उन पर पूर्ण आधिपत्य, जिस से अशुभ की संभावना न रहे, नहीं हो सकता? उस दशा में सृष्टि को ज्ञान द्वारा विलेय मानना आवश्यक नहीं रहता।

अध्याय ५

नीतिधर्म और साधना

विषय-प्रवेश—अंग्रेजी में जिसे 'एथिक्स' कहते हैं उसे संस्कृत में नीति-शास्त्र या नीतिधर्म नाम से अभिहित किया जाता था। वस्तुतः संस्कृत का धर्म शब्द नीति-नियमों का पर्याय है, न कि अंग्रेजी 'रिलीजन' का। ❀ 'रिलीजन' के लिये हमारी भाषा में कोई उपयुक्त पर्याय नहीं है, इसलिए हम, स्वर्गीय श्री बालगङ्गाधर तिलक का अनुसरण करते हुए, उसके लिये 'मोक्षधर्म' का प्रयोग करेंगे। जैसा कि प्रो॰ हिरियन्ना ने लिखा है 'रिलीजन' कुछ और हो या नहीं, वह निश्चित ही एक आदर्श की खोज (या आदर्शोन्मुखता) है, जो कि केवल विश्वासों और कर्मकाण्ड से सन्तुष्ट नहीं होती।* 'रिलीजन' अथवा तत्सम्बन्धी अनुभूति में जिस आदर्श का अन्वेषण होता है वह किसी न किसी अर्थ में पारलौकिक अर्थात् इस लोक का अतिक्रमण करने वाला होता है—उस आदर्श को चाहे ईश्वर कहा जाय, चाहे मोक्ष या निर्वाण। आदर्श के अस्तित्व में श्रद्धा और उसके चिन्तन में प्रायः आनन्दानुभूति भी रहती है; प्रायः 'रिलीजन' का आदर्श या उपास्य ईश्वर रहता है। नीचे की पंक्तियों में पाठक मोक्षधर्म को 'रिलीजन' का ही अपूर्ण पर्याय समझें।

भारतवर्ष में नीतिशास्त्र का विकास एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में नहीं हुआ, वह मोक्षधर्म का एक अङ्ग बना रहा। ऐसी दशा में वह

❀ तु॰ की॰ तिलक, गीता रहस्य हि॰ अ॰, पृ॰ ६८

* हिरियन्ना, Outlines of Indian Philosophy, पृ॰ १८

या तो सम्प्रदाय-विशेषों के धार्मिक या पवित्र ग्रन्थों पर आधारित रहा, या दर्शनशास्त्र पर। शीघ्र ही हम भारतीय नीति-धर्म के इन दोनों रूपों पर दृष्टिपात करेंगे। नीतिशास्त्र के स्वतन्त्र रूप में विकसित न हो पाने का एक कारण यह भी था कि यहां किसी ने अरस्तू की भाँति ज्ञान का शाखाओं में विभाजन या वर्गीकरण नहीं किया। योरपीय इतिहास के मध्य-युग में, तथा यूनान में सुकरात से पहले, वहां भी नीतिधर्म मोक्ष-धर्म पर अवलम्बित था, किन्तु सुकरात के समय से प्राचीन यूनान में और पुनर्जागृति के बाद आधुनिक योरप में नीतिशास्त्र 'रिलीजन' से विच्छिन्न हो कर स्वतन्त्र रूप में विकसित होने लगा। आधुनिक विचारकों की प्रवृत्ति उसे दर्शनशास्त्र से भी अलग रखने की ओर है,* यद्यपि प्राचीन काल से दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र में गहरा सम्बन्ध रहता चला आया है। योरप में दर्शन और 'रिलीजन' में प्रायः विच्छेद रहा है; यदि नीतिशास्त्र भी दर्शन से विच्छिन्न हो गया, तो दर्शन का मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध न रह जायगा।

जैसा कि हमने कहा भारतवर्ष में नीतिशास्त्र मोक्षधर्म पर आधारित रहा है। किन्तु यहाँ 'रिलीजन' या मोक्षधर्म शीघ्र ही दर्शनशास्त्र से प्रभावित होने लगा। जीवन का चरम पारलौकिक लक्ष्य क्या है, इस समस्या पर प्रकाश पाने के लिए यहां के धर्म-सम्प्रदाय दर्शन का मुँह जोहने लगे। और जब दर्शनशास्त्र ने यह घोषित कर दिया कि जीवन का लक्ष्य मोक्ष है, तब नीति-शास्त्र का काम मात्र उन नियमों का निर्देश करना रह गया जिनके पालन से मुक्ति मिल सकती थी। इस प्रवृत्ति ने नीतिधर्म को 'साधना' का रूप दे दिया, एवं मोक्षार्थियों के लिए कर्म-मार्ग, भक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग आदि विभिन्न मार्गों या साधना-प्रकारों का निर्देश किया जाने लगा। एक बार यह निश्चय हो जाने पर कि जीवन का लक्ष्य इस लोक से बाहर की वस्तु अर्थात् मोक्ष है, भारतीय

* यहां दर्शन का अर्थ Metaphysics समझना चाहिए। तु० की० Sidgwick-History of Ethics (1931), पृ० २१९, २८४।

नीतिशास्त्र का काम मानव-जीवन के श्रेय (Good) के बारे में चिन्तन करना नहीं रह गया, और उसके अनुसार शुभ कर्म की कसौटी मोक्ष का साधन होना बन गई। यद्यपि सामाजिक और राजनैतिक जीवन के कर्णधार जिन नीति-नियमों का उपदेश करना आवश्यक पाते रहे उनका मोक्ष-प्राप्ति से कोई सीधा सम्बन्ध न था, फिर भी वे इस मत को प्रचारित करते रहे कि उन नीति-नियमों के पालन से कालान्तर में ज्ञान उत्पन्न होगा जिससे धार्मिक व्यक्ति क्रमशः मोक्ष-लाभ कर सकेगा।* इस प्रकार यद्यपि मोक्ष का आदर्श वैयक्तिक था, फिर भी उसका सामाजिक नीतिधर्म से बहुत काल तक विच्छेद नहीं हुआ। हिन्दू-साम्राज्य के पतनकाल में जब कर्म-संन्यास पर अधिक जोर दिया जाने लगा, तब भी भूतदया आदि गुण संन्यासी के लिये आवश्यक कहे जाते रहे। इस प्रकार नीतिशास्त्र के क्षेत्र में यहां व्यक्तिवाद और समाजवाद में सामञ्जस्य रखने की चेष्टा की गई। इस चेष्टा का पूर्ण विकास वेदान्त में दृष्टिगोचर होता है।

योरप में नीतिधर्म और मोक्षधर्म दोनों का विकास भिन्न रीति से हुआ। जैसा कि हमने कहा योरप में दर्शन और मोक्षधर्म, फिलॉसफी और रिलीजन, लगभग विच्छिन्न रहे। वहां दर्शन ने नीति-धर्म को तो सहारा दिया, पर 'रिलीजन' या मोक्षधर्म को अकेला छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वहां मोक्षधर्म कभी बुद्धि के लिए आकर्षक नहीं बन सका, और धीरे-धीरे वह नीतिधर्म पर अपना प्रभाव खो बैठा। यह बात आधुनिक योरप के सम्बन्ध में और भी अधिक घटती है। योरप के पढ़े-लिखे लोग नीति-नियमों को जानने के लिए ईसाई पादरियों पर निर्भर न करके बेन्थम, मिल, टामस ग्रीन आदि विचारकों की आलोचनाओं को पढ़ते और उन पर मनन करते हैं। दर्शन का बौद्धिक अवलम्ब न रहने के कारण ही आज योरप में लोगों पर 'रिलीजन' का प्रभाव नष्टप्राय हो गया है।

* तु० की० वैशेषिक दूसरा सूत्र।

एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में नीतिशास्त्र का विकास धर्मग्रन्थों आदि के प्रभाव से मुक्त रहकर वैज्ञानिक ढंग से होता है। प्रत्येक विज्ञान वास्तविकताओं (Facts) के एक खास वर्ग की व्याख्या का प्रयत्न करता है। नीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय मानव-जाति की नैतिक चेतना है। मनुष्य एक-दूसरे के व्यापारों पर अच्छाई-बुराई का निर्णय देते हैं, यह निर्णय-वाक्य किसी वास्तविकता को प्रकट करते हैं। यह वास्तविकता, मानव-व्यापारों की नैतिक अच्छाई-बुराई ही, नीतिशास्त्र के अध्ययन की वस्तु है। प्रायः लोग भिन्न-भिन्न व्यापारों पर भिन्न-भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं, और यह सोचने को नहीं रुकते कि उनके विभिन्न निर्णयों में किसी प्रकार की एकता है या नहीं। वही व्यक्ति एक दशा में सत्य बोलने या हिंसा से बचने को पुण्य कहता है और दूसरी दशा में पाप। नीतिशास्त्र इन निर्णयों के एक आदर्श मानदण्ड या स्टैण्डर्ड को खोजने की चेष्टा करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नीतिशास्त्र मानवता के नैतिक निर्णयों को एक समष्टि का रूप देने की चेष्टा है, जैसे भौतिक विज्ञान हमारे जड़ जगत् सम्बन्धी कथनों या ज्ञानखंडों को समष्टि रूप देने का प्रयत्न है।* पश्चिमी विद्वान् शास्त्रों या विज्ञानों को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं, एक यथार्थान्वेषीशास्त्र और दूसरे आदर्शान्वेषी (Positive and Normative) शास्त्र। इस विभाजन के अनुसार भौतिक विज्ञान यथार्थान्वेषी शास्त्र है क्योंकि उसका विषय जड़ जगत् की वास्तविकता है, और नीतिशास्त्र आदर्शान्वेषी-शास्त्र है क्योंकि उसका काम मानव-व्यापारों के आदर्शरूप अथवा मानव-जीवन की आदर्शावस्था को खोज निकालना है। किन्तु शास्त्रों का यह प्रभेद कुछ विद्वानों को खटकता है। नीतिशास्त्र का काम किसी कल्पित आदर्श का सृजन करना नहीं है, अपितु उस आदर्श को

*** नीतिशास्त्र एक 'शास्त्र' (Science) है, इसके स्पष्टीकरण के लिए देखिए, जेम्स सेथ; Ethical Principles; Wundt, Ethics; तथा सिज्विक, History, पृ० २६५ और आगे।**

प्रकट भर कर देना है जो कि युग-विशेष की नैतिक चेतना अथवा नैतिक निर्णयों का प्रच्छन्न आधार है।

अनुभूतिवादी नीतिशास्त्र

योरप में नीतिशास्त्र-सम्बन्धी वादों ने प्रायः दो रूप धारण किये हैं। एक प्रकार के विचारकों ने इस बात की विशेष खोज की है कि मानव-व्यापारों की नैतिक अच्छाई-बुराई कैसे पहचानी जाती है। उनका मत है कि मनुष्य में देखने, सुनने आदि की भाँति नैतिक परख करने की भी एक अलग शक्ति, एक प्रकार की अन्तरिन्द्रिय है, जिसे सदसद्‌बुद्धि (Conscience) कहते हैं।* यह शक्ति न केवल दूसरों के व्यापारों के नैतिक गुण बता देती है, वह प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में यह भी बताती है कि उसका कर्त्तव्य क्या है। काण्ट, शेफ्ट्सबरी और बटलर इसी कोटि के विचारक हैं। काण्ट ने सदसद्‌बुद्धि के स्थान में कृत्यबुद्धि (Practical Reason) शब्द का प्रयोग किया है। इन विचारकों के अनुसार कर्त्ता को कोई व्यापार करते समय यह नहीं सोचना चाहिये कि उसका परिणाम क्या होगा, सिर्फ यह देख लेना चाहिये कि वैसा करना उसकी सदसद्‌बुद्धि या अन्तरात्मा के अनुकूल है या नहीं। अन्तरात्मा को हमारे यहाँ भी धर्म का स्रोत माना गया है; 'श्रुति, स्मृति, सज्जनों का आचार और अपनी अन्तरात्मा का प्रिय, यह चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।'❀ शकुन्तला पर मोहित होते हुये दुष्यन्त कहता है—'अवश्य ही यह रमणी क्षत्रिय के परिग्रह करने योग्य है, क्योंकि मेरा आर्य्य (शुद्ध) मन इसमें साभिलाष है; संदिग्ध स्थलों में सज्जनों की अन्तःकरण-वृत्ति

---

* वस्तुतः Conscience शब्द का हिन्दी में कोई उपयुक्त पर्याय नहीं है। स्वर्गीय तिलक ने उसके लिये 'सदसद्‌विवेकबुद्धि' का प्रयोग किया था। हमने उसे ही संक्षिप्त कर लिया है।

❀ श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् मनु० २।१२

ही प्रमाण होती है।' काण्ट की कृत्यबुद्धि नैतिक आचार के निम्न लिखित सार्वभौम नियम का स्रोत है: 'उसी नियम या सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो जिसे तुम सम्पूर्ण मानवता का नियम या सिद्धान्त बनाने की इच्छा कर सको।' जो वस्तुतः धर्म है वह सबके लिए वैसा होगा। यदि आप नहीं चाहते कि सब मनुष्य प्रतिज्ञा-भंग करें, सब आत्महत्या करें, तो प्रतिज्ञाभंग और आत्महत्या पाप हैं। इसी तथ्य को एक संस्कृत सूक्ति में इस प्रकार प्रकट किया गया है, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्, अर्थात् जो अपने लिये बुरा लगता है वैसा दूसरों के लिये भी न करे। काण्ट का निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) इसी का भावात्मक रूप है।

हमने कहा कि इस कोटि के विचारक कार्यों का परिणाम सोचने के विरुद्ध हैं। मनुष्य को प्रत्येक कर्म कर्त्तव्य-बुद्धि से करना चाहिये, उसके फल या परिणाम के लिये नहीं। 'भले ही आकाश गिर पड़े, तुम्हें अपना कर्त्तव्य करना चाहिये', यह कहावत इसी मत की पोषक है। काण्ट कहता है कि कोई काम इसलिये मत करो कि उससे सुख होगा, बल्कि इसलिये कि वह तुम्हारा कर्त्तव्य है। गीता का भी यही आदेश है। कृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन! कर्म में ही तेरा अधिकार हो, फल में कभी नहीं।' कर्त्तव्यज्ञान कैसे हो, इसके उत्तर में काण्ट कृत्यबुद्धि के उक्त आदेश की ओर इंगित करता है, जब कि गीता कहती है कि कार्य और अकार्य, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र (वेद) ही प्रमाण है।*

लक्ष्यवादी सिद्धान्त

दूसरी कोटि के विचारक ऊपर के सिद्धान्त से विपरीत मत का प्रतिपादन करते हैं। कोई भी व्यापार कुछ गतियों का समूह है; वह स्वयं अपने में न अच्छा है न बुरा। किसी कर्म की अच्छाई-बुराई उसके परिणामों पर निर्भर है। नीतिशास्त्र का उद्देश्य जीवन के आदर्श या

* तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

आदर्शावस्था का निश्चय करना है। इस आदर्श निश्चित हो जाने पर उन कर्मों के जो व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष को उस आदर्श की ओर ले जाने वाले हैं, अच्छा कहा जायगा, और उनके विपरीत कर्मों को हेय या बुरा। जीवन का आदर्श या आदर्शावस्था क्या है ? यह प्रश्न दो रूप धारण कर लेता है; (१) व्यक्तिगत जीवन का आदर्श क्या है, और (२) सामाजिक जीवन के दृष्टिकोण से आदर्श या आदर्शावस्था क्या है। यहां वैयक्तिक और सामाजिक आदर्शों में विरोध की सम्भावना स्पष्ट है। नीतिशास्त्र के इतिहास में विभिन्न विचारकों ने कहीं वैयक्तिक और कहीं सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाते हुये विचार किया है। दोनों ही दृष्टिकोणों से जीवन के आदर्श की विभिन्न कल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस कोटि के (अर्थात् लक्ष्यवादी) अधिकांश विचारकों का दृष्टिकोण वैयक्तिक रहा है। यह बात योरप के सम्बन्ध में विशेष रूप से ठीक है।*

सुखवाद

जीवन का आदर्श या आदर्शावस्था क्या है, इसके विभिन्न योरपीय विचारकों ने विभिन्न उत्तर दिए हैं। किन्तु इन अनेक उत्तरों को दो मुख्य श्रेणियों में बांटा जा सकता है। (१) जड़वादी, अनध्यात्मवादी और वे विचारक जिनमें दार्शनिक पक्षपात कम हैं प्रायः जीवन का लक्ष्य सुख बतलाते हैं। यूनानी विचारक एपीक्यूरस का सुखवाद वैयक्तिक था। एपीक्यूरस के समय में यूनानी प्रजातन्त्र और स्वातन्त्र्य नष्ट हो चुका था, तथा सुखपूर्ण सामाजिक संगठन के अभाव में लोगों में व्यक्तिवाद (Individualism) बढ़ रहा था। सुखवादी होते हुए भी एपीक्यूरस चार्वाक की भांति भोगवादी नहीं था। वह सिखाता था कि सुखी रहने का सर्वश्रेष्ठ उपाय इच्छाओं का दमन करके सन्तुष्ट रहना है। सुखी होने के लिए निर्भय होना भी आवश्यक

* सिज्विक ने अपने "इतिहास" का उद्देश्य 'वैयक्तिक नीतिधर्म' का ऐतिहासिक विवरण देना बताया है। दे० पृ० ३

है। आत्मा अमर नहीं है, इसलिए परलोक का भय मिथ्या है। मृत्यु का भय भी मिथ्या है, क्योंकि जब तक हम हैं तब तक मृत्यु नही है, और जब मृत्यु आयगी तब हम नहीं होंगे। सुखी रहना ही न्याय है, यही धर्म है। आधुनिक सुखवादी (अथवा उपयोगितावादी) बेन्थम और मिल का कथन है कि मानव-जीवन का उद्देश्य सुख है, किन्तु यह सुख केवल वैयक्तिक नहीं, अपितु सामाजिक सुख है। हमारे कर्मों का उद्देश्य 'अधिकांश मनुष्यों का अधिकतम सुख' उत्पन्न करना होना चाहिए। एपीक्यूरस का स्वर निराशावादी था, आधुनिक सुखवाद, जिसका प्रतिपादन विज्ञान के अभ्युदय काल में हुआ था, आशावादी है। मिल यह भी मानता है कि सुखों में जाति-गत (Qualitative) भेद होते हैं। कुछ सुख अधिक ऊंची कोटि के होते हैं, जैसे काव्य-शास्त्र के अध्ययन का सुख, और कुछ निम्न कोटि के, जैसे स्वादिष्ट भोजन का सुख।

विकासवादी सुखवाद

विकासवादी स्पेन्सर भी सुखवादी है। किन्तु उसका विश्वास है कि सुखोत्पादक और जीवन-संरक्षक व्यापारों में प्रायः तादात्म्य रहता है, इसलिए हमारे कर्मों का उद्देश्य सुख-प्राप्ति और जीवन-रक्षा दोनों ही कहे जा सकते हैं। वस्तुतः सुख की इच्छा करते हुए भी हम अचेतन भाव से जीवन-रक्षा में तत्पर होते हैं। बात यह है कि प्राणिवर्ग स्वभावतः सुख की कांक्षा करते हैं, और वे ही जीव-योनियां जीवित रह जाती हैं जिनके सुखान्वेषी व्यापार जीवन-संरक्षक भी सिद्ध हो जाते हैं। यदि किसी जीव-योनि के सदस्य ऐसे व्यापारों में सुखानुभव करते हैं जो उनके जीवन के लिए घातक हैं, तो वे कालान्तर में अवश्य ही नष्ट हो जाएँगे। इसलिए उन जीव-योनियों के सम्बन्ध में जो विकास के संघर्ष में विजयी हुई हैं, यह कहा जा सकता है कि उनके सदस्य यदि सुख को लक्ष्य बनायें तो वे जीवन-रक्षा भी कर सकेंगे। इस प्रकार स्पेन्सर सुखवाद का प्राणिशास्त्र या विकास-सिद्धान्त

द्वारा मण्डन कर डालता है। उसके युक्तिक्रम का एक आधार यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि 'प्राणिवर्ग स्वभावतः सुख की इच्छा करते हैं।' (जॉन स्टुअर्ट मिल भी इस मन्तव्य को मनोवैज्ञानिक सचाई मानता था।) स्पेन्सर की दूसरी मान्यता (Assumption) यह है कि जीवन-रक्षा अथवा जीवन का परिमाण बढ़ाना वाञ्छनीय है।

अध्यात्मवादी नीतिशास्त्र

(२) अध्यात्मवादी विचारक सामान्यतः जीवन का लक्ष्य पूर्णता (Perfection) या आत्मलाभ (Self Realization) बतलाते है। यह विचारक वैयक्तिक और सामाजिक मांगों का समन्वय करने की चेष्टा भी करते हैं। पूर्णता या आत्मलाभ क्या है, इसकी व्याख्या करना कुछ कठिन है। ग्रीन नामक विचारक का कहना है कि जीवन का उद्देश्य अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करना है, क्योंकि मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है, इसलिए उसे अपने बौद्धिक व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना चाहिए। वास्तविक श्रेय (True good) की इच्छा का क्या अर्थ है? ग्रीन का उत्तर है कि विविध कलाओं तथा शास्त्रों का अनुशीलन तथा धार्मिक बनने की चेष्टा, यही वास्तविक श्रेय है। ग्रीन यह भी कहता है कि वास्तविक श्रेय की कामना प्रतियोगिता या संघर्ष को जन्म नहीं दे सकती; वास्तविक श्रेय प्रतिद्वन्द्विता से परे है। किन्तु लोक में यह स्पष्ट देखा जाता है कि सब लोग काव्य-शास्त्र के अनुशीलन का अवसर नहीं पाते, और कोई व्यक्ति अपने बच्चों के तथा दूसरों के बालकों के पढ़ाने-लिखाने पर एक साथ खर्च नहीं कर सकता। अभिप्राय यह है कि ज्ञानार्जन नामक श्रेय भी प्रतियोगिताशून्य नहीं है। हीगल ने नैतिक जीवन की सामाजिकता पर अधिक जोर दिया। वास्तविक व्यक्तित्व (Self) सामाजिक व्यक्तित्व है। कुटुम्ब में, समाज में, और राज्य में, उनके नियमों के रूप में, व्यक्ति की असली आत्मा, उसका बौद्धिक तत्त्व, अभिव्यक्ति पाता है; इसलिए मनुष्य का परम

कर्त्तव्य समाज आदि के नियमों का पालन करना है। व्यक्ति को सामाजिक नियमों के बाहर आत्म-कल्याण की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अंग्रेज विचारक ब्रेडले ने भी कर्त्तव्य की सामाजिकता पर जोर दिया है। समाज में जहां या जैसी मेरी स्थिति है उसके अनुकूल सामाजिक मांगों को पूरा करना ही मेरा परम कर्त्तव्य है। एक प्रकार से हीगल और ब्रेडले का मत क्रांतिकारी परिवर्त्तनों का विरोधी है। ब्रेडले ने स्वयं कहा है कि उसका सिद्धान्त अति-मानव (Superhuman) नीति, आदर्श राज्य आदि की कल्पना का विरोधी है। संक्षेप में, अध्यात्मवादी नीति के अनुसार आत्मलाभ या पूर्णता का अर्थ जीवन को बुद्धि द्वारा नियमित अथवा समाज का अविरोधी बनाना है।

प्लेटो और अरस्तू भी कर्त्तव्य की सामाजिक व्याख्या के पक्षपाती थे। प्लेटो के आदर्श राज्य में, जिसकी बागडोर दार्शनिकों के हाथ में रहनी चाहिए, प्रत्येक मनुष्य को आँख मूंदकर शासकवर्ग की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। इन आज्ञाओं का उद्देश्य राष्ट्र की रक्षा और हित-साधन होगा। किन्तु प्लेटो और अरस्तू यह भी मानते हैं कि सामाजिक कर्त्तव्य पालन अपेक्षाकृत नीची कोटि का धर्म है, जीवन का सबसे ऊँचा व्यापार दार्शनिक चिन्तन है। प्लेटो के अनुसार यह चिन्तन श्रेयस्-प्रत्यय के स्वरूप पर मनन करना है। अरस्तू भी मानता है कि बुद्धिजीवी मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ व्यापार चिन्तन है। अरस्तू के ईश्वर का एकमात्र काम आत्म-चिन्तन में लीन रहना है। सामाजिक जीवन में मनुष्य का कर्त्तव्य 'अतियों' को त्यागकर मध्यमार्ग का अवलम्बन करना है। प्लेटो और अरस्तू दोनों ही मानते हैं कि दार्शनिकों के लिए भी प्रारम्भ में सामाजिक नीति-नियमों का पालन आवश्यक है, इसके बिना उनकी आत्मा दार्शनिक ज्ञान का ग्रहण करने के योग्य नहीं होती।*

* दे० Encyclopaedia Britannica, 14th Edn., Ethics पर लेख, पृ० ७६३

भारतीय नीतिशास्त्र

हम कह चुके हैं कि भ रतवर्ष में नीतिशास्त्र मोक्षधर्म या 'रिलीजन' के प्रभाव से मुक्त न हो सका, और उसका विकास एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में नहीं हुआ। मीमांसा-सूत्रों के अनुसार धर्म का स्वरूप चोदना या प्रेरणा है; वह श्रुति की आज्ञाओं का समुच्चयमात्र है। वेदादि ग्रंथों को छोड़कर केवल बुद्धि की सहायता से भी कर्त्तव्य-निर्णय किया जा सकता है, इस पर भारतीय दार्शनिकों ने विशेष विचार नहीं किया। वेदों के बाद स्मृतिकारों ने भी धर्म का उपदेश आदेशों के ही रूपों में किया। हमारे धर्मशास्त्र-ग्रन्थ तरह-तरह के विधि-निषेधों से भरे पड़े है। स्मृति-ग्रन्थों का उद्देश्य जीवन के प्रत्येक अवसर के लिए नीति-नियमों का निर्देश करना है। इन नियमों का भङ्ग करनेवालों के लिए तरह-तरह के प्रायश्चित्तों का विधान है। विभिन्न नियम और प्रायश्चित्त जैसे हैं वैसे क्यों हैं, इसका समाधान करने की स्मृति-ग्रन्थ श्रुति की दुहाई देने के अतिरिक्त कोई चेष्टा नहीं करते।

यह नहीं कि प्राचीन भारत में नीति-विषयक या धर्म-विषयक जिज्ञासा नहीं थी। महाभारत के सैकड़ों आख्यान-उपाख्यान इस बात को सिद्ध करते हैं कि उस काल में लोग धर्माधर्म की समस्या में गहरी अभिरुचि रखते थे। महाभारत में हम जगह-जगह पढ़ते हैं कि अहिंसा परम धर्म है, सत्य परम धर्म है, और परोपकार परम धर्म है; और स्थल-स्थल पर हम इस बातकी आलोचना पाते हैं कि कहाँ सत्य, हिंसा, क्षमा आदि नियमों का अपवाद करना चाहिए। उदाहरण के लिए प्रह्लाद बलि से कहते हैं,

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता ॥

अर्थात् 'हमेशा क्षमा करना चाहिये', इस नियम के पण्डितों ने अपवाद बतलाये हैं। महाभारत में ही हम पढ़ते हैं कि धोखा या दगा करनेवाले के साथ धोखा करना चाहिये, और सज्जन के साथ साधुता

का व्यवहार करना चाहिये। इसी प्रकार सत्य के भी अपवाद कहे गये हैं। विश्वामित्र ने प्राण-रक्षा के लिये कुत्ते का मांस खाया और जब उस श्वपच (चाण्डाल) ने जिसका वह मांस था, उन्हें कुत्ते के मांस की अभक्ष्यता सुझाई, तो विश्वामित्र ने उत्तर दिया कि 'तू चुप रह, तुझे धर्मशिक्षा देने का अधिकार नहीं है। मरने से जीना श्रेष्ठ है, जिन्दा रहेंगे तो बहुतेरा धर्म कर लेंगे।'*

महाभारत के अन्तर्गत ही गीता में कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विषयक तीव्र जिज्ञासा पाई जाती है। सम्भवतः विश्व-साहित्य में धर्माधर्म की जिज्ञासा का इतना तेज रूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। किन्तु गीता में भी पाश्चात्य रीति से धर्म का स्वरूप निर्णय करने की स्वतन्त्र चेष्टा नहीं की गई है। गीता में विभिन्न 'मार्गों' के आपेक्षिक मूल्यांकन का प्रयत्न है—कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बारे में गीताकार भी शास्त्र को प्रमाण मानते हैं। एपीक्यूरस, मिल आदि की भाँति गीता कर्त्तव्य के बारे में कोई नया सिद्धान्त देने का प्रयत्न नहीं करती।

भारतवर्ष में नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र का जनता के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। अंशतः श्रुति की मान्यता के कारण, और अंशतः व्यक्तिगत विचारकों में मौलिक कहलाने की महत्त्वाकांक्षा न होने के कारण, यहाँ विभिन्न वादों का व्यक्तियों के नाम से प्रचार नहीं हुआ। इसलिए भारतीय नीतिशास्त्र का विश्लेषणात्मक विवरण देना सम्भव नहीं है। भारतीय मस्तिष्क सदैव से परमतसहिष्णु रहा, उसकी दृष्टि सदैव समन्वय की ओर रही है, और वह विभिन्न स्रोतों से सचाइयों को ग्रहण करता रहा है। यह सब चीज़ें मिलकर भारतीय नीतिशास्त्र को बड़ा जटिल रूप दे देती हैं जिसमें कभी-कभी विरोधी तत्त्वों को भी एकत्र देखा जा सकता है। नीचे हम भारतीय नीति-शास्त्र की प्रमुख विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करेंगे।

(१) भारतीय नीतिशास्त्र का मूल स्रोत वेद या वैदिक धर्म है,

* दे० गीता रहस्य, पहला प्रकरण।

किन्तु बाद का हिन्दू धर्म केवल वैदिक शिक्षाओं पर ही अवलम्बित नहीं रहा है। वेदों की मान्यता ने हमारे नीतिधर्म को निःस्पन्द और गतिहीन नहीं बना डाला, वह समय-समय पर दूसरे स्रोतों की विचार-धाराओं से वर्धित और प्रभावित होता रहा। अब तक यह बात सिद्ध हो चुकी है कि हिन्दुओं के कई देवता, जैसे रुद्र-शिव, गणेश आदि आदिम अनार्यों के उपास्य थे। व्यक्तिगत विचारक भी वैदिक धर्म को बहुत कुछ परिवर्त्तित करते रहे। यह विचारक श्रुतियों के व्याख्याताओं में ही नहीं थे, उनमें से कुछ वैदिक धर्म से विद्रोह करने वाले भी थे। उदाहरण के लिए भगवान महावीर और गौतम बुद्ध जिनकी अहिंसा की शिक्षा ने बाद के हिन्दू हृदय पर गहरा प्रभाव डाला, वेद-विरोधी विचारक थे। वैदिक धर्म का यह वर्धिष्णु रूप उसकी ठीक-ठीक व्याख्या नितान्त कठिन बना देता है। ईसाई धर्म के कुछ निश्चित आदेश हैं, इस्लाम के भी कुछ निश्चित विधि-निषेध हैं; किन्तु वैदिक धर्म की आत्मा को पूर्णतया किन्हीं गिने-चुने विधि-निषेधों में प्रकट करना सम्भव नहीं है। वर्णाश्रम धर्म भी वैदिक धर्म का पूर्ण रूप नहीं है, वैदिक या हिन्दू धर्म, विशेषतः अपने उत्तर काल में, ज्ञान और भक्ति को उतना ही महत्त्व देता है जितना कि वर्णाश्रम-व्यवस्था को। बल्कि कहना चाहिये कि बाद के हिन्दू धर्म में ज्ञान और भक्ति का महत्त्व वर्णाश्रम-धर्म से भी बढ़ गया।

(२) हमने ऊपर कहा कि वैदिक धर्म आदेशात्मक है। इसमें सन्देह नहीं कि विधि-निषेधों की अधिकता ने भारतीय मस्तिष्क को नैतिक नियमों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र चिन्तन करने से रोका; किन्तु यह सत्य का एक पहलू है। धर्म-शास्त्रों के प्रणेता तथा दार्शनिक विचारक यह भली प्रकार जानते थे कि नीतिधर्म का पालन किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है। प्रो० मैकेन्ज़ी ने लिखा है कि नैतिक वादों का विकास एक विशेष क्रम से हुआ है। पहले सदाचार का मानदण्ड

(Standard) रीति-रिवाज थे; फिर राजा या ईश्वर के आदेश स्टैन्डर्ड बने; उसके बाद अन्तरात्मा या सदसद् बुद्धि (Conscience) की आवाज़; और अन्त में बुद्धिग्राह्य आदर्श अथवा जीवन का चरम लक्ष्य। भारतवर्ष में जहाँ साधारण जनता के लिए कुछ काल तक धर्म विधि-निषेध-रूप था, वहां विद्वानों की दृष्टि में वह सुख का साधन था। यह निश्शंक होकर कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों के अनुसार जीवन का लक्ष्य सुख रहा है, वह सुख चाहे ऐहिक हो चाहे मोक्ष का परमानन्द। तैत्तिरीय उपनिषद् में बतलाया गया है कि मोक्ष का सुख सांसारिक सुखों से करोड़ों गुना अधिक है। वैशेषिक सूत्र में धर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—जिससे इस लोक में अभ्युदय हो और इस जीवन के बाद मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। महाभारत में भीष्म कहते हैं:—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

अर्थात् 'मैं बाँह उठाकर कहता हूं, पर कोई सुनता नहीं; धर्म से ही सम्पत्ति मिलती है, उसी से कामनाएँ पूरी होती हैं, ऐसे धर्म का सेवन क्यों नहीं करते?' प्लेटो की "रिपब्लिक" में जो धर्म की व्यवस्था है वह भारतीय धर्म-शिक्षा से मिलती-जुलती है। किसी विधि-निषेध का चरम प्रयोजन क्या है, यह केवल रिपब्लिक के शासकों को मालूम रहेगा, शेष लोग विधि-निषेधों का बिना समझे पालन करेंगे। भारतीय शास्त्रकारों ने भी जनता के लिए यही ठीक समझा कि वह केवल श्रद्धा के बल पर उनके विधि-निषेधों का पालन करती रहे। किन्तु भारतीय जनता इतना अवश्य समझती थी कि धर्म का पालन इहलोक और परलोक के सुख के लिए है। इस विषय में कुमारिल और प्रभाकर के मतभेद का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। प्रभाकर का मत है कि लोग वैदिक विधियों का पालन कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर करते हैं, किसी फल के लिए नहीं। इसके विपरीत कुमारिल का विचार है कि उनके

पालन की प्रेरणा इष्ट-साधनता-ज्ञान से मिलती है। कुमारिल का मत मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। वस्तुतः भारतीय चेतना सदैव सुख-कांक्षिणी रही है। कुछ दर्शन दुःख-निवृत्ति को परम पुरुषार्थ मानते हैं, किन्तु साधारणतया दुःख-निवृत्ति की अभिलाषा सुखेच्छा का ही एक रूप है।

(३) धर्म का उद्देश्य सुख होते हुए भी भारतीय नीतिशास्त्र व्यक्ति-प्रधान नहीं है। वस्तुतः धर्म की धारणा ही सामाजिक है। 'धर्म का यह नाम इसलिए है कि वह धारण करता है, धर्म से ही प्रजाओं का धारण होता है।'* समाज की स्थिति के लिए धर्म अनिवार्य है। भारतीय वर्णाश्रम-धर्म का मूलाधार यही भावना है। प्रत्येक वर्ण के सदस्यों को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए। चारों वर्ण एक ही ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, और वे परस्पर कर्त्तव्य-सूत्रों से बंधे हैं। भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था प्लेटो की रिपब्लिक से आश्चर्यजनक समानता रखती है। समाज के सब सदस्य एक-सी बुद्धि और स्वभाव वाले नहीं हैं, इसलिए सबके कर्त्तव्य भी एक नहीं हो सकते। समाज में कुछ लोग अध्ययन-अध्यापन करेंगे, कुछ शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सीखेंगे और कुछ व्यापार तथा सेवा करेंगे। भारतीय व्यवस्था ब्राह्मणों को राज-शक्ति का अधिष्ठान नहीं बनाती, ब्राह्मण राजाओं को मन्त्रणा अवश्य दे सकते हैं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ लार्ड ऐक्टन ने कहा है कि शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट करने वाली है, अनियन्त्रित शक्ति नितान्त भ्रष्ट करने वाली है। भारतीय व्यवस्था ब्राह्मणों को जो कि आध्यात्मिक उन्नति के नेता हैं, इस शक्ति से अलग रखती है। ब्राह्मण के लिए व्यापार भी नहीं है; उसे धन से भी अलग रहना चाहिए। प्रत्येय व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुकूल आचरण करना चाहिए। यह सिद्धान्त हीगल और ब्रेडले की शिक्षाओं के समान ही है। भेद यही है कि भारतीय दृष्टि में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही ईश्वर की सृष्टि अथवा राज्य है, और उसके

*धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।

भीतर सब प्राणियों को एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-भावना रखनी चाहिए। हिन्दुओं के नित्य कर्मों में पांच महायज्ञ भी हैं, जिनमें से एक भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ का अर्थ है चींटी, कौवे आदि छोटे जीवों को खाद्य सामग्री देना। गीता में 'देवयज्ञों' की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि यज्ञ के साथ प्रजाओं को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने कहा—'इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होगी......तुम इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो, और देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले लोग सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।' इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा है—केवलाघो भवति केवलादी, अर्थात् अकेले खाने वाला पापी होता है। मनुस्मृति भी कहती है—अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्, अर्थात् जो केवल अपने लिए पकाता है वह पाप ही खाता है।* इस प्रकार भारतीय नीतिधर्म पूर्णतया सामाजिक, बल्कि उससे भी आगे बढ़ कर विश्वजनीन है। वह व्यक्तिवाद का एकान्त विरोधी है। गीता कहती है कि सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यज्ञ का मूल-स्रोत ब्रह्म है, और ब्रह्म के चलाये हुए इस सृष्टि-चक्र का अनुवर्त्तन करना परम कर्त्तव्य है।

यहां पाठक यह नोट करें कि योरपीय नीतिशास्त्र का स्वर व्यक्तिवादी है। जिन अध्यात्मवादी पद्धतियों में व्यक्तिवाद का अतिक्रमण करने की चेष्टा की गई है, वहां भी नीतिशास्त्र समाज-विशेष या राष्ट्र-विशेष की सीमाओं के बाहर नहीं जा सका है। प्लेटो के नागरिक क कर्त्तव्य अपनी रिपब्लिक के सदस्यों तथा उसकी सीमाओं तक सीमित है। यही बात हीगल, ब्रेडले आदि के मन्तव्यों के बारे में कही जा सकती है। योरप के आधुनिक विचारक अपने नागरिकों को सम्पूर्ण मानव-जाति के प्रति कर्त्तव्य-बुद्धि रखने की शिक्षा नहीं देते, वे कट्टर राष्ट्रवादी (Nationalists) हैं। इसके विपरीत भारतीय

* दे० गीतारहस्य पृ०, ६९४

नीतिकारों ने पशु-जगत् और देवलोक, मरे हुए पितरों तथा आगे आने वाली पीढ़ियों, सब के प्रति कर्त्तव्य-बुद्धि रखने का उपदेश दिया है।

(४) यहां हम पाठकों का ध्यान योरपीय तथा भारतीय नीति शास्त्रों के सबसे महत्त्वपूर्ण भेद की ओर आकर्षित करेंगे। जैसा कि हमने कहा, योरपीय नीतिशास्त्र का दृष्टिकोण वैयक्तिक है, वह मुख्यतः व्यक्ति के श्रेय पर विचार करता है। उसकी दृष्टि प्रायः व्यक्ति के ऐहिक जीवन पर रहती है, और आधुनिक काल में उसका सर्वसम्मत निष्कर्ष यह है कि संसार में नैतिक दृष्टि से सब से ऊंची चीज व्यक्तित्व (Personality) है और नैतिक जीवन का उद्देश्य इस व्यक्तित्व का विकास करना है।* इस व्यक्तित्व के विकास का ऊंचे-से-ऊंचा अर्थ जो योरपीय नैतिक ग्रन्थों से निकाला जा सकता है, वह यही है कि काव्यशास्त्र और कलाओं द्वारा व्यक्तित्व को संस्कृत किया जाय। व्यक्तित्व का इस प्रकार पोषण ही आत्म-लाभ है। इससे यह स्पष्ट है कि योरपीय नीतिशास्त्र जीवन के एक परिमित या सीमित श्रेय का प्रतिपादन करता है।

किन्तु भारतीय नीतिशास्त्र का ध्येय अपरिमित या असीम है; वह व्यक्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला है। शरीरी आत्मा का व्यक्तित्व सीमित व्यक्तित्व है, भारतीय नीतिशास्त्र उसके पोषण का उपदेश नहीं देता। वेदान्त के अनुसार मन, अन्तःकरण आदि आत्मा की उपाधियां हैं, वे आत्मा को सीमित करने वाले हैं। इसलिए मन और बुद्धि को संस्कृत करना जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने का एक साधन हो सकता है, स्वयं साध्य नहीं। जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा का परमात्मभाव प्राप्त करना है। योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध जीवन और योग का उद्देश्य है; प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इनके निरुद्ध होने पर ही आत्मा की अपने स्वरूप में अव-

* दे० सिज्विक, वही, पृ० २८८

स्थिति होती है। अन्य दर्शनों के अनुसार भी अन्तःकरण एवं अहंता का निरोध ही परम ध्येय है। बौद्ध निर्वाण का अर्थ है अहंता का पूर्ण विनाश अथवा व्यक्तिभाव का अतिक्रमण।* ससीम व्यक्तिभाव अथवा अहंभाव को छोड़ देने पर ही मनुष्य असीम में लय होने के योग्य बनता है। भारतीय दर्शन का दृढ़ विश्वास है कि व्यक्तित्व की सीमाओं में घिरे रह कर वास्तविक आनन्द को प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'जो भूमा है, जो असीम है, वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है।' व्यक्तित्व परिच्छिन्नता का प्रतीक है, उसके अतिक्रमण से ही अनन्त की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में आत्मलाभ का अर्थ सीमित व्यक्तित्व का पोषण नहीं, उसका निषेध है; आत्मा का अपने अनन्त चिन्मय रूप में अवस्थित होना ही वास्तविक आत्मलाभ है। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार की स्थिति मृत्यु के बाद ही प्राप्त हो, जीवित रहते हुए भी व्यक्तित्व की सीमाओं को पार कर जाना सम्भव है। जिसे हमारे शास्त्रकार जीवन्मुक्त कहते हैं, और जिसे गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया है, वह शरीरी रहते हुए भी अहंभाव अर्थात् व्यक्तित्व के बन्धनों से मुक्त रहता है।

यद्यपि स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त पुरुष का लक्ष्य व्यक्तिगत मोक्ष या पूर्णता होता है, फिर भी उसे व्यक्तिवादी नहीं कहा जा सकता, और न उसमें तथा समाज में किसी प्रकार का विरोध हो सकता है। विरोध की सम्भावना वहीं होती है जहां दो भिन्न स्वार्थ हों, किन्तु मुमुक्षु स्थितप्रज्ञ का कोई अपना स्वार्थ नहीं रहता। इसलिए, यद्यपि भारतीय नीतिशास्त्र भी व्यक्तिगत पूर्णता को लक्ष्य घोषित करता है, तथापि उसमें व्यक्ति और समाज के झगड़े का उठना सम्भव नहीं रहता। इसके

---

* भारतीय चित्रकला में भी व्यक्ति प्रधान नहीं है, और हमारे नाट्य-साहित्य का उद्देश्य पात्रों के व्यक्तित्व का चित्रण न होकर प्रेक्षकों को रसानुभूति में लीन करना होता था। इसके विपरीत मुग़ल चित्रकला और योरपीय नाटक व्यक्ति-प्रधान हैं।

विपरीत प्रायः सब योरपीय नीतिशास्त्री वैयक्तिक और सामाजिक स्वार्थों के संघर्ष का निपटारा करना कठिन पाते हैं। सुखवाद के प्रतिपादक इसका कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं बता पाते कि व्यक्ति समाज के हित के लिए अपने सुख का बलिदान क्यों करे अथवा वह सामाजिक सुख को अपना ध्येय क्यों बनाये ! अध्यात्मवादी विचारकों की पूर्णता या आत्म-लाभ की व्याख्या भी व्यक्ति और समाज की समस्या का उचित हल नहीं कर पाती। जैसा कि हमने ऊपर कहा, विद्या, आत्मसंस्कार (Self-Culture) आदि श्रेय पदार्थ भी प्रतियोगिता तथा संघर्ष को जगाने वाले हैं।

(५) व्यावहारिक जीवन में मनुष्य कितना ही अच्छा क्यों न बने, फिर भी उसकी अच्छाई बुराई द्वारा सीमित रहती है। जब तक हमें दुष्ट प्रवृत्तियों से लड़ना पड़ता है, तब तक हम अपूर्ण ही कहे जायंगे। और जब मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियां सर्वथा विजित और नष्ट हो जाती हैं तब वह वस्तुतः नैतिक जगत का प्राणी नहीं रहता, अपितु मुक्त या जीवन्मुक्त हो जाता है। भारतीय नीतिशास्त्र का लक्ष्य यही नैतिक जीवन से परे हो जाना है। इस प्रकार भारतीय विचारक नैतिक जीवन को साध्य न मान कर साधन मानते हैं। नीतिधर्म का पालन अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति के लिए है; जिस मंजिल पर हमें पहुँचना है, नैतिक जीवन उसका मार्ग-मात्र है। इसीलिए भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था चतुर्थ आश्रम में संन्यास का विधान करती है। स्वयं वर्णाश्रम धर्म इस मान्यता पर आधारित है कि समाज के सब मनुष्य एक ही प्रकार के कर्मों का पालन करने के उपयुक्त नहीं है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के अलग-अलग कर्त्तव्य हैं। अभिप्राय यह है कि नीतिधर्म के नियम आपेक्षिक हैं, वे देश-काल और स्वभाव की अपेक्षा से विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। आगे चलकर भारतीय नीतिशास्त्र, अथवा मोक्षधर्म, यह भी मान लेता है कि स्वयं वर्णाश्रम-धर्म ही मोक्ष का एकमात्र साधन नहीं है। मोक्ष के दूसरे मार्ग भी हो सकते हैं, जैसे योगमार्ग और

भक्तिमार्ग। यहां यह कह देना आवश्यक है कि भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न मार्गों पर ज्यादा जोर दिया जाता रहा है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि देश की राजनैतिक परिस्थिति भी मुमुक्षुओं की साधना का स्वरूप निर्धारित कर सकती है। किन्तु सामान्यतः, शाङ्कर वेदान्त के उदय से पहले, वर्णाश्रम धर्म का पालन मुमुक्षुओं के लिए भी नितान्त आवश्यक समझा जाता था। मनुजी कहते हैं—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा प्रजाम्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥*

अर्थात् पहले आश्रम में वेदों का अध्ययन न करके तथा दूसरे आश्रम में सन्तानोत्पत्ति और यज्ञ न करके मोक्ष की इच्छा करनेवाला द्विज पतन को प्राप्त होता है। यहाँ मनु जिस सचाई का निर्देश करना चाहते हैं वह नैतिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक अधिक है। पहले ही आश्रम से संन्यास ले लेने में डर है; जिसने सांसारिक भोगों को नहीं जाना है उसका मस्तिष्क उनकी विकृत कल्पनाओं का केन्द्र बन सकता है। इसलिए, मानसिक शांति और स्वास्थ्य के लिए, गृहस्थाश्रम के बाद ही संन्यास लेना श्रेयस्कर है। किन्तु नैतिक या सैद्धान्तिक दृष्टि से वर्णाश्रम का क्रम अनिवार्य नहीं है, ज्ञानमार्ग के हिमायतियों ने इसी पर ज़ोर दिया है। अवश्य ही वेदान्त का ज्ञानमार्ग वर्णाश्रम-व्यवस्था का विरोधी बन जाता है। उत्तरकाल के वेदान्ती गीताकार भगवान के अपने जीवन को भूल गए। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यद्यपि मुझे कोई प्राप्य चीज़ अप्राप्य नहीं है, और यद्यपि मैं कर्त्तव्यों की भूमिका से ऊपर उठ गया हूँ, फिर भी मैं लोक-संग्रह के लिए कर्म करता हूँ।

'लोक संग्रह' के लिए, यह वाक्यांश भारतीय नीतिधर्म और मोक्ष-धर्म के हृदय को प्रकट करता है। मुमुक्षु को किसी भी दशा में स्वार्थ

*मनुस्मृति, ६।३७

से प्रेरित होकर कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। हम निर्देश कर चुके हैं कि वर्णाश्रम-धर्म में भी कर्त्तव्य-बुद्धि को प्रधानता दी गई है, वह धर्म भी अन्ततः मोक्षप्राप्ति का ही साधन-भूत है। किन्तु गृहस्थ जीवन में रहते हुए, सम्पत्ति आदि के लिए संघर्ष करते हुए, कोई व्यक्ति सर्वथा निःस्वार्थ नहीं हो सकता। कुछ लोगों का विचार है कि अपने में केन्द्रित युवक विवाह के बाद कुटुम्ब के दूसरे सदस्यों के लिए त्याग करना सीखता है। किन्तु यह एक आंशिक सत्य है; गृहस्थी का भार स्वार्थ-भावना को उत्तेजित भी करता है। मनु ने जो काम-वासना के सम्बन्ध में कहा है वह शक्ति तथा ऐश्वर्य-वासना के बारे में भी ठीक है, हव्य से अग्नि की भाँति वे अपने विषयों के भोग से निरन्तर बढ़ती ही हैं। गृहस्थाश्रम में रहकर मनुष्य को बरबस संकीर्ण बन जाना पड़ता है, वह अपने और दूसरों के बच्चों में भेद करना सीखता है, और सामाजिक आदर की आधार धन-सम्पत्ति में भी ममता-दृष्टि बनाये रखता है। इसीलिए वर्णाश्रम-व्यवस्था गृहस्थ के बाद, जब लड़के के बच्चा हो जाय, गृह-त्याग का उपदेश देती है।‡ गृहस्थी के भार से मुक्त होकर ही पुरुष पूर्णतया उदार और सार्वभौम दृष्टिकोण को अपना सकता है।

जिनकी मोक्षाकांक्षा तीव्र है, और जो कर्म-लोक से भयभीत नहीं होते, ऐसे कर्मण्य लोगों के लिए निष्काम-कर्म का विधान है। कर्म अपने में बुरी चीज नहीं है, वही कर्म बाँधनेवाला होता है जिसकी प्रेरणा स्वार्थ में होती है। 'यज्ञार्थ, अर्थात् लोक-संग्रहार्थ, कर्म से अतिरिक्त कर्म ही बन्धन का हेतु होता है।'❀ जिसने काम्य कर्मों का त्याग कर दिया है, अथवा जिसने कर्मफलों को ईश्वर के अर्पित कर दिया है, वह संन्यासी है, वह त्यागी है।❋ अग्नि न जलाने वाला अकर्मण्य

‡ मनुस्मृति, ३।२

❀ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः—गीता, ३।९

❋ काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः—गीता, १८।२

व्यक्ति त्यागी या संन्यासी नहीं है।‡ वस्तुतः त्याग और संन्यास मन के धर्म हैं। जो ससीम भोगैश्वर्य का इच्छुक है, वह साधारण लौकिक व्यक्ति है; और जो क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर अपरिसीम परमात्म-भाव का अनुरागी है; वह संन्यासी या मुमुक्षु है।

मोक्ष के दूसरे मार्ग भी इसी केन्द्रीय सिद्धांत पर अवलम्बित हैं। भक्तिमार्ग उन लोगों के लिए है जो अधिक रागात्मक-वृत्ति वाले हैं। भक्तिमार्ग यह सिखाता है कि साधक अपनी इच्छाओं और वासनाओं को ससीम पदार्थों से हटाकर असीम परमात्मा की ओर लगाये। इस प्रकार साधक की वासनाएं और मनोवेग शुद्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत ज्ञान-मार्ग का पथिक यह सीखने की चेष्टा करता है कि वह वस्तुतः असीम और चिन्मय है; उसका क्षुद्र शरीर और उसकी वासनाओं से कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं है। ज्ञानी अपने उद्दाम चिन्तन के बल पर जिस असीम से तादात्म्य प्राप्त करना चाहता है, भक्त उसी में भावावेश द्वारा तन्मय हो जाता है। इन दोनों से भिन्न योगी मनोवैज्ञानिक साधनों द्वारा ससीम की चेतना का उच्छेद कर डालना चाहता है। 'चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है।'†

इस प्रकार मोक्ष-साधना के विभिन्न मार्गों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। उनके रूप अलग होते हुए भी उनकी 'स्पिरिट' वही है। भारतीय मोक्षधर्म इस बात को मानता है कि साधक को किसी न किसी स्टेज (भूमिका) पर पहुँच कर ससीम के मोह को छोड़ देना चाहिए; इसके बिना अनन्त की प्राप्ति सम्भव नहीं है। असीम आनन्दमय मोक्ष ससीम ऐहिक विभूतियों का न तो योग है न उनका पर्यवसान।❀

‡ **न निरग्निर्न चाक्रियः—वही।**

† **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्-योगसूत्र।**

❀ **अंग्रेज़ी में इसे यों कहेंगे** - The Infinite is neither a summation nor the consummation of the finite series.

वह ससीम से एक भिन्न कोटि की चीज है। मुक्त होने का अर्थ ऐहिक भोगैश्वर्यों को प्रचुरता में प्राप्त करना नहीं है जैसा कि दूसरे धर्मों की स्वर्गादि-कल्पनाएँ बतलाती हैं, अपितु एक नितान्त भिन्न भूमिका में पहुँच जाना है जहाँ इस जगत् की बाधाएँ और सीमाएँ दूर छूट जाती हैं।

यह कहना ग़लत है कि भारतीय नीतिशास्त्र या मोक्षधर्म की प्रवृत्ति अभावात्मक (Negative) है। भारतीय चेतना सदैव सुखा-कांक्षिणी रही है। भारतीय साहित्य की शृङ्गारिकता और सरसता इस बात की द्योतक है कि भारतीय सुखभोग के प्रति विरक्त नहीं रहे हैं। चाहें हम भारतवर्ष के शृंगार-काव्य को लें, चाहे भक्ति-काव्य को, यह स्पष्ट है कि भारतीय चेतना अपने अन्तरतम तक रसमयी है। भारत में सम्भवतः उस समय कामशास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ जब योरप के अधिकांश देश काम-शास्त्र का नाम भी नहीं जानते थे। भारतीय पुराण भी यहां की कल्पना के नितांत सरस और सजीव होने की साक्षी देते हैं। वास्तव में भारतीय साहित्यिकों की नारी के व्यक्तित्व में आवश्यकता से अधिक अभिरुचि रही है। किन्तु नारी का व्यक्तित्व मोहक होते हुए भी अस्थिर और ससीम है और भारत का सम्वेदनशील चिन्ताकुल मस्तिष्क उससे सन्तुष्ट न रहकर ध्रुव असीम की खोज में दौड़ पड़ता है। लोक में प्रवाद है, या मृगनयनी या मृगछाला-अर्थात् या तो इस लोक में प्रचुर सुख-भोग मिले, या फिर दुनिया को छोड़कर मोक्ष-साधना करे। किन्तु इस लोक में संभवतः चक्रवर्त्ती राजा के अतिरिक्त किसी का ऐश्वर्य एक सम्वेदनशील मेधावी व्यक्ति को आकर्षित नहीं कर सकता, इसलिए ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही संसार से विरक्त हो जाता है। भारतीय चेतना थोड़े से, ससीम से, सन्तुष्ट नहीं होती। भारतीय कल्पना ने वर्त्तमान विज्ञान से सैकड़ों वर्ष पहले करोड़ों ब्रह्माण्डों की कल्पना कर डाली थी। 'आलोक-वर्ष' (Light year) की कल्पना से पहले ही भारतीय गणक युगों और कल्पों द्वारा काल-

गणना करते थे। इस प्रकार जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को अभावात्मक बताना भारतीय मस्तिष्क के घोर अज्ञान का द्योतक है। इसी प्रकार भारतीय दर्शन को निराशावादी कहना भी निराधार है। मोक्ष की धारणा भारतीय दर्शन की केन्द्रगत धारणा है, मोक्ष में विश्वास होने का अर्थ अनन्त जीवन और अविनश्वर आनन्दरूपता की सम्भावना में विश्वास है।

भारतीय नीतिधर्म की प्रमुख विशेषताएं सूत्ररूप में इस प्रकार प्रकट की जा सकती हैं: (१) नीतिधर्म का आधार मोक्षधर्म है; भारतीय नीतिधर्म का ध्येय नीतिधर्म से परे है। नीतिधर्म का सम्बन्ध ससीम जगत् से है, जबकि जीवन का ध्येय असीम मोक्षानन्द है। (२) इस प्रकार नीतिधर्म की सत्यता आपेक्षिक है और वह विभिन्न कोटि के पुरुषों के लिये विभिन्न रूप धारण कर सकता है। हिन्दू धर्म सबके लिए एक ही मार्ग का अवलम्बन वांछनीय नहीं समझता। वह विभिन्न मस्तिष्कों और स्वभावों वाले मनुष्यों के लिए अनेक प्रकार की साधनाओं का निर्देश करता है। हिन्दू धर्म में नितान्त अज्ञानी, मूर्ख और पिछड़े हुए पुरुषों के लिए साधना और उपदेश है; वह अत्यन्त मेधावी तर्कनाशील और उन्नत व्यक्तियों के लिए भी शिक्षा और साधना का निर्देश करता है। इस प्रकार हिंदू धर्म में सबके लिए जगह है।* उसमें सब धर्मों की सचाइयों का समन्वय हो जाता है।

योरपीय नीतिशास्त्र व्यक्तित्व के पोषण की शिक्षा देता है, और भारतीय नीतिशास्त्र या मोक्षधर्म अहंता के विनाश की; एक का उद्देश्य ऐहिक सुखों को उनके चरम उत्कर्ष में प्राप्त करना है, दूसरे का उनकी ससीमता से ऊपर उठकर असीम में लीन होना। भारतवर्ष में जनता के जीवन पर मोक्षधर्म और दर्शन का पूरा शासन रहा है, भारतवर्ष ने सदैव त्यागी संन्यासियों का आदर किया है, और मोक्ष के आदर्श को आदर की दृष्टि से देखा है। भारतीय चेतना यह मानती रही है

* दे० एनी बीसेण्ट Four Great Religions (१९०६), पृ० ३१

कि सीमित भोगैश्वर्यों का मोह न छोड़ सकना एक प्रकार की कमजोरी है। यहां कट्टर-से-कट्टर मीमांसक भी, जिनका काम मोक्ष के प्रति उदासीनता की शिक्षा देना था, मोक्षकामी साधकों को पूज्य ही समझते रहे।

योरप में भी ईसाई धर्म का जनता के जीवन पर काफी दिनों तक प्रभाव रहा। ईसाई धर्म की मूल शिक्षा यह है कि मनुष्य का असली स्थान दूसरी दुनिया में है, और यह दुनिया वहां जाने के लिए तैयारी करने की जगह है। किन्तु ईसाइयों की दूसरी दुनिया भारतीय पुराणों के स्वर्ग से विशेष भिन्न नहीं है। वास्तव में स्वर्ग की कल्पना ऐहिक सुखों की अभिलाषा का ही अतिरंजित रूप है। स्वर्ग के विश्वासी बताते हैं कि वहां इस जगत् के सुखों को ही प्रचुर मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है। यदि स्वर्ग के सुख सांसारिक सुखों से भिन्न नहीं है, तो उनके लिए प्रत्यक्ष-प्राप्त भोगैश्वर्यों का तिरस्कार क्यों किया जाय? यह स्पष्ट है कि स्वर्ग की कल्पना मनुष्य को क्षुद्र भोगैश्वर्यों से विरक्त नहीं कर सकती। ईसाई धर्म की जीवनादर्श की कल्पना बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं कर सकती, इसलिए वह शीघ्र ही विचारशीलों पर अपना प्रभाव खो बैठा। विज्ञान के अभ्युदय और डार्विन के विकासवाद ने ईसाई धर्म के प्रभाव को सर्वथा नष्ट कर दिया।

धर्म का प्रभाव नष्ट या कम होने के फल-स्वरूप योरप के लोग स्वर्ग अथवा परलोक और ईश्वर की ओर से विरत होने लगे। उसी अनुपात में उनका ऐहिक पक्षपात बढ़ने लगा। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने तरह-तरह की भोग-सामग्री प्रस्तुत करके इस ऐहिक प्रवृत्ति को उत्तेजना दी। योरप ने एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों पर आर्थिक और राजनैतिक आधिपत्य स्थापित किया, इस घटना ने भी वहां की ऐहिक और जड़वादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया।

किसी देश में वहां के लोगों की मनोवृत्ति के अनुकूल ही नीतिधर्म अथवा नैतिक आदर्शों का स्वरूप निर्धारित होता है, और यदि कुछ

विचारक एक नये आदर्श का उपदेश करने लगें, तो उस आदर्श की व्याख्या जनता अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल कर लेती है। प्रजातन्त्र के अभ्युदय के बाद योरप में अध्यात्मवादी दर्शनों का प्रभाव कम होता गया है। विशेषतः इंग्लैंड में, जो प्रजातन्त्र की जन्मभूमि समझी जाती है, मिल के सुखवाद या उपयोगितावाद का बहुत प्रभाव पड़ा। अध्यात्मवादियों की 'आत्म-लाभ' की शिक्षा की सुखवादी व्याख्या असम्भव न थी, वस्तुतः आत्मलाभ का सिद्धांत ऐहलौकिक ही था। ग्रीन ने बताया था कि जीवन का ध्येय व्यक्तित्व के बौद्धिक अंश (Rational Self) का विकास अर्थात् काव्यशास्त्र का अनुशीलन, सत्य और सौन्दर्य का अन्वेषण, है। किन्तु ग्रीन प्रभृति विचारक आत्मा की अमरता के समर्थक न थे, और इस जीवन से परे व्यक्तित्व के शेष रहने में विश्वास नहीं रखते थे। इसलिए उनकी शिक्षा बढ़ते हुए भोगवाद के प्रवाह को रोकने में असमर्थ रही। यदि इस जीवन से परे कुछ नहीं है, तो उन सुखों की, जो इस जीवन में मिल सकते हैं, अवहेलना क्यों की जाय? काव्य-शास्त्र का अनुशीलन भी मनोविनोद के लिए है, और यदि किसी को दूसरी चीजों में आनन्द मिलता है तो उन चीजों को त्याज्य नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः वर्त्तमान योरपीय नैतिक चेतना को जिसने सबसे अधिक प्रभावित किया, वह अध्यात्मवाद आदि की पद्धतियां नहीं, डार्विन का विकासवाद था। अति-आधुनिक काल के प्रायः सभी विचारक विकासवाद से प्रभावित हुए हैं। डार्विन के अनुसार ऊँची जीवन-योनियों का विकास संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता द्वारा होता है और जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय होती है। इस तथ्य का एक पहलू यह भी है कि अन्त में जो विजयी होता है, वही योग्य या श्रेष्ठ है।* इस प्रकार संघर्ष-

*तु० की० Might is right, admirable, worthy. (R.B. erry, Present Conflict of Ideals, पृ० १४२) ब्रेडले लिखता है:- That which is strongest on the whole must there-

क्षमता अथवा शक्तिमत्ता नैतिक श्रेष्ठता का प्रतीक बन जाती है। जर्मन विचारक नीत्शे ने विकास-सिद्धान्त के नैतिक निष्कर्षों को स्पष्ट करने की चेष्टा की। हमारे आचरण का उद्देश्य उच्चकोटि के मानव (Superman) का विकास होना चाहिए, कमजोर और अशक्त मनुष्यों का रक्षण या पोषण नहीं। नीत्शे के नीतिधर्म में दया, ममता आदि का कोई स्थान नहीं है। डार्विन के अनुयायियों के अनुसार दया, ममता आदि प्राकृतिक विकास-प्रक्रिया को विघ्नित करने वाले हैं। इसके विपरीत संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता द्वारा अच्छी कोटि के मनुष्यों का रक्षण और हीन कोटि के मनुष्यों का क्रमिक लोप होने से मानव-जाति अधिकाधिक ऊँचे रूपों में विकसित होती है।

इस प्रकार योरप में 'व्यक्तित्व के पोषण' की शिक्षा विभिन्न स्रोतों से पुष्पित, पल्लवित और पुष्ट हुई है। क्योंकि इस जीवन के परे कुछ नहीं है, इसलिए अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक विविध अनुभूतियों से वर्धित करना चाहिए। संक्षेप में, वर्त्तमान योरप का जीवन के प्रति यही दृष्टिकोण है। 'रिलीजन' या मोक्षधर्म के अभाव में योरपीय जीवन में कोई ऐसा आदर्श नहीं रह गया है जिसके प्रति चिरन्तन रागात्मक वृत्ति या अनुराग हो सके। अतएव वर्त्तमान योरपीय विविध भोग-सामग्री में, विविध दर्शन और श्रवण के विषयों में, उत्तेजना और आनन्द ढूंढ़ता है। जीवन में जितने हो सकें उतने अनुभवों को महसूस करना अथवा अहर्निश उत्तेजनाओं को ढूंढ़ते रहना—कुछ लोगों की सम्मति में यही जीवन का उद्देश्य है। एक लेखक के शब्दों में वर्त्तमान योरपीय समाज में लोग सुख की खोज में लगभग उन्मत्त हो

---

fore be good, and the ideals which come to prevail must therefore be true. This doctrine...has...now for a century, taken its place in Europe...it more or less dominates or sways our minds to an extent of which most of us, are perhaps, dangerously unaware.'—Essays on Truth and Reality.

रहे हैं ।* किसी आदर्श की वास्तविकता में अथवा स्वयं जीवन में विश्वास न होने का यह स्वाभाविक किन्तु दयनीय परिणाम है। जीवन की निष्प्रयोजन निरर्थक घड़ियां बीती जा रही हैं, फिर क्यों न किसी भांति यदा-कदा मिल जाने वाले क्षणिक सुखों या उत्तेजनाओं को पकड़ लिया जाय ?

'रिलीजन' के अभाव में वर्त्तमान योरप आज इन्द्रिय-सम्वेदनों और इन्द्रिय-तृप्ति के अतिरिक्त सब चीज़ों में विश्वास खो बैठा है। वस्तुतः नीतिधर्म दर्शन और मोक्षधर्म या रिलीजन के आधार के बिना अकिंचित्कर है। योरपीय दर्शन ने अपने को रिलीजन से तटस्थ रखा, जिसका परिणाम रिलीजन का ह्रास हुआ। रिलीजन के अभाव में वहां नीतिधर्म की नाव भी डगमगा रही है। प्रजातन्त्र के उदय ने योरप में लोगों को एक नया रिलीजन दिया, अर्थात् राजनीति और राष्ट्रवाद (Nationalism)। राष्ट्रवाद ने एक नये नीतिधर्म को, जो डार्विनवाद से अनुप्राणित था, जन्म दिया। राष्ट्रवादी व्यक्ति दूसरों के प्रति कर्त्तव्य मानता है, किन्तु वे दूसरे उसके समान-राष्ट्रीय लोग हैं। और डार्विन के विकास-नियम के अनुसार जो राष्ट्र विजयी होता है वही धर्मात्मा या नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। इस नवीन रिलीजन का फल पिछला और वर्त्तमान महायुद्ध है।

भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र मोक्षधर्म के प्रति उदासीन नहीं रहा, किन्तु उसने नीति-धर्म को गौण घोषित कर दिया। यहां नीतिधर्म सर्वथा मोक्षधर्म पर अवलम्बित रहा। यह मानना ही पड़ेगा कि भारतीय-दर्शन ने इह-लोक की दृष्टि से जीवन का आदर्श क्या है, इस प्रश्न की उपेक्षा की। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि यहां राजनीतिक क्षेत्र में विशेष उन्नति नहीं हो पाई, लोग अन्त तक एक स्वेच्छाचारी राजा का शासन मानते रहे। दूसरे, जीवन के सब व्यापारों

*..."An almost maniacal hunt for pleasure" दे० Cattel, Psychology and the Religious Quest, (1938) p. 53.

में यहां की जनता बिना सोच-विचार किये शास्त्रों के आदेश मानने की अभ्यस्त बन गई, भले ही वे आदेश ऐहिक कल्याण को क्षत करने वाले हों। हमारे धर्म के, साधारण जनता के लिए, आदेशात्मक रहने का परिणाम यह हुआ है कि लोग आंख मूंदकर प्राचीन प्रथाओं का, जो अब निरर्थक हो गई हैं, पालन किये जाते हैं और उनकी उपयोगिता के बारे में विचार करने को नहीं रुकते। रूढ़िपालन को ही हमारी जनता धर्म समझती है। यही कारण है कि भारतीय सुधारक आज हमारे समाज से बुरी प्रथाओं को हटाना नितान्त कठिन पा रहे हैं। संभवतः संसार के किसी समाज में इतना अंधविश्वास नहीं है जितना भारतीय समाज़ में; कहीं के लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में इतने रूढ़िवादी नहीं है जितने कि भारतवर्ष के। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत की जनता कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान के लिए पूर्णतया शास्त्रों पर निर्भर करने की अभ्यस्त हो गई है।

क्या आधुनिक काल के स्वतन्त्रचेता विचारक भारतीय मोक्षवाद या मोक्षधर्म को ग्राह्य पा सकते हैं? वस्तुतः मोक्ष की सम्भावना का दार्शनिक मंडन बहुत कठिन है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय मोक्ष का आदर्श संसार के अन्य सब धर्मों (Religions) के पारलौकिक आदर्शों की तुलना में अधिक ऊंचा और बुद्धि-ग्राह्य है। भारतीय दर्शन मोक्ष को सिर्फ जीवन के बाद फलीभूत होने वाला अनिश्चित आदर्श ही नहीं मानता: वह जीवन्मुक्ति की सम्भावना में भी विश्वास रखता है। गीता के स्थितप्रज्ञ को हम जीवन्मुक्त वर्णित कर सकते हैं। 'स्थितप्रज्ञ मुनि वह है जिसने तुच्छ मनोरथों को छोड़ दिया है, जो दुःखों से उद्विग्न नहीं होता और जिसकी सुखों में स्पृहा नहीं है; जो राग-द्वेष, भय और क्रोध से मुक्त है; क्षुद्र वास्तविकताएं जिसकी शान्ति को भंग नहीं कर सकतीं।' जीवन्मुक्त एक दूसरी ही भूमिका में विचरण करता है। साधारण लोग जिन्हें हानि-लाभ समझते हैं, जिनसे बचने या जिनकी प्राप्ति के लिए

अहर्निश संघर्ष करते हैं, स्थितप्रज्ञ ज्ञानी उनकी प्राप्ति पर उपेक्षा की हँसी हँस देता है। वह विश्व के वैभवों को असीम के दृष्टिकोण से देखता है, और उन्हें इच्छा करने योग्य नहीं पाता। परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड-राशियों तक सब चीजें जानने या समझने लायक हो सकती हैं, सबके ज्ञान के लिए प्रयत्न करना श्लाघ्य है, किन्तु जड़ात्मक विश्व में कुछ भी अभिलाषा का विषय होने योग्य नहीं है। जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी एषणाओं से कहीं ऊपर उठा हुआ होता है। भारतीय मोक्षवाद की प्रशंसा करते हुए अल्बर्ट स्वीज़र (Albert Sweitzar) कहता है:—

Compared with the Brahmanic Superman, Neitzsche's is a miserable creature. Brahmanic Superman is exalted over the whole universe, Nietzsche's merely over-human Society. * अर्थात् भारतीय मुक्त पुरुष की तुलना में नीत्शे का महापुरुष क्षुद्र प्राणी प्रतीत होता है। मुक्त पुरुष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ऊपर उठ जाता है, नीत्शे का महापुरुष सिर्फ मानव-समाज से ऊपर उठता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष का आदर्श अथवा जीवन्मुक्त का आदर्श आज भी हमारी बुद्धि और कल्पना को स्पर्श करता है। यदि हम नीत्शे के समाजातिगामी महापुरुष का विचार छोड़ दें, तो योरपीय नीतिशास्त्र के अनुसार पूर्ण जीवन ऐसे व्यक्तियों का जीवन होगा जो साधारण मात्रा में इन्द्रिय-सुखों का उपभोग करते हुए काव्य-शास्त्र की आराधना करते हैं। इस दृष्टि से जर्मन कवि गेटे का जीवन आदर्श कहा जायगा। महाकवि गेटे एक अपूर्व पुरुष था जो जीवन भर काव्य-शास्त्र का अनुशीलन, साहित्य का सृजन और युवतियों से प्रेम करता रहा।

मोक्ष का आदर्श आज ग्राह्य हो या नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं

* Indian Thought and its Development.

कि मानव-हृदय चिरकाल तक ससीम से सन्तुष्ट नहीं रह सकता। मानव-जाति सदैव से एक ऐसे आदर्श की खोज में रही है जो शाश्वत और चिरन्तन हो। आज भी मानवता एक ऐसे आदर्श का स्वप्न देखने को व्याकुल है। उस आदर्श का स्वरूप कैसा होना चाहिए जिससे वह वर्त्तमान वैज्ञानिक बुद्धि को ग्राह्य हो, यह स्थिर करना दर्शन-शास्त्र का काम है। निष्कर्ष यह है कि दर्शन-शास्त्र को न नीतिधर्म से तटस्थ रहना चाहिए और न मोक्षधर्म से। दर्शन का काम विश्व की व्याख्या करना ही नहीं, मानव-जीवन के ध्रुव आदर्श का अन्वेषण और उसका स्वरूप स्थिर करना भी है।

उपसंहार

दार्शनिक चिन्तन की प्रेरक शक्ति जहाँ एक ओर मानवता की अदम्य जिज्ञासावृत्ति है वहाँ दूसरी ओर उसकी पूर्णत्व की ओर बढ़ने की प्रबल वासना है। विभिन्न विचारकों में समय-समय पर इन दो में से एक वृत्ति अधिक तीव्र हो जाती है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र एक ओर विज्ञान से और दूसरी ओर मोक्षधर्म से गहरा सम्बन्ध रखता है। अपने चिन्तन में दर्शन वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्ब लेता है, वह विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्षों में सामाञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा भी करता है। विज्ञान खण्ड-सत्यों का अन्वेषण करते हैं, दर्शन का लक्ष्य अखण्ड सत्य—समग्र-विश्व-विषयक सत्य है। इस प्रकार दर्शन में मानवता के विभिन्न ज्ञान-प्रयत्नों का पर्यवसान होता है। साथ ही दर्शन मानव-जीवन के लक्ष्य का निर्देश करने की चेष्टा करता है। पहले अध्याय में हमने यह निष्कर्ष निकाला था कि योरपीय दर्शन में वैज्ञानिक प्रेरणा की प्रधानता रही है जब कि भारतीय दर्शन मोक्षधर्म में अधिक अभि-रुचि लेता रहा है। दोनों ही प्रकार की प्रेरणाओं के मूल में जिज्ञासा-वृत्ति रहती है; भेद जिज्ञासा के विषय में हो जाता है।

वस्तुतः हम अनुभव-जगत् में दो तत्त्व पाते हैं, एक तो कार्य-कारण भाव से नियमित वास्तविकताओं की शृङ्खला और दूसरा शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर आदि मूल्यों का संसार, जिसका देश-काल से विशेष सम्बन्ध नहीं दीखता। दार्शनिक जिज्ञासा के ये दोनो ही क्षेत्र हैं। मूल्य-जगत् में कुछ तत्त्व सापेक्ष और ससीम दीखते हैं, जैसे प्रेम, यश, अपयश आदि; यह मूल्य नीतिशास्त्र का विषय हैं। भार-तीय दर्शन सापेक्ष मूल्यों से भी उदासीन रह कर असीम या निरपेक्ष

लक्ष्य या आदर्श की खोज करता रहा। इसके विपरीत योरपीय दर्शन ने व्यावहारिक मूल्यों के अध्ययन अर्थात् लोकधर्म में अधिक अभिरुचि ली। किन्तु दार्शनिक चिन्तन की पूर्णता सापेक्ष और निरपेक्ष मूल्यों एवं घटना-जगत् और मूल्य-जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों को बुद्धिगम्य बनाने में है, वह अनुभव-जगत् के किसी अंश से उदासीन नहीं रह सकता। इस प्रकार न तो दर्शन और विज्ञान में कहीं विरोध की गुञ्जा-यश है, न दर्शन और मोक्षधर्म (Religion) में।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रेडरिक पाल्सन ने अपने ग्रन्थ "दर्शन की भूमिका" में योरपीय दर्शन की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए लिखा है:—

Philosophy is the sum of all scientific knowledge. History demands that we accept this definition.*

अर्थात् दर्शन की दार्शनिक इतिहास-सम्मत व्याख्या यही है कि वह विभिन्न विज्ञानों का योग अथवा सब प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान का एकीकरण है। किन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है। विभिन्न विज्ञान जीवन के मूल्यों पर विचार नहीं करते, और ज्ञानमीमांसा की भांति मूल्यों का स्वरूप-निर्णय दर्शन की अपनी समस्या है। वस्तुतः कुछ आधुनिक लेखकों ने तो दर्शन को "मूल्यों का विज्ञान" (Science of Values) कह कर वर्णित किया है। दूसरे लेखकों के अनुसार मूल्यानुचिन्तन दर्शन का प्रधान काम है। हैनरी स्टीफ़ेन ने लिखा है:—'हम क्या हैं? हमें क्या करना है? हम क्या आशा कर सकते हैं? दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है, पर वह यह उत्तर सृष्टि के स्वरूप की खोज और उसमें हमारे स्थान का निर्णय करके प्राप्त करना चाहता है।'† दर्शन की यह अन्तिम परिभाषा भारतीय विचारकों को ग्राह्य हो सकती है। भारतीय दर्शन के अनुसार भी आत्मा के स्वरूप और उसके मोक्षरूप

* Introduction to Metaphysics (१९३०), पृ० ३३

† Problems of Metaphysics (१९१२), पृ० १

का ज्ञान दर्शन की प्रमुख समस्या है। वस्तुतः पूर्व और पश्चिम की दर्शन-सम्बन्धी धारणाएं परस्पर भिन्न न हो कर एक-दूसरे की पूरक हैं।

पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से मूल्य-जगत् और घटना-जगत् में सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। प्राच्य दर्शनों के अनुसार सब प्रकार के मूल्यों का अधिष्ठान आत्मा है, और यह आत्मा जड़ जगत् से भिन्न है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्त सबके अनुसार आत्मा का प्रपञ्च से सम्बंध-विच्छेद ही मोक्ष है। भक्ति-मार्गी दर्शनों का मत और है, पर इन दर्शनों का चिन्तनात्मक आधार दुर्बल है। मध्वाचार्य उपर्युक्त मत के ही पोषक हैं, उनके अनुसार आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि के अनुसार मुक्त जीव लोक-विशेष में भगवान् के साथ रहता है।

पश्चिम के जड़वादी विचारक जहां मूल्य-जगत् को असत् या अवास्तविक, मात्र बाई-प्रोडक्ट, घोषित करते हैं, वहां अध्यात्मवादी विचारक मूल्यों को घटना-जगत् में ओतप्रोत मानते हैं। वे समस्त विश्व को मानव-आदर्शों से परिचालित अर्थात् प्रयोजनोन्मुख व्यापार-समष्टि के रूप में कल्पित करते हैं। घटना-जगत् और मूल्य-जगत् में कोई द्वैत नहीं है। घटनाएँ मात्र कार्य-कारण-परंपरा रूप नहीं हैं, वे एक चरम-लक्ष्य की ओर गतिमान भी हैं। भौतिक नियम-प्रवाह के साथ ही विश्व में नैतिक नियम-प्रवाह (Moral Order) भी सजग है।

धर्म और साधना के क्षेत्र में भारतीय दर्शन की सब से महत्त्वपूर्ण देन जीवन्मुक्ति की धारणा है। किसी कल्पित परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी मनुष्य की अहन्ता-शून्य असीम में अवस्थिति संभव है। वह तुच्छ राग-द्वेष, मानापमान, हानि-लाभ से परे हो सकता है। इसके विपरीत पाश्चात्य बुद्धि अनवरत प्रयत्न और व्यक्तित्व के पोषण में जीवन की महिमा देखती है। किन्तु आसन्न अतीत में इस घोर व्यक्ति-वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। समाजवाद ने अन्ध प्रतिद्वंद्विता और व्यक्तिवाद का विरोध किया है। अपने ग्रन्थ

"लक्ष्य और साधन" (Ends and means) में आल्डस हक्सले ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में भारतीय नैष्कर्म्य (निष्काम कर्म) के आदर्श का समर्थन किया है :—

The ideal man is the non-attached man. Non-attached to his bodily sensations and lusts. Non-attached to his craving for power and possession.... Non-attached to his anger and hatred; non-attached to his exclusive loves. Non-attached to wealth, fame, social position. Non-attached even to service, art, speculation, philanthropy. Yes, non-attached even to these. For, like patriotism ...they are not enough.*

अर्थात् 'आदर्श पुरुष अनासक्त पुरुष है। अनासक्त शारीरिक संवेदनों में, वासनाओं में; शक्ति की इच्छा में, विविध सामग्री में; क्रोध में, घृणा में; व्यक्तिगत प्रीतियों में; धन में, यश में, सामाजिक सम्मान में। अनासक्त कला, चिन्तन और जनसेवा में; हाँ, इन में भी, क्योंकि यह, देश-प्रेम की भांति, पर्याप्त नहीं हैं।' अन्यत्र वही लेखक लिखता है— 'वर्त्तमान परिस्थिति में जनता की नैतिक चेतना शक्ति और सामाजिक उच्चता के इच्छुक को बुरा नहीं समझती। योरप और अमरीका के बालक सामाजिक उच्चता प्राप्त कर लेने वाले की प्रशंसा करते हैं और उसकी सफलता को पूज्य दृष्टि से देखते हैं, वे अमीरों और पदस्थों से ईर्षा करना भी सीखते हैं, एवं उनका आदर और आज्ञा-पालन भी। अर्थात् महत्त्वाकाङ्क्षा और आलस्य, दो संबद्ध बुराइयां, गुण समझीं जाती हैं। तब तक संसार का कल्याण नहीं हो सकता जब तक लोग शक्ति के आकाङ्क्षी को उतना ही बुरा न समझने लगें जैसा कि अत्याहारी और कञ्जूस को" (पृ० ३२०)। व्यक्तिवाद का इससे अधिक तीव्र विरोध असंभव है।

*Ends and Means (१९४०), पृ० ३-४

हक्सले के उद्गारों से यह स्पष्ट है कि जीवन-विषयक सत्य पुराना पड़ जाय, यह आवश्यक नहीं है। प्राचीन भारत के नैतिक सिद्धान्त आज की दुनिया के लिए आवश्यक और उपादेय हो सकते हैं। पूर्व के विचारों से पश्चिम और पश्चिम के विचारों से पूर्व लाभान्वित हो सकता है। सत्य का अन्वेषण और उपयोगिता देश-विशेष या काल-विशेष में सीमित नहीं हैं। वस्तुतः कोई सत्य कितना एकांगी है और कितना पूर्ण है, इसकी ठीक से परीक्षा तब होती है जब वह अपने अन्वेषक देश-काल के घेरे से बाहर पहुँचता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों के विचारक निष्पक्ष सहानुभूति से एक-दूसरे की सभ्यता और विचार-परंपरा को समझने की चेष्टा करें जिससे पारस्परिक सहानुभूति एवं सामान्य मनुष्यता के विकास में सहायता मिले। इसके लिए तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन तो और भी जरूरी है, क्योंकि प्रत्येक देश और जाति के श्रेष्ठतम विचार उसके दार्शनिक साहित्य में निहित रहते हैं। यदि मेरी इस छोटी पुस्तक ने पूर्व और पश्चिम की सामान्य मनुष्यता को जगाने में कुछ भी मदद की तो मैं अपने प्रयत्न को विफल नहीं समझूंगा।

परिशिष्ट [क]

चीनी और इस्लामी दर्शन

१—चीनी दर्शन

प्रारंभिक—चीन एक महादेश है जिसकी जन-संख्या सम्मिलित हिन्दुस्तान और पाकिस्तान से अधिक है। वह एक प्राचीन देश भी है। साम्यवादी सरकार की स्थापना के बाद वह यकायक एक बड़ी शक्ति बन गया है और तिब्बत के आक्रमण ने उसके प्रभाव को भारत की सीमा तक पहुँचा दिया है। यों भी भारत और चीन में गहरा ऐतिहासिक सम्पर्क रह चुका है। इन सब दृष्टियों से यह आवश्यक है कि हम चीनी दर्शन और संस्कृति को समझने का प्रयत्न करें।

चीनी इतिहास के सांस्कृतिक युग

चीनी दर्शन और संस्कृति के विविध रूपों को समझने के लिये उसके इतिहास की किंचित् जानकारी अपेक्षित है। चीन के लम्बे इतिहास को हम चार महत्त्वपूर्ण युगों में विभाजित कर सकते हैं।

१—अति प्राचीन काल (१०२८ ई० पू० तक)

चीनी इतिहास का आरम्भ ईसा से प्रायः तीन हज़ार वर्ष पूर्व हुआ। भारतवासियों की भाँति चीनियों का भी विश्वास है कि उनके पूर्वज बड़े पवित्र थे तथा वे देवी-देवताओं से सम्बद्ध थे। बहुत प्राचीन काल में, कहा जाता है, पाँच सम्राट् हुए। उनके बाद "याउ" नामक शासक (२३५७-२२५६ ई० पू०) हुआ। यह पहला शासक है जिसे विशुद्ध मनुष्य समझा जाता है। १६६४ से १५२४ ई० पू० तक शिआ

(Hsia) वंश का राज्य रहा ; १५२३ ई० पू० से १०२८ ई० पू० तक शैङ् वंश का। शिआ वंश के राज्य का प्रारंभिक काल संभवतः प्रस्तर-युग का अन्तिम चरण था। शैङ् के राजत्व काल में खेती, पशु-पालन आदि मुख्य व्यवसाय थे। रेशमी कपड़ा बुना जाता था और लिखने की कला भी प्रचलित हो गई थी।*

२—१०२७ ई० पू० से २२१ ई० पू० तक—चोऊ वंश

चीनी इतिहास में चोऊ वंश का राज्य-काल सबसे लम्बा है। उसकी पहली सुनिश्चित तिथि ७७६ ई० पू० है जब एक स्मरणीय सूर्य-ग्रहण हुआ। उस समय का चीन इतना विशाल न था ; तब उसमें उत्तरी मैदान और पीली नदी की घाटी ही सम्मिलित थे। चोऊ वंश ने सामन्तशाही की प्रतिष्ठा की। चीनी दर्शन के जन्म या उत्थान का भी यही समय है। ४८० ई० पू० से २२२ ई० पू० तक का समय 'विग्रही राज्य-युग' (Era of Contending States) कहलाता है।

कन्फ्यूशियस (५५१-४७६ ई० पू०), मेन्शियस् (३७२-२८६ ई० पू०), मो तिः या मो त्ज़ू, लाउ त्सी या लाउ त्ज़ू (५७० ई० पू०—?) आदि दार्शनिक इसी कालावधि में हुए। वस्तुतः यह चीनी दर्शन का स्वर्ण-युग है। इस युग का प्रधान दर्शन कन्फ्यूशियस का दर्शन है।

३—चोऊ के पतन से टैङ् के पतन तक (२२१ ई० पू०— ९०६ ई० तक)

इस कालावधि की मुख्य घटनाएँ हैं—सामान्तशाही का अन्त, लिखित भाषा का स्वरूप स्थिर होना, पन्द्रह-सौ मील के लगभग लम्बी दीवार का निर्माण, परीक्षा के आधार पर शासकों की नियुक्ति की प्रथा का जन्म (१६५-१२५ ई० पू०) और, टैङ् काल (६१८-६०६ ई०) में, प्रसार एवं पूर्णता, आदि। इस कालावधि में चीन में बौद्ध धर्म

* दे० चाइना (यूनाइटेड नेशन्स सीरीज़, यूनिवर्सिटी ऑफ़ केलीफोर्निया प्रेस, १९४६), पृ० ५१-५२

का प्रवेश (प्रथम शती ई०) हुआ और क्रमशः उसका प्रभाव बढ़ता गया। लाउत्सी के दर्शन का प्रभाव भी बढ़ा। कन्फ्यूशियस का प्रभाव बहुत कम हो गया। यह काल चीनी इतिहास का मध्ययुग है, धर्म और परलोक-केन्द्रित संस्कृति का युग।

४—टैङ् के पतन से चिङ् के पतन तक (९०६-१९१२ ई०)

सांस्कृतिक दृष्टि से यह कालावधि सृजनहीनता का समय है, और प्राचीन विचारधाराओं के पुनरुत्थान का। कन्फ्यूशियस का प्रभाव बढ़ा, यद्यपि अब उसका दर्शन बौद्धधर्म आदि के प्रभाव से रूपान्तरित हो गया। बौद्धों तथा लाउत्सी का प्रभाव कम हो गया। चीनी संस्कृति फिर ऐहलौकिक बन गई जैसी कि वह चोऊ वंश के राजत्वकाल में थी। प्राचीन संस्कृति का यह पुनरुत्थान या पुनर्जागृति सूङ् वंश (९६०-१२७९ ई०) के शासन-काल में शुरू हुई। कन्फ्यूशियस के नये दर्शन में उपेक्षित तत्त्वमीमांसा का भी समावेश हुआ; यह मुख्यतः बौद्ध धर्म का प्रभाव था। बाद में योरप के सम्पर्क से भी चीनी संस्कृति क्रमशः ऐहलौकिक बनती गई है। इस समय चीन के दार्शनिक तथा विचारक खुले जी से योरपीय विज्ञान तथा ऐहलौकिकता का स्वागत कर रहे हैं। ईसाई धर्म का भी प्रभाव पड़ा है, यद्यपि उसके अनुयायियों की संख्या कम ही है।

इन चार युगों में, दर्शन की दृष्टि से, अन्तिम तीन युग ही महत्त्वपूर्ण हैं। अंग्रेजी भाषा में चीनी दर्शन का कोई पूर्ण इतिहास उपलब्ध नहीं है यद्यपि दो-तीन अपूर्ण विवरण पाये जाते हैं। लेखक को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि श्री राहुल सांकृत्यायन के "दर्शन दिग्दर्शन" में चीनी दर्शन का एकदम उल्लेख नहीं है। चीनी दर्शन का अधोलिखित विवरण, जिसका आधार फुङ् यु-लान कृत "अ हिस्टरी ऑफ़् चाइनीज़ फिलासफ़ी" (१०० ई० पू० तक), 'चाइनीज फिलासफ़ी इन् क्लासिकल टाइम्स" (एवरी मैन), लिन्

युटेङ् कृत "चाइनीज़ विज़डम", मैक्गवर्नकृत "ऐन इण्ट्रोडक्शन टु महायान बुद्धिज़्म", "चाइना" आदि ग्रन्थ हैं, संक्षिप्त होने के साथ अधूरा भी है।

चीनी दर्शन की विशेषतायें

भारतीय तथा योरपीय दर्शन के विद्यार्थियों को चीनी दर्शन कुछ निराला जान पड़ता है। एक प्रकार से कहें तो चीनी दर्शन को दर्शन नाम देना ही समुचित नहीं प्रतीत होता। स्वयं चीनी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि उनका दर्शन व्यवस्थित चिन्तन-पद्धतियों का रूप नहीं ले सका। दर्शन का प्राण तर्कशास्त्र एवं ज्ञान-मीमांसा है। ज्ञान का स्वरूप क्या है और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, ज्ञान के साधन क्या हैं और उसका प्रामाण्य कहाँ है, ये प्रश्न दर्शन के अन्तरंग प्रश्न हैं; इन पर विचार किये बिना दर्शन की प्रगति संभव नहीं है। प्रमाण-परीक्षा अथवा ज्ञानमीमांसा के अभाव में दर्शन वह यौक्तिक प्रौढ़ता नहीं प्राप्त कर सकता जो उसे धार्मिक विश्वासों से जुदा करती है।

भारतीय तथा योरपीय दर्शन की तुलना में चीनी दर्शन अधिक व्यावहारिक है। योरपीय दर्शन का मुख्य ध्येय है विश्व की व्याख्या, ऐसे तत्व या तत्वों की खोज जिनके आधार पर विश्व की विविधता को समझा जा सके। भारतीय दर्शन का ध्येय भी विश्वतत्त्व अथवा चरम तत्त्व के स्वरूप का अनुसन्धान था यद्यपि उसका अन्तिम लक्ष्य पूर्णत्त्व की प्राप्ति था। इसके विपरीत चीनी दर्शन का ध्येय ऐहलौकिक श्रेय का सम्पादन है। चीनी दर्शन की मुख्य समस्या यह है—कैसे हम अपने जीवन को, इस लोक के जीवन को, सफल और ऊँचा बनायें? चीनी दर्शन केवल उस ज्ञान को खोजता है, जो इस प्रकार के जीवन को प्राप्त करने में सहायक हो सके। चीनी दर्शन की इसी विशेषता को मन में रखते हुये फुङ्-यु-लान् ने लिखा

है कि भारतीय तथा पश्चिमी दर्शन की तुलना में चीनी दर्शन का स्थान साधारण-सा है।*

चीनी विचारक ज्ञान को अपने में ध्येय नहीं समझते थे; ज्ञान जीने के लिये है, जीने की कला ही ज्ञान है। चीनी मान्यता के अनुसार महापुरुष दो प्रकार के हैं, एक "भीतरी सन्त," वह पुरुष जिसने धार्मिकता (आध्यात्मिकता) को अपने भीतर प्रतिष्ठित कर लिया है और दूसरे "बाहरी सम्राट्" अर्थात् वह व्यक्ति जो सामाजिक रंग-मंच पर बड़े काम अनुष्ठित करता है। इन दोनों के ही ऊपर उस महापुरुष का स्थान है जो आन्तरिक धर्म-वृत्ति के साथ लोक पर शासन करने की क्षमता भी रखता है। यह आदर्श प्लेटो के "दार्शनिक शासक" के आदर्श से समता रखता है। चीन में प्रायः विचारक दार्शनिक लोक-शासक बनने का प्रयत्न करते थे, जिससे वे जनता को अपने मार्ग पर चला सकें। जो दार्शनिक राज्य-शक्ति नहीं प्राप्त कर सकते थे वे ही अपने विचारों को लिखित रूप में व्यक्त करने की चेष्टा करते थे। चीन में कोरे बौद्धिक ज्ञान को, जिसका व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध नहीं है, विशेष महत्व नहीं दिया गया। एक व्यक्ति बिना बौद्धिक ज्ञान के भी सदाशय सन्त बन सकता है।

चीनी चिन्तन की ये विशेषतायें जो पुराने पैमानों से कमियाँ कही जा सकती हैं, आधुनिक पैमानों से अधिक महत्वशालिनी हो गई हैं। बात यह है कि आधुनिक विचारकों को इस बात में कम विश्वास रह गया है कि दर्शन शास्त्र विभिन्न विज्ञानों से अलग किसी चरमतत्व की खोज कर सकता है। तर्कमूलक भाववादी (Logical Positivists) आज इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि वास्तविकता अथवा तत्व पदार्थ को समझने का एक-मात्र साधन वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली है, दर्शन को इस क्षेत्र में दखल नहीं देना चाहिये। दर्शन का एक-मात्र काम हमारे विचारों का स्पष्टीकरण है। हम शब्दों तथा धारणाओं का

* अ हिस्टरी ऑफ चाइनीज़ फिलासफी, भूमिका, पृ० १

वैज्ञानिक ढंग से सही प्रयोग करें और न समझे हुये शब्दों एवं आदर्शों के जाल में न फँस जायँ, इसके लिये ही दार्शनिक चिन्तन की अपेक्षा है। ईश्वर, आत्मा आदि के सम्बन्ध में कभी वैज्ञानिक चिन्तन हो ही नहीं सकता, अतः उनके सम्बन्ध में प्रश्न उठाना एक निरर्थक व्यापार है। भाववादियों का विचार है कि दर्शन-ग्रन्थों में पाये जाने वाले अधिकांश वाक्य निरर्थक होते हैं और अधिकांश दार्शनिक वाद-विवाद भी अर्थहीन रहते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "द विज़डम आफ़ चाइना" में चीनी लेखक लिन् युटेङ् ने चीनी चिन्तन की व्यावहारिकता की प्रशस्ति और योरपीय दर्शन की अतितार्किकता का उपहास किया है।

अब हम चीनी दर्शन के तीन युगों का क्रमशः वर्णन करेंगे; चीनी इतिहास का पहला युग दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है।

चीनी दर्शन का प्रथम युग

यह युग चीनी दर्शन का प्रधान सृजनशील युग है। चीनी दर्शन या विचारधारा की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का जन्म इस युग में हुआ। कन्फ्यूशियस इस कालावधि का सब से प्रभावशाली विचारक है, किन्तु लाउत्सी का रहस्यवादी दर्शन भी इसी में उत्पन्न हुआ। इस युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ मानववाद, बुद्धिवाद एवं ऐहलौकिकता हैं। परलोक में रुचि नहीं है, न तत्त्वदर्शन में; चिन्तन का केन्द्र मानव-जगत है। चीनी संस्कृति विद्वानों का विशेष आदर करती है। प्राचीन काल से वहाँ परीक्षाओं द्वारा शासकों का चुनाव होता आया है। इसका सुफल यह हुआ कि वहाँ राजशक्ति कभी जाति-विशेष या वर्ग-विशेष की बपौती नहीं बनी। 'सारी मानवता का भार विद्वान् या पंडित के ऊपर है,' कन्फ्यूशियस ने कहा। विद्वान् के सामाजिक दायित्व की यह धारणा खास तौर से चीनी चीज़ है। हमारे देश में समझा जाता था कि विद्यावान् का मुख्य

कार्य अपनी मुक्ति का सम्पादन है। कन्फ्यूशियस तथा उसके शिष्य मेन्शियस ने दुष्ट शासकों के विरुद्ध विद्रोह की शिक्षा भी दी।*

अब हम इस युग के विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का दिग्दर्शन कराने का यत्न करेंगे।

कन्फ्यूशियस (५५१-४७९ ई० पू०)

जैसा कि हमने संकेत किया इस युग के, और संपूर्ण चीनी इतिहास के, दार्शनिकों में कन्फ्यूशियस का नाम अन्यतम है। यह उल्लेखनीय बात है कि इस महान् शिक्षक के जन्म से प्रायः दस-बारह वर्ष पूर्व भारतवर्ष में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। उस समय यह कौन कह सकता था कि चीन की सांस्कृतिक भूमि में इन दोनों महापुरुषों की शिक्षाओं का सम्मिलन एवं समन्वय होगा!

स्वयं कन्फ्यूशियस का कहना था कि मैं कोई नई चीज़ नहीं दे रहा हूँ अपितु प्राचीन मनीषियों की शिक्षाओं को ही दुहरा रहा हूँ। इसी प्रकार बुद्ध जी भी अपने को प्राचीन आर्य सत्यों की घोषणा करनेवाला समझते थे। उल्लेखनीय यह है कि कन्फ्यूशियस एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक अन्वेषक एवं प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादक था। उसका व्यक्तित्व यूनानी शिक्षक सुकरात से मिलता-जुलता था। कन्फ्यूशियस ने अपनी शिक्षाएँ सूत्रों अथवा सूक्तियों के रूप में दी हैं जिनमें से कुछ हम नीचे देंगे। कन्फ्यूशियस की शिक्षाएँ मुख्यतः नैतिक एवं राजनैतिक हैं, धार्मिक और दार्शनिक नहीं। यों उसका विश्वास था कि विश्व का चरम तत्त्व द्यु (Heaven) या ऊर्ध्वशक्ति है। इस शक्ति की अनुरूपता में व्यापृत होना ही वास्तविकता (Reality) अथवा वास्तविक होना है। यह सिद्धान्त प्लेटो के इस मन्तव्य के समान है कि जातिप्रत्ययों के अंशभोग द्वारा वस्तुएँ यथार्थ बनती हैं। कन्फ्यूशियस के नैतिक आदर्श ऊँचे हैं। वह और उसका शिष्य मेन्शियस मानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं, भला है क्योंकि उसमें ऊर्ध्वशक्ति क अंश है।

* दे० "चाइना," अध्याय १२

नीचे हम कन्फ्यूशियस की कुछ सूक्तियाँ देते हैं। इन सब के पहले पाठक अपनी ओर से जोड़ लें—"कन्फ्यूशियस ने, अथवा महामुनि कन्फ्यूशियस ने, कहा।"

'श्रेष्ठ व्यक्ति में तीन चीजें होती हैं जिन्हें मैं नहीं पा सका हूँ। सच्चे आदमी को चिन्तायें नहीं होती, विवेकी व्यक्ति परेशान नहीं होता, वीर पुरुष को भय नहीं होता।' इस पर शिष्य ने कहा:—'मुनिवर! आप ठीक अपना वर्णन कर रहे हैं।'

'क्या तुम समझते हो कि मैं बहुत कुछ जानता हूँ? मैं नहीं जानता। एक अपढ़ व्यक्ति ने मुझसे एक प्रश्न किया, मैं उत्तर न दे सका। मैंने प्रश्न के पक्ष और विपक्ष की पुष्टि करने वाले तर्कों को रख दिया; इसके आगे मेरी बुद्धि की गति न थी।'

'चुपचाप सत्य का अनुचिन्तन करना, लगातार सीखते और सिखाते रहना—यह मेरा स्वभाव हो गया है।'

'मुझे निम्न बातों की चिन्ता रहती है—कहीं मैं अपने चरित्र को ऊँचा बनाते रहने में शिथिलता न करूँ; कहीं मैं अध्ययन की ओर से प्रमाद न करूँ; कहीं, सही रास्ते को देखते हुये, मैं उस पर चलने से न रुक जाऊँ।

'मैं एक अच्छे आदमी को पहचान लेता हूँ और उसे उदाहरण बना कर चलने की कोशिश करता हूँ, मैं एक बुरे आदमी की ओर देखता हूँ और उसके समान न होने की कोशिश करता हूँ।'

'मैं उसे कभी नहीं सिखाता जो सीखने को उत्सुक नहीं है। मैं उसे कभी नहीं समझाता जिसमें यह आकांक्षा नहीं कि तथ्यों को अपने लिये स्पष्ट कर ले।

'मेरे एक-चौथाई समझा देने पर जो व्यक्ति स्वयं जाकर तीन-चौथाई के बारे में नहीं सोचता उसे सिखाने की मुझे फ़िर इच्छा नहीं रहती।'

कन्फ्यूशियस चार चीज़ें सिखाते थे:—

साहित्य, व्यक्तिगत चारित्र्य, अपने प्रति सच्चा होना और सामाजिक सम्बन्धों में ईमानदार होना।

'चार चीजों से बचना चाहिये:—

निराधार सम्मतियां बना लेना; कट्टरता; संकीर्णदृष्टिता; और अहंकार। 'स्वर्ग और पृथ्वी की आत्माओं का आदर करो, लेकिन उनसे दूर रहो।'

'मैं कितना भाग्यशाली हूँ; ज्यों ही मैं कोई भूल करता हूँ कि लोग उसे जान जाते हैं!'

'एक भूल करके जो मनुष्य उसे सुधारता नहीं, वह दूसरी भूल करता है।'

किसी ने पूछा, "कहा जाता है कि बुराई के बदले भलाई करो, इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?" कन्फ्यूशियस ने उत्तर में कहा—'तब फिर आप भलाई का बदला किस प्रकार करेंगे? अच्छाई का बदला अच्छाई से दो, बुराई का बदला न्याय (दण्ड) से दो। अच्छाई के बदले अच्छाई करने से लोगों को भलाई करने का प्रोत्साहन मिलता है, बुराई के लिये दण्ड देने से लोग बुराई करने से विरत होते हैं।'

'मैंने ऐसा व्यक्ति अभी तक नहीं देखा जो अपने दोषों को जानता है और उनके लिये खुद अपने को दोषी ठहराता है।'

'हम अभी जीवन के बारे में ही नहीं जानते, मृत्यु के बारे में कैसे जान सकते हैं?'

'हम अभी मनुष्य की सेवा करना ही नहीं जानते फिर देवताओं की सेवा करना कैसे सीख सकते हैं?'

'दूसरों के साथ वैसा व्यवहार न करो जैसा कि तुम उनसे अपने प्रति नहीं कराना चाहते।'

'जो व्यक्ति सच्चा (ईमानदार) नहीं है वह बहुत दिनों तक ग़रीबी का सहन नहीं कर सकता, वह बहुत दिनों तक सम्पत्ति का भी सहन (सदुपयोग) नहीं कर सकता।'

'बड़े पुरुष की सेवा करना सरल है, उसे प्रसन्न करना कठिन।'

'क्षुद्र पुरुष घमंडी होता है, गौरववान् नहीं।'

'स्वर्ग (अलौकिक चरम तत्व) का स्वभाव है वास्तविक होना, मनुष्य का स्वभाव है वास्तविक बनते जाना। वास्तविक (तात्विक) बनते जाने का अर्थ है श्रेय को पसन्द करना और उसे पकड़े रहना।'

'अच्छे कुल का व्यक्ति मध्य मार्ग का अवलम्बन करता है; हीन कुल का व्यक्ति इसका उलटा होता है।' (मतलब यह है कि अति से बचना चाहिये।)

'यदि मनुष्य सदाशय नहीं है तो उसकी शिष्टता किस काम की ? श्रेष्ठ व्यक्ति अपनी भावनाओं के अनुसार काम करता है, कपटी व्यक्ति दूसरों की भावनाओं के अनुसार।'

* * * *

कन्फ्यूशियस का सबसे प्रसिद्ध अनुयायी मैन्शियस हुआ। उसका समय ३७२-२८६ ई० पू० समझना चाहिए। उसके समय में **"सौ संप्रदाय"** प्रचलित थे जिनके विरोध में उसने कन्फ्यूशियस के मन्तव्यों की पुनः प्रतिष्ठा की। इनमें से कुछ के मन्तव्यों का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।*

(१) येङ् चू की प्रधान शिक्षा यह थी कि प्रत्येक मनुष्य को अपने लिये जीवित रहना चाहिए। वस्तुओं का महत्त्व नहीं, जीवन का महत्त्व है। व्यक्ति को बाहरी वस्तुओं में नहीं फँसना चाहिए। गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर वस्तुएँ असार लगती हैं, जीवन ही महत्त्वपूर्ण है। श्रेष्ठ लोग संसार से विरक्त रहते हैं। इस जीवन-दर्शन का अधिक विकसित रूप लाउत्सी में मिलता है।

(२) चेन् चुङ् त्सू—यह दूसरा व्यक्तिवादी विचारक था। मन का निग्रह, आत्मकेन्द्रितता और अहंकार, दूसरों से भिन्न (निराला) होने में महत्त्व मानना—ये उसकी विशेषताएँ थीं।

(३) काउ त्सू और दूसरे—भोजन और काम में अभिरुचि मनुष्य का स्वभाव है। जो जन्म से है वही मानव-प्रकृति है। बल-

***चीनी दर्शन का इतिहास, अध्याय ७**

पूर्वक प्रवृत्तियों को दबा कर शान्ति लाभ करना चाहिए। धर्म बाहरी है, मानव-प्रकृति का अंग नहीं।

(४) यिन् बेन् और सुङ् केङ्—प्रचलित फैशनों और सम्मतियों की पर्वाह न करना; अपनी चीज़ों का प्रदर्शन न करना; द्वेष न करना; सर्वत्र शान्ति चाहना; अनावश्यक संग्रह न करना। ये लोग शान्तिवादी थे, शस्त्रीकरण के विरुद्ध। सहनशीलता के पक्षपाती। अनादर सह लो, ताकि झगड़ा न हो।

(५) पेङ् मेङ्, शेन् टाउ आदि—निष्पक्ष होना, आराम से जीना, निःस्वार्थ होना। ज्ञान व्यर्थ है, अहन्ता त्याज्य है। महत्त्वाकांक्षा फ़िजूल है। कर्मठ लोग इन सिद्धान्तों की हँसी उड़ाते थे।

शेन् टाउ उनकी हँसी उड़ाता था जो प्राचीन शिक्षकों तथा धर्मशील व्यक्तियों को महत्त्व देते थे। न जानना ही ज्ञान है।

(६) सू येन, यिन्, येङ् इत्यादि– ये विचारक भौतिकशास्त्र के प्रेमी थे और विश्व को पाँच तत्त्वों या शक्तियों का खेल समझते थे। इन शक्तियों का क्रमश उत्थान-पतन होता है। प्रत्येक शक्ति के उदय और तिरोधान या पतन की अवधि निश्चित है। जल, अग्नि, काठ, धातु, पृथ्वी ये तत्त्व हैं।

जल आर्द्रता और निम्न गति का, अग्नि जलाने और ऊर्ध्वगति का हेतु है। काठ का स्वभाव टेढ़ा और सीधा होना है, धातु का मुड़ना तथा विभिन्न आकार लेना, पृथ्वी का बोने-पकने में मदद करना।

लाउत्सी (५७० ई० पू० –?)

प्रसिद्ध विद्वान और लेखक लिन् यु टेङ् के मत में चीन का सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षक या विचारक लाउत्सी है। * वह "टाउ" मत का प्रवर्त्तक है। इस मत की प्रसिद्ध पुस्तक "टाउ टे चिङ्" है। लाउत्सी के विचार प्रायः विरोधाभासों (विरोध-मूलक सूक्तियों) के रूप में व्यक्त किये गये है।

* दे० चाइनीज़ विज़डम, पृ० २३।

"टाउ" मत❀ कन्फ्यूशियस का घोर विरोधी है। कन्फ्यूशियस का नैतिक आदर्शवाद और उसका आधारभूत दर्शन—इनकी "टाउ" के अनुयायियों ने कड़ी आलोचना की है। विश्व अथवा विश्वतत्त्व को नैतिक नहीं कहा जा सकता, वह न मंगल-रूप है न अमंगल-रूप। वह प्राणि-जगत के प्रति पूर्णतया उदासीन है। द्यु और पृथ्वी (चीन के सर्वोच्च देवता) मनुष्यों के प्रति उन्हें घास-पात और पशुओं जैसा मानकर व्यवहार करते हैं, अर्थात् पूर्ण उपेक्षा का। विश्व नैतिक नहीं है, मनुष्य के लिये भी वैसा होना आवश्यक नहीं। मनुष्य को (श्रेष्ठ शासक को) नीति (पाप-पुण्य) से परे होना चाहिए।

"टाउ" का अर्थ है, मार्ग। विश्व का स्वाभाविक मार्ग अनैतिक है, वही मनुष्य का मार्ग भी है। अच्छाई-बुराई के प्रभेद आपेक्षिक हैं। टाउ की प्रमुख शिक्षा है, अकर्मण्यता की शिक्षा। टाउ कुछ नहीं करता, अतः वह सर्वसशक्त है। किसी पर अपने विचार न लादो, विनयी बनो, भोले बनो। हस्तक्षेप न करो। लाउत्सी ने अनावश्यक व्यस्तता एवं महत्त्वाकांक्षा के विरुद्ध उपदेश दिया है। अनासक्ति और वैराग्य, जीवन की कशमकश के प्रति उपेक्षाभाव, यही लाउत्सी की शिक्षा का सार है।

टाउ मत का तत्त्वदर्शन भी है। "टाउ" स्वयंभू है (उसने एक को, अपने को, उत्पन्न किया।) एक से दो सृष्ट हुए, यिन् और येङ्। दो से तीन—द्यु या आकाश, पृथ्वी और मनुष्य। तीन से अशेष वस्तुएँ उत्पन्न हुईं।

रहस्यवादी "टाउ" मत की प्रमुख शिक्षा कर्मों से विरत होने, सब कुछ से (मृत्यु से भी) सन्तुष्ट होने, सुख-दुख में अनासक्त होने की शिक्षा है। सभ्यता अनिष्टकर है, स्वाभाविक गति में बाधा-रूप है।

नीचे हम लाउत्सी की कुछ सूक्तियाँ देते हैं। *

❀ दे० चाइना, अध्याय १७

* दे० लिन् युटेङ् कृत "चाइनीज़ विज़डम"

'दुनिया में कहीं सर्वप्रथम न बनो।'

'बड़ी-से-बड़ी चतुराई मूर्खता है, उच्च कोटि की वाग्मिता मानो तुतलाहट है।'

'जो जितनी ही अधिक ज्ञान की खोज करता है वह उतना ही कम जानता है।'

'जो जानता है, वह कहता नहीं; जो कहता है वह जानता नहीं।'

'जिस "टाउ" के बारे में कुछ कहा जा सकता है वह निरपेक्ष "टाउ" (तत्त्व) नहीं है।'

'श्रेष्ठ पुरुष बिना क्रिया किये अपना काम पूरा करता है, बिना शब्दों के अपने सिद्धान्त का उपदेश करता है। वह किसी बात का श्रेय नहीं चाहता, इसलिये उससे श्रेय छीना नहीं जा सकता।'

'ज्ञानी पुरुष को ऊँचे (शासक के) पद पर न बिठाओ, ताकि लोग षड्यन्त्र और संघर्ष न करें।'

'दुर्लभ वस्तुओं की क़दर मत करो, ताकि लोग चोरी न करें। आँखों के सामने स्पृहणीय वस्तुओं को न आने दो ताकि लोगों के हृदय में हलचल न हो।'

'विश्व चिरन्तन है, कारण यह है कि वह अपने लिये नहीं जीता। इसीलिये वह अनन्त समय तक बना रहेगा। इसीलिये श्रेष्ठ पुरुष अपने को अन्त में रखता है किन्तु कालान्तर में वह सबसे पहले स्थान पाता है; वह अपने शरीर की चिन्ता नहीं करता, इसलिये उसका शरीर सुरक्षित रहता है। क्योंकि वह अपनी आत्मा के लिये नहीं जीता, इसीलिये उसकी आत्मा पूर्णता प्राप्त करती है।'

'पाँच रंग मनुष्य की आँखों को अन्धा बना देते हैं; पाँच स्वर कानों को बहरा, पाँच रस स्वादेन्द्रिय को विकृत कर देते हैं। घुड़दौड़ और मृगया मस्तिष्क को पागल बनानेवाली हैं।'

"टाउ" कुछ नहीं करता, किन्तु सब-कुछ उसी के द्वारा किया जाता है। यदि राजा और शासक "टाउ" का पालन करें तो यह दुनिया अपने आप सुधर जाये।'

'ज्ञानार्थी नित्य ज्ञान सम्पादन करता है। "टाउ" का अन्वेषी नित्य खोता जाता है। नित्य खोने से कर्मों से मुक्ति मिलती है; कुछ न करने से सब कुछ किया जाता है।'

* * * *

ज्वाङ् जू (ज० ३६९—ई० पू०)

लाउत्सी का सबसे प्रसिद्ध अनुयायी ज्वाङ् जू था। उसका समय ३६९-२८ ई० पू० समझना चाहिए। उसने लाउत्सी के मत की पुनः प्रतिष्ठा की। यह विचारक भी "टाउ" को विश्व का मूलतत्त्व मानता है। "टाउ" में किसी प्रकार की क्रिया या आकृति नहीं है। इसे प्राप्त किया जा सकता है, पर देखा नहीं जा सकता। वह स्वयंभू और अपने में अस्तित्ववान् है। 'टाउ' विश्व का कारण है, उसे ऊपर, नीचे आदि विशेषणों से विशेषित नहीं किया जाता। ज्वाङ् जू के मत में विश्व की वस्तुएँ अनवरत परिवर्तित होती रहती हैं।

कहीं-कहीं ज्वाङ् जू का लाउत्सी से मतभेद भी है। यह विचारक संदेहवादी है। लाउत्सी ने नैतिकता के आधार को अस्वीकार किया था, ज्वाङ् जू ज्ञान (प्रमा) के आधार को भी अस्वीकार करता है। वाणी कभी सत्य को सम्पूर्णता से प्रकट नहीं कर सकती। जो आज सत्य माना जा रहा है वह कल को मिथ्या नहीं माना जायगा इसका क्या निश्चय है।*

'टाउ' मत की मुख्य शिक्षा यही है कि मनुष्य को विश्वब्रह्मांड से एकता का अनुभव करते हुए संतुष्ट रहना चाहिए। हर दशा में संतोष, यही रहस्यवादी 'टाउ' का मूल मंत्र है। जीवन की सफलता

* चाइना, पृ० २७९

और असफलता विशेष महत्त्व नहीं रखती। स्टोइको के जीवन-दर्शन से अधिक यह मत स्पिनोज़ा की जीवन-दृष्टि से समानता रखता है।

तर्कवाद

चौथी शताब्दी ई० पू० में एक ह्विसि: नामक विचारक हुआ, वह बड़ा तार्किक था। चीन के विचारकों में ज्वांग जू (Chuanj Chau) का स्थान अन्यतम है; उसने ह्विसि: के बारे में लिखा है कि 'वह मेरा लायक प्रतिपक्षी है।' ह्वि सि: का एक प्रसिद्ध शिष्य 'कुङ सुन्लुङ' था उसका श्वेत-अश्व सम्बन्धी प्रवचन बहुत प्रसिद्ध है। यह प्रवचन चीनी मस्तिष्क की तार्किकता का द्योतक है।

नीचे हम इसका अंश देते हैं।*

प्रश्न—आप कहते हैं कि सफेद घोड़ा घोड़ा नहीं है, क्या यह युक्ति-संगत है?

उत्तर—हाँ।

प्र० कैसे?

उ०—घोड़ा शब्द द्वारा विशिष्ट शरीर-रचना का संकेत किया जाता है जब कि सफेद वर्ण का वाची है। वर्ण को नाम देने का अर्थ आकृति को नाम देना नहीं है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि सफेद घोड़ा, घोड़ा नहीं है।

प्र०—श्वेत घोड़ों का अस्तित्व रहते हुये यह कहना संभव नहीं कि घोड़े नहीं हैं। इसीलिये यह कहना युक्त नहीं कि सफेद घोड़ा घोड़ा नहीं है। यदि आप यह मानते हैं कि सफेद घोड़े हैं, तो आप यह कैसे कह सकते हैं कि वे घोड़े नहीं हैं।

उ०—यदि तुम्हें घोड़े की अपेक्षा है, तो काले, पीले घोड़े से काम चल सकता है। किन्तु यदि तुम्हें सफेद घोड़े की अपेक्षा है, तब काले या पीले घोड़े से काम नहीं चल सकता। यदि घोड़ा और सफेद घोड़ा

* चाइनीज़ फिलासफ़ी० (एवरीमैन), अध्याय १०

एक ही चीज़ है तो यह कैसे होता है कि घोड़े की अपेक्षा करते हुये तुम्हारा कभी सफेद घोड़े से काम चलता है कभी नहीं।

* * * *

मो तिः या मोत्सू (चतुर्थ शताब्दी ई० पू०)❀

यह विचारक कन्फ्यूशियस की मृत्यु के कुछ ही काल बाद उत्पन्न हुआ था। उसके मत को धार्मिक उपयोगितावाद कहा गया है। उसके अनुयायी बड़े संगठित ढंग से रहते थे। मो तिः युद्ध का कट्टर विरोधी (शान्तिवादी) था। उसके कुछ विचार नीचे दिये जाते हैं।

जो ऊपर की शक्ति (Heaven) चाहती है वही कर्तव्य है। ऊपर की शक्ति क्या चाहती है? सबका समान रूप में कल्याण। (हवा, ताप, भोजन आदि सबके लिये हैं।)

ऊपर की शक्ति उन्हें सुख देगी जो सब को प्यार और सब का भला करते हैं; दूसरों को घृणा करनेवाले और कष्ट पहुंचाने वाले दंडित होंगे।

समाज में धार्मिक लोगों को अधिकार मिलना चाहिए। विवेकी और सज्जन पुरुष अवश्य ही बुरों को दंडित और भलों को पुरस्कृत करेंगे।

शक्ति पर आधारित राज्य में क्या होगा? वहाँ बड़े छोटों को और शक्तिधारी दुर्बलों को कष्ट पहुंचाएँगे।

युद्धोद्यत देश की दशा का विचार करो। वह ग्रीष्म में गर्मी से डरता है, शिशिर में जाड़े से। अतः ये ऋतुएँ युद्ध के लिये ठीक नहीं। बसन्त? उस समय लड़ने से खेतों में बुवाई कैसे होगी?....युद्ध में कितने मर जाएँगे जो कभी न लौटेंगे। कितने भारवाही पशु मरेंगे। लोग यश और लाभ के लिये लड़ते हैं। वस्तुतः विजय खोखली होती है, लाभ वास्तव में हानि होती है।

❀चाइनीज़ फिलासफी इन् क्लासिकल टाइम्स (एवरी मैन), पृ० ४२ तथा आगे।

मितव्ययी बनो।

अव्यवस्था तब उत्पन्न होती है जब राज्य के पदों पर योग्य व्यक्तियों को नहीं बिठाया जाता।.......यदि तुम चाहते हो कि देश में अच्छे धनुर्धारी तथा अन्य क्षेत्रों में कुशल व्यक्ति बढ़ें तो ऐसे लोगों की कदर करो, उनकी आदर-प्रशंसा करो, उन्हें धन-सम्पत्ति दो।

प्राचीन धार्मिक शासकों का नियम था—उनके राज्य में अधर्मी लोग धन, मान और राज्य की कृपा नहीं पाएँगे। इसी कारण उस समय धनी तथा उच्च लोग धर्म-पूर्वक रहते थे।

चीनी दर्शन का मध्ययुग

जैसा कि हम कह चुके हैं मध्ययुग (२२१ ई० पू० से ६०६ ई० तक) में चीन में बौद्ध धर्म पहुँचा और प्रतिष्ठित हुआ; इस कालावधि में "टाउ" मत का प्रभाव भी बढ़ा। इन दोनों सम्प्रदायों ने एक-दूसरे को प्रभावित भी किया।

बौद्ध धर्म का प्रथम प्रवेश संभवतः प्रथम शती ई० में हुआ। चीन में उसका अच्छा स्वागत हुआ होगा इसका एक प्रमाण यह है कि २२० ई० तक प्रायः तीन-सौ पचास बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हो गया था। अनुवादकर्ता भारत तथा मध्य एशिया के भिक्षु थे। सन् ३८१ ई० तक उत्तर-पश्चिम चीन के नब्बे प्रतिशत निवासी बौद्ध बन चुके थे।* सन् ३८३ ई० में महायान शिक्षक कुमार-जीव चीन पहुँचा। सन् ३९९-४१४ में फ़ाहियान नामक चीनी यात्री भारत में उपस्थित था।† सम्राट् हर्षवर्धन के राजत्व काल में ह्वेनसांग ने भारत की यात्रा की थी। ये यात्री मुख्यतः बौद्ध ग्रन्थों की खोज में आये थे। पाँचवी सदी ई० के प्रारंभ में चीन में पहले बौद्ध सम्राट् का शासन हुआ। हजेज़ का कहना है कि छठवीं से दसवीं सदी ई० तक

* चाइना, पृ० २६१

† दे० राल्फ़ टर्नर, द ग्रेट कल्चुरल ट्रेडिशन्स, भाग २, (१९४१) पृ० ८४०-४२

बौद्ध धर्म चीन का प्रधान धर्म था।❀

सुङ् वंश (६६०-१२७६) के राजत्व में चीनी ललितकला, विशेषतः चित्रकला, बौद्ध धर्म से विशेष प्रभावित हुई। मंगोल शासकों, कुबलाई खाँ तथा उसके उत्तराधिकारियों ने, बराबर बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन दिया (१३-१४वीं शताब्दियों में); ये शासक बौद्ध धर्म के तिब्बती रूप के प्रेमी थे। मिङ् के समय (१३६८-१६४४ ई०) में चीन में पुनः कन्फ्यूशियस के सम्प्रदाय का महत्त्व बढ़ गया।

चीन में पहुँचकर बौद्ध सम्प्रदाय, धर्म और दर्शन दोनों रूपों में, स्वतंत्र रूप में विकसित हुआ। वहाँ बौद्ध धर्म का महायान रूप ही प्रतिष्ठित हुआ, हीनयान नहीं। भारतीय महायान के अन्तर्गत दो दार्शनिक सम्प्रदाय आते हैं, योगाचार का विज्ञानवाद और माध्यमिक का शून्यवाद। चीन (तथा जापान) में पहुँच कर इन दोनों के मूल रूप में परिवर्तन होने लगा।

भारतीय महायान सम्प्रदायों में दृश्यमान जगत के आधारभूत चरमतत्त्व का स्वरूप और स्थिति स्पष्ट नहीं है। माध्यमिक विश्व-प्रपंच के अशेष रूपों को निःस्वभाव (स्वतंत्र आत्म या अस्तित्व-शून्य) घोषित करता है, किन्तु इन रूपों के पीछे कोई ध्रुव, स्वभाव-संपन्न तत्त्व है या नहीं, इस संबंध में उसका मन्तव्य स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार योगाचार मत में भी विज्ञानप्रवाह से भिन्न कोई तत्त्व है या नहीं इसका स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता।

मैकगवर्न* के अनुसार प्राचीन चीनी महायान के प्रमुख सम्प्रदाय तेंदाइ (Tendai) और केगान (Kegon) हैं। इनमें चरम (निरपेक्ष) तत्त्व का विशद विवेचन है। इस तत्त्व पदार्थ की उपमा समुद्र से दी गई है। यह तत्त्व 'सत्' और 'भाव या होना' दोनों से भिन्न है। समुद्र

❀चाइनीज़ फिलासफी (एवरीमैन), भूमिका, पृ० १५

* दे० एन् इण्ट्रोडक्शन टु महायान बुद्धिज़्म, भूमिका, पृ० २४ तथा आगे। (१६२२ संस्करण)

में जैसे तरंगें उठती हैं वैसे चरमतत्त्व में विश्व के विवर्त उत्थित होते हैं। निरन्तर उठने वाली लहरों के बावजूद समुद्र में एक प्रकार की स्थिरता रहती है। यह चरमतत्त्व (भूततथता) परिवर्त्तमान प्रपंच के पीछे विद्यमान शक्ति है, वह परिवर्त्तन या विकास की प्रक्रिया भी है।

विश्वतत्त्व प्रपंच से भिन्न भी है और अभिन्न भी, जैसे समुद्र तरंगों से।

प्रत्येक बुद्ध के तीन शरीर होते हैं, धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय। भूततथता एक प्रकार का सार्वभौम या चरम "बुद्ध-तत्त्व" है, उसके भी तीन शरीर हैं। धर्मकाय विश्व का निर्वैयक्तिक नियम-प्रवाह (Order) है; संभोगकाय नैतिक पूर्णता का आदर्श है, अलौकिक, भक्ति का विषय; निर्माणकाय मनुष्य का रूप धारण करनेवाले बुद्ध हैं।

परवर्त्ती चीनी (तथा जापानी) बौद्ध धर्म के तीन मुख्य संप्रदाय हैं, शिंगान या मंत्र-सम्प्रदाय, ज़ेन या ध्यान-संप्रदाय, जोदो या सुखावती-संप्रदाय। ये सम्प्रदाय दार्शनिक से अधिक धार्मिक और रहस्यवादी हैं।

मंत्र-सम्प्रदाय तिब्बत और मंगोलिया में भी प्रचलित है। इस सम्प्रदाय के अनुसार सम्पूर्ण सत्य या चरम रहस्य वाणी का विषय नहीं है, वह अधिकारी साधकों पर ही प्रकट होता है। चरमतत्त्व की विभिन्न छवियाँ ही बुद्ध और बोधिसत्त्व हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना वर्ण, रूप, नाम और चिह्न है। भूततथता को वैरोचन अथवा आदित्य बुद्ध कहकर वर्णित किया जाता है।

ध्यान-सम्प्रदाय दूसरे प्रकार का रहस्यवाद है। चरम तत्त्व वाणी तथा सब प्रकार के चिह्नों (Symbols) से परे हैं अतः सारे निरूपित सिद्धान्त अपूर्ण हैं। समस्त पुस्तकें, सारे उपदेश तत्त्व-निर्देश में अक्षम हैं। सब सिद्धान्त आपेक्षिक हैं। ध्यान-संप्रदाय का एक मात्र निश्चित मन्तव्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य में बोधिचित्त (ज्ञान या तत्त्वदर्शन

में सत्तम चित्त) है, प्रत्येक मनुष्य सुप्त बुद्ध है; ध्यान द्वारा सुप्त बोधिचित्त को जगाया जा सकता है और चरमतत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह संप्रदाय चीन में छठवीं और जापान में बारहवीं शती में प्रतिष्ठित हुआ।

सुखावती संप्रदाय में भक्ति-मार्ग पर गौरव दिया गया है। यहाँ चरम तत्त्व या परम बुद्ध (सार्वभौम बुद्ध) की अमिताभ संज्ञा है, अर्थात् अमित ज्योति; उनका अमितायु नाम भी है अर्थात् नित्य तत्त्व। सुखावती (स्वर्ग) निर्वाण का संकेत-चिह्न है। अपने को भूल कर अनन्य भक्ति द्वारा सुखावती की प्राप्ति होती है। अमिताभ वास्तव में अनिर्वाच्य चरम तत्त्व हैं। प्रेम और श्रद्धा द्वारा बोधिचित्त का जागरण ही सुखावती में प्रवेश है।

एक दूसरे लेखक❀ के अनुसार वर्त्तमान समय में चीनी बौद्धों के चार मुख्य सम्प्रदाय हैं अर्थात् ज़ान (जापानी ज़ेन) अथवा ध्यान-संप्रदाय, धर्म या नियमवादी (Legalistic) सम्प्रदाय, तिएन ताई तथा चिङ्-तुः। ये क्रमशः ध्यान; अध्ययन-मनन; ध्यान-अध्ययन और बाह्य आचार; तथा भक्ति को महत्त्व देते हैं।

संक्षेप में, चीनी बौद्ध धर्म एक शाश्वत तत्त्व (बुद्ध-तत्त्व) में आस्था रखता है। ऐतिहासिक बुद्ध उसी की अभिव्यक्ति थे। निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति को बुद्ध कहते हैं, निर्वाण के साधक को बोधिसत्त्व। चीन में बोधिसत्त्व का आदर्श प्रतिष्ठित हुआ। बोधिसत्त्व करुणामय होते हैं। लोक-कल्याण के लिये वे निर्वाण के योग्य होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते; विश्व के जीवों के उद्धार के लिये वे पृथ्वी पर बने रहना पसंद करते हैं। निर्वाण में स्थित अमिताभ आदि अलौकिक सत्ताओं का मूलाधार "बुद्धतत्त्व" है।❀

बौद्ध धर्म ने चीन में स्वर्ग, नरक, कर्मवाद, पुनर्जन्म आदि

❀ "चाइना", पृ० २९९

❀ वही, पृ० २९३

सिद्धान्तों का प्रवेश कराया। उसके प्रभाव से "टाउ" धर्म भी कर्म-सिद्धान्त को मानने लगा। टाउ के अनुयायियों में देवी-देवताओं, जादू-टोने आदि-विषयक विश्वास भी बौद्ध सम्पर्क का फल कहे जाते हैं। वर्त्तमान चीन के प्रसिद्ध कवि-दार्शनिक हु शिः बौद्ध-टाउ धर्मों की प्रधानता के मध्य युग को चीनी इतिहास का अंधकारयुग मानते हैं।*

चीनी चिन्तन का तृतीय युग (आधुनिक काल)

बारहवीं से बीसवीं सदी तक का समय नव्य कन्फ्यूशियस मत के उत्थान का समय है। बौद्ध-टाउ मतों के दुःखवाद, शून्यवाद, पर-लोकवाद, रहस्यवाद, अकर्मण्यतावाद, निषेधवाद आदि के विरुद्ध प्रति-क्रिया ही इस उत्थान का कारण हुई। नव्य कन्फ्यूशियस मत विश्व की यथार्थता और सारवत्ता पर ज़ोर देता है। विश्व-प्रक्रिया में चरमतत्त्व अपने को चरितार्थ कर रहा है।

बौद्धों की यह शिक्षा कि साधक को घरबार छोड़कर भिक्षु बन जाना चाहिये, सफल जातीय जीवन के लिये घातक थी। इसके विप-रीत कन्फ्यूशियस-मतावलम्बियों ने इस दुनिया की सार्थकता पर जोर दिया। विश्व का सारतत्व बुद्धि-रूप (Reason) है; इस तत्व से 'यैङ्' और 'यिन्' नामक तत्व उद्भूत होते हैं। 'यैङ्' के परिणाम और उसके 'यिन्' से संयुक्त होने से जल, अग्नि, काठ, धातु और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। ये सब समञ्जस भाव से ऋतुओं तथा अन्य परि-वर्तनों को नियंत्रित करते हैं। विश्व की अशेष वस्तुओं में एक ही बुद्धि-तत्व परिव्याप्त है।❁

मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह इस बुद्धि-तत्व को समझने का प्रयत्न करे। भरपूर शक्ति से हमें वस्तुओं का स्वरूप समझने की कोशिश करनी चाहिए। इस प्रकार के अन्वेषण के लिये ईमानदारी और गम्भीरता आवश्यक गुण हैं।

* दे० "चाइना", अध्याय १२

❁ वही, पृ० २५६

चूँकि सब वस्तुओं और मनुष्यों में वही बुद्धितत्व है इसलिये विश्व के नर-नारी हमारे बन्धु हैं। अतएव हमें भेदभाव और विषमताओं को बचाते हुये सबको समान रूप में प्यार करना चाहिए।

ऊर्ध्वशक्ति अथवा चरम तत्व बुद्धि-रूप है, इस सिद्धान्त ने धर्म को भी बौद्धिक नींव पर प्रतिष्ठित कर दिया।

राजनीति के क्षेत्र में नव्य कन्फ्यूशियस मतावलम्बी प्राचीन शिक्षकों, कन्फ्यूशियस और मेन्शियस का, पूर्ण अनुसरण करते हैं। राज्य का आधार जन-हित और न्याय होना चाहिये। योग्य एवं सच्चरित्र लोगों को ही शासक बनाना चाहिए। जनता पर हल्के टैक्स (कर) लगाने चाहिएँ। मतलब यह कि सामाजिक-राजनैतिक जीवन का आधार सर्वथा बौद्धिक होना चाहिये। जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में उक्त मत के एक शिक्षक ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं:—

जब वस्तुओं का अन्वेषण किया जाता है तब सही ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार के ज्ञान से संकल्प (Will) शुद्ध या सच्चा बनता है। संकल्प की शुद्धता से हृदय शुद्ध होता है। हृदय की शुद्धि व्यक्तिगत जीवन को मनोज्ञ बनाती है। इससे कौटुम्बिक जीवन नियंत्रित होता है। उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय जीवन नियमित अर्थात् समञ्जस बनता है। इस सामञ्जस्य से विश्व में शान्ति स्थापित होती है।❀

संक्षेप से नव्य कन्फ्यूशियस सम्प्रदाय इहलोकवादी, बुद्धिवादी और मानववादी है। चीनी मस्तिष्क और जीवन-दृष्टि की ये विशेषतायें आज चीनी जाति को पाश्चात्य विज्ञान और वैज्ञानिकता की ओर उन्मुख कर रही हैं।

पश्चिम के सम्पर्क का दूसरा परिणाम भी हुआ है—परम्परा के विरुद्ध विद्रोह। सन् १८९७ में चीनी भाषा में हक्सले की "इवोल्यूशन ऐण्ड एथिक्स" पुस्तक का अनुवाद हुआ, उसके बाद मिल, स्पेन्सर,

❀ वही, पृ० २५९-६०

डार्विन, काण्ट, लेमार्क, टाल्स्टॉय, क्रोपाटकिन आदि अनूदित हुए। चीन में ड्यूई और रसेल के व्याख्यान कराये गये (सन् १९२० के आस-पास) और अगले दशाब्द में बेकन, डेकार्ट, स्पिनोज़ा, बार्कले, ह्यूम, विलियम जेम्स, बर्गसाँ, यूकेन आदि की कृतियाँ अनूदित हुईं।* फलतः चीन में व्यवहारवाद, भौतिकवाद, यथार्थवाद (Neo-Realism) आदि विचार-पद्धतियाँ अपनाई जाने लगीं। बौद्ध एवं टाउ मतों के पुनरुत्थान के भी चिह्न दिखाई देते हैं, यद्यपि योरपीय प्रभाव मुख्य हैं। बौद्ध-टाउ मत योरपीय अध्यात्मवादी पद्धतियों से न्यूनाधिक समानता रखते हैं।

कुल मिलाकर वर्त्तमान चीन में पुनरुत्थान की अपेक्षा विचारगत क्रांति की शक्तियां ही अधिक प्रबल हैं। साम्यवाद की प्रतिष्ठा से इन शक्तियों को और भी उत्तेजना मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं। पर साथ ही यह आशंका है कि क्रान्तिकारी मनोवृत्ति एक विशेष प्रणाली में बँध कर रह जाय। यह अन्तिम परिणति सृजनशील चिन्तन की दृष्टि से वाञ्छनीय न होगी।

२—इस्लामी दर्शन

पृथ्वी के चार बड़े धर्मों में इस्लाम का भी स्थान है; प्रायः इसके पचीस-तीस करोड़ अनुयायी हैं। इस्लाम के प्रवर्तक, मुहम्मद साहब, सन् ५७० ई० में मक्का के एक पुजारी वंश में उत्पन्न हुए थे। इस्लाम की धार्मिक मान्यतायें नितान्त स्पष्ट और लघु-संख्यक हैं। केवल एक ही ईश्वर है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है। ईश्वर ला-शरीक है, उसके अधिकार को कोई बाँटने वाला नहीं है। इस्लामी धर्म-ग्रन्थों में ईश्वर के विभिन्न गुणों के पारस्परिक सम्बन्ध पर जगह-जगह विचार किया गया है। इस्लाम का प्रमाणिक धर्म-ग्रन्थ कुरान है जो कि ईश्वरीय समझा जाता है। कुरान का पहिला परिच्छेद फातिहा कह-

*दे० Twentieth Century Philosophy (Philosophical Library, New York), पृ० ५४७-४८

लाता है। ईश्वर की एकता के अतिरिक्त कुरान में स्वर्ग, नरक तथा क़यामत एवं निर्णय-दिवस के विशेष वर्णन पाये जाते हैं। इस्लामी दर्शन पुनर्जन्म को नहीं मानता, लेकिन उसका विश्वास है कि निर्णय के दिन सारे जीवात्मा पुनः जीवित हो उठेंगे और उनके कृत्यों का निर्णय किया जायगा। पुण्यात्माओं के लिए स्वर्ग है जहां अप्सरायें (हूरें) तथा सुन्दर दास उपलब्ध होंगे; पापियों के लिए नरक है। जिसका ईश्वर और अन्तिम दिवस में विश्वास है वे पुण्यात्मा हैं। कुरान में दूसरे प्रकार की भी शिक्षायें हैं। दान, धैर्य और वचन-पालन महत्वपूर्ण गुण बताए गए हैं। माता के चरणों में स्वर्ग है; अनाथों की सहायता महत्पुण्य है। अनुयायियों का आपसी मतभेद मिटाना भी विशेष पुण्य का काम है। शिष्टता श्रेष्ठ गुण है। इस्लाम शराब-खोरी और सूद-खारी का कट्टर विरोधी है। एक व्यक्ति एक समय में चार विवाह कर सकता है। मुसलमानों में तलाक़ भी आसानी से दिया जा सकता है। फलतः कभी-कभी शासक लोग चार-चार करके सैकड़ों विवाह कर डालते हैं *।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अबूबकर, उमर, अली आदि खलीफ़ा बने। बाद में अली की जो कि हजरत मुहम्मद के दामाद थे, पराजय हुई और मुआविया ने दमिश्क में मुस्लिम साम्राज्य की नई राजधानी बनाई। अब अरब लोग धीरे-धीरे उन्नति कर रहे थे। बौद्धिक प्रगति के मुख्य केन्द्र बसरा और कुफ़ा थे। सन् ७६२ ई० में मन्सूर ने बग़दाद नगर की स्थापना की; यह नगर थोड़े ही दिनों में दमिश्क, बसरा और कुफ़ा से बढ़ गया। मन्सूर (७५४-७७५ ई०) के अतिरिक्त यहाँ हारूँ (७८६-८०६), और मामूँ (८१३-८३३) नामक खलीफ़ा हुए। इन खलीफ़ाओं के समय में यूनान के अनेक वैज्ञानिक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया। सन् १०६५ में बग़दाद में

*दे० टामस आर्नल्ड, दी इस्लामिक फेथ (अर्नेस्ट बेन, १६२८), पहला अध्याय।

पहला मुस्लिम विश्वविद्यालय स्थापित हुआ।

इस्लामी दर्शन कुछ हद तक भारतीय दर्शन से प्रभावित हुआ था, विशेषतः भारत के योग और वेदान्त से। अरब के लोग भारतवर्ष को ज्ञान एवं विवेक का देश समझते थे। किन्तु अरब चिन्तन पर सबसे अधिक प्रभाव यूनान का पड़ा। वस्तुतः यूनानी दर्शन से अलग इस्लामी दर्शन का अस्तित्व ही नहीं है। अरब निवासियों ने अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकों के ग्रन्थों का अनुवाद किया और उनसे दार्शनिक प्रेरणा ली। अरबों के हृदय में यूनानियों के प्रति बड़ा आदरभाव था, उनका विचार था कि यूनानी दर्शन सुनिश्चित, अन्तिम सिद्धान्तों पर पहुँच चुका है। बाद में योरप को अरस्तू आदि का परिचय इस्लामी दार्शनिकों के माध्यम से ही मिला। इस प्रकार इस्लामी विचारकों को योरपीयों का शिक्षक बनने का गौरव मिला।

दर्शन के अतिरिक्त भारतीय गणित और ज्योतिष का भी अरबों पर प्रभाव पड़ा था। प्रसिद्ध गणितशास्त्री ब्रह्मगुप्त का अनुवाद खलीफा मन्सूर के समय में फ़ज़री नामक विद्वान् ने किया था।

अरब चिन्तन पर सबसे पहले प्लेटो का प्रभाव पड़ा, फिर अरस्तू का। नवीं और दसवीं शताब्दियों तक मुस्लिम धर्ममीमांसक अरस्तू के विरुद्ध थे। पश्चात् अरस्तू का और फिर प्लाटिनस का प्रभाव बढ़ा। पाइथेगोरस का भी प्रभाव पड़ा।

कुरान की शिक्षायें सरल और सीधी थीं, फिर भी बाद में जटिलतायें पैदा हो गईं। पैग़म्बर साहब की मृत्यु के बाद धर्म और सदाचार का स्वरूप स्थिर करने के प्रयत्न हुये। फ़िका वाले धर्ममीमांसकों ने कर्मों का वर्गीकरण किया*:—

१—नित्य या आवश्यक कर्म जैसे नमाज

२—नैमित्तिक या वाजिब कर्म जिनका अनुष्ठान पुण्य का हेतु है,

*दे० बोअर, हिस्टरी ऑफ फिलासफी इन इस्लाम (१९३३) पृ० ३९-४०

पर न करना पाप नहीं।

३—अनुमोदित कर्म जिन पर धर्म जोर नहीं देता।

४—असम्मत कर्म, धर्म सम्मति नहीं देता पर कर्ता को दण्ड भी नहीं देता।

५—निषिद्ध या वर्जित कर्म जिनका अनुष्ठान गुनाह है।

इस वर्गीकरण की भारतीय नित्य और नैमित्तिक, विहित, निषिद्ध और काम्य आदि कर्म-विभाग से स्पष्ट समानता है।

दार्शनिक सम्प्रदाय

कुरान-दर्शन के व्याख्याताओं में कुछ परंपरावादी थे, कुछ क्रान्तिकारी। मुतकल्लिमूँ प्रथम कोटि के थे, मोतज़ला लोग दूसरी कोटि के। बहस के विषय थे मनुष्य का चरित्र और भाग्य। मोतज़ला लोग कर्म-स्वातन्त्र्य के विश्वासी थे। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, ईश्वर पर निर्भर नहीं। ईश्वर विशुद्ध मंगलमय है। ईश्वर अच्छाई का ही कारण हो सकता है, अतः कहना चाहिये कि उसकी शक्ति सीमित है। ईश्वर एक है, ज्ञान-स्वरूप है। कुरान सृष्ट किया गया है, अनादि नहीं है। नज़ाम ने कहा—ईश्वर में इच्छा नहीं माननी चाहिए क्योंकि इच्छा अपूर्णता (ज़रूरत) की द्योतक है। अश-अरी (८७३-९३५) ने परमाणुवाद की शिक्षा दी उसने कार्यकारण-नियम को मानने से इनकार किया।❋

मोतज़ली तार्किक थे। अन्य विचारकों तथा साधकों ने जो भावुक-प्रकृति थे सूफी मत का प्रवर्त्तन किया। इन पर भारतीय योग और वेदान्त का प्रभाव पड़ा था। ये लोग अद्वैतवादी थे, और प्रेममार्गी। प्रेम ही हमें भगवान से मिला सकता है। प्रेम भय से भिन्न है, आशा से भिन्न है, ज्ञान से भी भिन्न है। सूफी रहस्यवादी थे। आत्मा-परमात्मा के मिलन में दृष्ट जगत तिरोहित हो जाता है।*

बसरा में कुछ लोगों ने मित्र-संघ अथवा पवित्र-संघ की स्थापना

❋ वही, पृ० ८७ *वही, पृ० ६४

की। ये लोग यूनानी दार्शनिक पाइथेगोरस के दर्शन से विशेष प्रभावित थे। इन लोगों ने विज्ञानों के एक बृहत् विश्व-कोष का सम्पादन किया। राजनीति में भी उनकी घुसपैंठ थी। पवित्र-संघ वाले उदार थे, विभिन्न स्रोतों से शिक्षा तथा मन्तव्य लेने वाले। वे प्लेटो, अरस्तू ज़रदुश्त, ईसामसीह आदि सब पैग़म्बरों अथवा शिक्षकों का आदर करते थे।

सचराचर, जड़ और चेतन जगत, ईश्वर से निःसृत (नव्य प्लेटानिज़्म) होता है। सृष्टि-शब्द का प्रयोग रूपक मात्र है, कहने का ढंग। सृष्टि का क्रम इस प्रकार है— १ सृजनशील चित्; २ विश्वात्मा अथवा निष्क्रिय चित्; ३ आद्य प्रकृति; ४ शक्ति प्रकृति; विश्वात्मा की शक्ति; ५ निरपेक्ष पुद्गल, अपरा प्रकृति; ६ ताराचक्र; ७ मृत्युलोक के महाभूत; ८ खनिज तथा बनस्पति जगत।*

पवित्र-संघी तापस जीवन पर जोर देते थे।

अब हम इस्लाम के उन कृती दार्शनिकों का परिचय देंगे जो नव्य प्लेटानिज़्म तथा अरस्तू से विशेष प्रभावित थे। प्रधान विचारकों का ही उल्लेख किया जायगा।

किन्दी (८७० ई०)

किन्दी❀अरब देश का निवासी था, उसे अरब दार्शनिक कहा जाता है। बसरा और बगदाद में उसने शिक्षा पाई। किन्दी उद्भट विद्वान था; वह अनेक विषयों का पंडित था। कहा जाता है कि उसने अनेक यूनानी कृतियों का अरबी में अनुवाद किया। किन्दी ने मनुष्य की स्वतन्त्रता पर जोर दिया। ईश्वर की एकता एवं कल्याणरूपता पर भी वह गौरव देता है। वह भविष्य-कथन की सम्भावना में विश्वास करता है। कार्य-कारणवाद में उसका विश्वास है, जगत ईश्वर की कृति है। किन्तु ईश्वर और जगत के बीच में कतिपय

*वही, पृ० ६०

❀वही, पृ० ६७ तथा आगे।

अन्य शक्तियाँ भी हैं, ईश्वर साक्षात् विश्व का कारण नहीं है। ईश्वर से विश्व-चेतना (नफ्स आलम) और उससे क्रमशः फरिश्ते तथा मनुष्य उत्पन्न होते हैं। चित् शक्ति चार प्रकार की होती है। प्रथमतः ईश्वर जो सदैव सत् है और सब चेतनाओं का कारण है, दूसरी अक्ल या बुद्धि, तीसरी जीव की क्षमता और चौथी क्रिया शक्ति।* किन्दी अरस्तू के सक्रिय बुद्धि (Active Reason) तथा निष्क्रिय बुद्धि (Passive Reason) के विभाग से प्रभावित था।

तत्व दर्शन में किन्दी ऐन्द्रिय एवं आध्यात्मिक (इन्द्रियातीत) के भेद को मानता है। उसी प्रकार ज्ञान की दो शक्तियां हैं; इन्द्रियां विशेष को पकड़ती हैं, बुद्धि सामान्य को जानती है।

फाराबी (८७०-९५० ई०)❀

फाराबी संभवतः फारस के किसी अफसर का पुत्र था। उसकी शिक्षा-दीक्षा कहां व कितनी हुई इसका ठीक पता नहीं। काफी समय तक बगदाद में रहकर वह हलब में सैफउद्दौला की सभा में चला गया। जीवन के अन्तिम वर्षों में उसने वह भी स्थान छोड़ दिया। फाराबी शान्ति एवं मौन प्रकृति का व्यक्ति था जिसका जीवन दार्शनिक चिन्तन में बीता। अन्त में उसने सूफियों का बाना धारण कर लिया था।

फाराबी ने अरस्तू का गहरा अध्ययन किया; उसे दूसरा आचार्य अर्थात् दूसरा अरस्तू कहा जा सकता है। उसने अरस्तू की कृतियों का क्रम स्थिर किया और उनका सम्पादन किया।

फाराबी का विचार है कि प्लेटो और अरस्तू में तात्विक मतभेद नहीं है, वह दोनों का समन्वय प्रस्तुत करता है। फाराबी की अभिरुचि मुख्यतः तर्कशास्त्र, तत्वदर्शन और भौतिकशास्त्र में है। तर्कशास्त्र में दो वस्तुओं का विचार किया गया है; एक प्रत्यय एवं परि-

---

*वही, पृ० १०६ तथा आगे।

❀ वही, पृ० १०६ तथा आगे।

भाषायें; दूसरे, वाक्य, अनुमान एवं उपपत्ति। एक प्रकार के प्रत्यय विशेष पदार्थों द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं, अर्थात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में। कुछ प्रत्यय पहले से ही चेतना में रहते हैं, जैसे सम्भावना (Possibility), वास्तविकता और अवश्यंभाविकता की धारणायें। ये दूसरी कोटि के प्रत्यय स्वतः सिद्ध होते हैं—वे मन या बुद्धि द्वारा देखे मात्र जाते हैं, प्रमाणित नहीं किये जाते। उपपत्ति (Proof) का आधार गणित तथा विज्ञान की स्वयंसिद्धियां हैं। चिन्तन का सर्वोच्च नियम विरोध-नियम (Law of Contradiction) है। उपपत्ति-मूलक ज्ञान का विषय आवश्यक सत्ता है, जब की संभाव्य ज्ञान का विषय भी कम यथार्थ अर्थात् संभावित मात्र है। कविता में प्रयुक्त वाक्य सत्य की दृष्टि से निम्न कोटि के होते हैं।

अस्तित्ववान् पदार्थों में कुछ संभावित है, कुछ अवश्यंभावी। ईश्वर अवश्यंभावी, आवश्यक सत्व, है। ईश्वर हेतुहीन, पूर्ण शाश्वत, अपरिवर्त्तनीय, विशुद्ध चैतन्य और शुद्ध श्रेय-रूप हैं। ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्यों कि वह वस्तुओं का प्रथम हेतु एवं प्रमाणभूत है। ईश्वर में सत्य और सत्व (वास्तविकता) का सामञ्जस्य है।

ईश्वर से सब-कुछ निःसृत होता है। ईश्वर की इच्छा से नहीं उसके आवश्यक (अवश्यंभाव्य से संबद्ध) ज्ञान से वस्तुएँ उद्भूत होती हैं। अनन्त काल से वस्तुओं की आकृतियाँ (फार्म्स) ईश्वर में हैं। स्वयं ईश्वर से "द्वितीय सत्व" अर्थात सृष्ट चित्शक्ति (Created Spirit) आती है जिससे आठ चित्शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इनका दर्जा दूसरा है। तीसरा दर्जा क्रियाशील नर-बुद्धि का है, चौथा आत्मा का। पुद्गल या जड़ तत्त्व का स्थान इसके बाद है। फाराबी पर प्लाटिनसका प्रभाव है।

फाराबी ने प्लेटोकी भाँति आदर्श शासककी कल्पनना दी है। नैतिक जीवन का पर्यवसान राज्य (राजनैतिक जीवन) में है।

संक्षेप में, विश्व का चरम हेतु विशुद्ध चैतन्य (ईश्वर) है। सीमित व्यक्तिभाव ही दुःख और अशुभ का मूल है, वैसे विश्व में श्रेय का प्राधान्य है,

इब्न सीना (९८०-१०३७ई०)*

यह दार्शनिक बौद्धिक दृष्टि से उन्नत वातावरण में जीवित रहा। वह महाकवि फिरदौसी तथा अल्बेरूनी आदि अनेक श्रेष्ठ विचारकों का समकालीन था। उसका प्रभाव भी बहुत पड़ा।

सीना के अनुसार दर्शनके तीन भाग या शाखाएँ हैं—तर्कशास्त्र, तत्त्वशास्त्र और भौतिकशास्त्र। सत्ताएँ भी तीन प्रकारकी हैं, चैतन्यरूप (तत्त्वदर्शन का विषय), भौतिक (भौतिकशास्त्र का विषय), और बौद्धिक या प्रत्ययात्मक (तर्क शास्त्र का विषय)। इस अन्तिम की स्थिति बुद्धिके बाहर नहीं है।

मानव-बुद्धि दुर्बल है, इस लिये उसे चिन्तन के नियमों(तर्कशास्त्र) की अपेक्षा है। इन्द्रियों के दमन द्वारा ही उनसे उत्पन्न ज्ञान को बौद्धिक धरातल तक पहुँचाया जा सकता है।

इब्न सीना का तत्त्वदर्शन फाराबी से कुछ भिन्न है, सीना पुद्गल को ईश्वर से निःसृत नहीं बतलाता। चैतन्य सत्व पुद्गल से सर्वथा भिन्न है। आत्मा दोनों की मध्यवर्तिनी है। (अरस्तू में भी आत्मा का स्थान बुद्धि (चित्) से नीचे है।)

अवश्यंभाविता की धारणा से ही आवश्यक तत्व (Necessary Being) की सत्ता अनुगत होती है। विश्व की वस्तुएँ संभावित (Possible) मात्र हैं, इसी से आवश्यक सत्व अर्थात् ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। सृष्टि से स्रष्टा की सत्ता सिद्ध करना ठीक नहीं।

शुभ, अशुभ सब का अस्तित्व ईश्वर से है, किन्तु शुभ ही ईश्वर का अभीष्ट है। अशुभ तत्व या तो अभाव-रूप है या आकस्मिक। आकस्मिक अशुभ को बचाने के लिये सृष्टि न होने देना सबसे बड़ी

*-वही, पृ० १२१ तथा आगे।

बुराई होती। वास्तव में संसार जैसा है उससे अधिक सुन्दर या श्रेष्ठ नहीं बनाया जा सकता था।

विभिन्न सत्ताओं के पारस्परिक संबन्ध के बारेमें इब्न सीना के विचार सुस्पष्ट नहीं हैं।

बेरूनी

इस विचारक ने पाइथेगोरस, प्लेटो तथा सूफी एवं भारतीय सिद्धान्तों का समन्वय करने की चेष्टा की है। उसने प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिर्विद् आर्यभट के मन्तव्यों का समर्थन किया है।

ग़ज़ाली (१०५९-११११ ई०)*

ग़ज़ाली इस्लामका सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक है। वह धार्मिक मनोवृत्ति का है। वह कवि फिरदौसी का समदेशीय था। उसकी शिक्षा अनेकमुखी हुई। सन् १०९१ में वह बग़दादमें अध्यापक नियुक्त हुआ। वहाँ उसने दर्शन का विशेष अध्ययन करना शुरू किया, मुख्यतः अपने शंका-सन्देहों के निवारण के लिये। विशेषतः उसने फ़ाराबी और इब्नसीना का गम्भीर अध्ययन किया। बाद में उसने पूर्व दर्शनों का खण्डन अपनी प्रसिद्ध कृति "दार्शनिक-विध्वंसन" में किया।

ग़ज़ाली ने समकालीन प्रचलित दर्शनों की विस्तृत समीक्षा की है। धर्ममीमांसकों का युक्तिवाद, सूफी रहस्यवाद, पाइथेगोरसीय दर्शन, प्लाटिनस तथा अरस्तू की मान्यताएँ—इन सब का खण्डन किया गया है। इनमें से उसकी सबसे अधिक सहानुभूति सूफी रहस्यवादियों के साथ है। अरस्तू के मन्तव्यों का वह घोर विरोधी है, उसे इस्लाम का शत्रु समझता है। स्वयं अरस्तू के तर्कशास्त्र का प्रयोग उसने अरस्तू के विरुद्ध किया है। तर्कशास्त्र के विरोध-नियम (ला ऑफ कण्ट्रेडिक्शन) में ग़ज़ाली की अखण्ड आस्था है, उसके मत में ईश्वर भी इस नियम के अधीन है।

उसने मुख्यतः तीन दार्शनिक मन्तव्यों का विरोध किया है—

*वही, पृ० १५४ तथा आगे

(१) यह कि जगत शाश्वत (नित्य) है ; (२) यह कि ईश्वर सामान्यों का ज्ञाता या चिन्तक मात्र है; (३) यह कि आत्मा ही अमर है और शरीर का (निर्णय-दिवस पर) पुनरुत्थान नहीं होता।

हम देश या काल की सीमाओं की कल्पना नहीं कर सकते, अतः देश-काल अनन्त हैं। वास्तव में देश-काल वस्तु-सम्बन्धों के नाम हैं। कारणता वस्तुतः ईश्वर का धर्म है, संकल्पवाली सत्ता का। ईश्वर एक वस्तु को दूसरी में परिवर्त्तित कर सकता है, वही वस्तुओं की सृष्टि और नाश का हेतु है। ईश्वर इच्छा या संकल्प करने में स्वतंत्र है, और क्रिया में सक्षम। ईश्वर न-कुछ में से विश्व को उत्सृष्ट करता है। इसमें असंभव कुछ नहीं। जो नहीं था वह बराबर अस्तित्व में आता देखा जाता है, जैसे हमारा दर्शन (देखना), स्वयं हमारी आत्माएँ। इब्नसीना के आकृतियों (फार्म्स) तथा आत्म-सम्बन्धी मन्तव्यों का ग़ज़ाली ने खण्डन किया है।

ईश्वर की सार-सत्ता चिन्तन बताई जाती है, कहा जाता है कि ईश्वर में संकल्प (इच्छा) आदि नहीं हो सकते क्योंकि ईश्वर पूर्ण है। संकल्प का अर्थ है गति जो भौतिक तत्त्व में हो सकती है, अतः ईश्वर संकल्प-हीन है। ग़ज़ाली का मत दूसरा है। उसके अनुसार ईश्वर में शाश्वत संकल्प की स्थिति है, संकल्प ईश्वर का शाश्वत धर्म है। अस्तित्व की एकता (अखण्डता) यदि ज्ञान से भंग नहीं होती तो संकल्प से भी भंग नहीं होती। विषय का ज्ञान ही नहीं, स्वयं आत्म-चेतना भी एक अनन्त क्रिया है जो इच्छा या संकल्प द्वारा ही समाप्त की जा सकती है। सृष्टि पहले ईश्वर द्वारा संकल्पित होती है, फिर ज्ञात या चिन्तित।

पुनरुत्थान के समय आत्मा शरीर पा जाय इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

ग़ज़ाली जगह-जगह अनुभूति पर बल देता है, तर्क उतना विश्वसनीय नहीं।

स्पेन में इस्लामी दर्शन

मुहम्मद साहब की मृत्यु के सौ वर्ष के भीतर ही इस्लाम धर्म अफ्रीका महाद्वीप की ओर प्रसरित होने लगा था। सब से सन्निकट मिश्र का देश था। सन् ६८२ में मुसलमान मोरक्को पहुँच गये, सन् ७११ ई० में उनकी सेनाएँ स्पेन में उतरीं। सन् ७१५ ई० तक वे स्पेन के पूर्णतया मालिक बन गये।* प्रायः ढाई-सौ वर्ष तक स्पेन में मुसलमानों का प्रभुत्व रहा। दसवीं सदी मुस्लिम स्पेन की सर्वांगीण, भौतिक और बौद्धिक, समृद्धि का उच्चतम काल था।

बौद्धिक प्रगति का केन्द्र पूर्व ही था। स्पेन से जिज्ञासु पंडित उत्तरी अफ्रीका में यात्रा करते हुए पूर्व के इस्लामी देशों में जाते थे।

स्पेनदेशीय मुस्लिम दार्शनिकों में मुख्य नाम ये हैं—इब्नबाजा (Avempace, मृ० ११३८), इब्नतुफैल (Abubacer, मृ० ११८५) और इब्नरोश्द (Averroes, ११२६-९८ ई०)। इनमें अन्तिम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यहाँ हम उसी का विशेष वर्णन करेंगे।

इब्न रोश्द (११२६-११९८ ई०)❀

इब्न रोश्द अरस्तू का प्रसिद्ध व्याख्याता है, उसे "टीकाकार" कह कर भी संकेतित किया जाता है। वह दार्शनिक होने के साथ चिकित्सक और दण्डनीति का ज्ञाता भी था। उसके समय में यूनानियों की वे अनेक कृतियाँ जो अब उपलब्ध नहीं हैं अनूदित रूप में मौजूद थीं।

इब्न रोश्द इब्न सीना का कठोर आलोचक है, कभी-कभी वह फ़ाराबी और इब्न बाज़ा से भी भिन्नता प्रकट कर डालता है। वह अरस्तू के तर्कशास्त्र का प्रबल प्रशंसक है, उसे इस का खेद है कि

---

* दे० कन्साइज़ हिस्टरी ऑफ द वर्ल्ड (पी० आर० गाथार्न, ग्रेट ब्रिटेन), तिथि-सूची।

❀दे० बोअर, वही, पृ० १८७ तथा आगे।

सुकरात और प्लेटो (अफलातून) इस शास्त्र को नहीं जानते थे। इब्न रोश्द व्याकरण को भी काफ़ी महत्त्व देता था।

साधारण लोग इन्द्रियों के संसार में रहते हैं; तर्कशास्त्र की मदद से हमारा ज्ञान विशेषों के क्षेत्र से उठकर सामान्य बुद्धि के धरातल पर पहुँचता है।

रोश्द अरस्तू का प्रशंसक है और धार्मिक दर्शन (थियोलॉजी) को अवमानना की दृष्टि से देखता है। धर्म की शिक्षायें तर्क द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकतीं। धर्म अच्छाई का हेतु है, वह लोगों को अच्छा बनाता है, ज्ञानी नहीं। ज्ञान दर्शन से ही मिल सकता है। इस प्रकार ज्ञान-सम्पादन करके दार्शनिक ईश्वरीय वाक्य (कुरान) को समझने योग्य बनता है। वस्तुतः धर्म और दर्शन में विरोध नहीं है; जो बात दर्शन द्वारा जानी जाती है वही धर्मग्रन्थों का भी प्रतिपाद्य है। इब्न रोश्द ने सत्य के क्षेत्र में दर्शन को धर्मग्रन्थों पर प्रधानता दी इससे परम्परावादी धर्माचार्य उसके विरुद्ध हो गये।

तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में रोश्द अरस्तू का व्याख्याता और अनुयायी है, वह विशेष मौलिक नहीं है। विश्व एक प्रक्रिया है, वह सदा होता रहता है। पुद्गल (मैटर) और आकृति (फार्म) अवियोज्य हैं, चिन्तन द्वारा हम उन्हें विविक्त कर लेते हैं। 'होने' का अर्थ एकान्त उत्पत्ति या विनाश नहीं ; वह केवल बीजभावसे वास्तविकता की ओर संक्रमण का नाम है। वास्तविकता बीजभाव बनती हैं और बीजभाव वास्तविकता ; यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

विश्व के पदार्थ न्यूनाधिक महत्त्व की दृष्टि से एक तारतम्यात्मक श्रेणी में रखे जा सकते हैं। शीर्ष पर ईश्वर है अर्थात् विशुद्ध फार्म या आकृतिभाव। सब से नीचे आकस्मिक (Accident) है, बीच में द्रव्यात्मक फ़ार्म। ईश्वर विश्व-प्रक्रिया का चरम लक्ष्य, मूलाकार या फ़ार्म है। 'होना' नित्य प्रक्रिया है; उसे नित्य गति की अपेक्षा है और उस गति को एक शाश्वत गति-दाता की। जगत (विश्व प्रक्रिया) अनादि है।

प्रथम गति-दाता ईश्वर चिन्तन-रूप है, उसी में अस्तित्व की एकता है। ईश्वर-तत्त्व में चिन्तक या चिन्तन और उसका विषय एक है। ईश्वर जगत का मूलाकार और लक्ष्य (चरम हेतु) दोनो है।

सत्ताएँ दो प्रकार की हैं, चलित और चालक, जड़ और चेतन। इनमें चेतन उच्चतर है। आत्मा और शरीर में वही सम्बन्ध है जो फार्म और मैटर, पुद्गल और आकार में। अनेक अमर आत्माओं का सिद्धान्त रोश्द को पसंद नहीं है। शरीर के बिना आत्मा की स्थिति संभव नहीं है, शरीर की पूर्णता ही आत्मा हैं।

धर्म के प्रति अवज्ञा का भाव रखने और दर्शन को उच्चतर घोषित करने के कारण इब्न रोश्द के विरुद्ध मुक़दमा चलाया गया और उसे निर्वासन का दण्ड मिला। * रोश्द ने इस्लामी दर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला, पर ईसाई चर्च के मन्तव्यों पर उसके द्वारा दी हुई अरस्तू की व्याख्याओं का प्रभाव पड़ा। महाकवि दान्ते ने अपनी "डिवाइन कॉमेडी" में रोश्द को सादर टीकाकार कह कर संकेतित किया है।

मुख्यतः स्पेन और दक्षिण इटली में मुस्लिम जगत् का ईसाई जगत से सम्पर्क हुआ। क्रमश: योरप से मुसल्मानों का प्रभुत्व हटा पर मुस्लिम दर्शन और उसके माध्यम से यूनानी दर्शन विशेषतः अरस्तू का प्रभाव मध्ययुग के ईसाई चिन्तन में संक्रान्त हो गया। इस दृष्टि से इब्न रोश्द की कृतियों का विशेष महत्त्व रहा।

*** विशेष विवरण के लिये देखिए, राहुल सांकृत्यायन कृत 'दर्शन-दिग्दर्शन', पृ० २१४-१५**

परिशिष्ट (ख)

मौलिक दर्शन का उदय कैसे हो ?*

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि पिछली कई शताब्दियों में हमारे देश ने विश्व की दार्शनिक प्रगति में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दिया है। अंग्रेजों के शासन-काल में, जब पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की टक्कर से हममें स्वाभिमान का उदय हुआ, हमने विविध अनुवादों एवं प्रतिपादन-मूलक व्याख्याओं द्वारा विदेशी विद्वानों को अपने सांस्कृतिक वैभव का परिचय देने की कोशिश की, पर उस अतीत वैभव में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं की। गान्धी, रवीन्द्र, राधाकृष्णन् ये सब भारतीय संस्कृति के व्याख्याता हैं; इसमें गान्धीजी ने ही नैतिक और राजनैतिक क्षेत्रों में वस्तुतः मौलिक विचारणाएँ दीं। किन्तु पारिभाषिक अर्थ में गांधीजी एक दार्शनिक विचारक नहीं हैं, यही रवीन्द्र के सम्बन्ध में सत्य है। अरविन्द घोष का दर्शन भी प्राचीन मान्यताओं और धारणाओं की गन्ध से ओतप्रोत है।

वास्तव में देखा जाय तो ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों के बाद (रामानुज और गंगेश के पश्चात्) हमारे देश ने कोई प्रथम श्रेणी का दार्शनिक उत्पन्न नहीं किया। उक्त दोनों विचारकों को भी प्रथम श्रेणी का कहते संकोच होता है क्योंकि उनमें समीक्षा-बुद्धि जितनी विकसित है उतनी रचनात्मक प्रतिभा नहीं; और गंगेश तो तर्कशास्त्री मात्र ही है। वास्तविकता यह है कि हिंदुओं की राजनीतिक स्वतंत्रता के लोप के साथ ही उनका सांस्कृतिक धरातल क्रमशः नीचा होने लगा

*लखनऊ विश्व विद्यालय की दर्शन-परिषद् में पठित (१९४९)

और देश में अक्षपाद, कपिल और कणाद, नागार्जुन, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति; कुमारिल, शंकर और वाचस्पति जैसी प्रतिभाएँ उत्तरोत्तर विरल होती गईं। यही बात गणित, साहित्य आदि क्षेत्रों पर भी लागू है। मध्ययुगीन भारत की संस्कृति मूलतः आत्म-रक्षण की भावना से अनुप्राणित हैं। उसके विचारकों में क्रान्तदर्शिता और बौद्धिक साहस का अभाव है। इस काल का दर्शन और साहित्य दोनों अपूर्ण अथवा एकांगी हैं। मध्ययुग के कवियों अथवा दार्शनिकों में से किसी में भी आगे बढ़ने का चाव नहीं है, उनकी दृष्टि अनिवार्यतः समृद्ध अतीत की ओर है। कवि-गण राम-कृष्ण का लीला-गान करते हैं तो दार्शनिक सांख्य और वेदांत की मान्यताओं के विविध मिश्रित रूपों की सृष्टि। जीवन की स्वतंत्र नवीन व्याख्या अथवा चित्र देने का प्रयत्न कहीं नहीं दीखता। इस दृष्टि से यदि हम योरप की पुनर्जागृति (रिनेसाँ) के बाद की सांस्कृतिक लब्धियों पर दृष्टिपात करें तो आँखें चौंधियाये बिना नहीं रह सकतीं। डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज; लॉक, बार्कले और ह्यूम; काण्ट, हेगेल और कार्ल मार्क्स; शेक्सपियर और गेटे, वर्ड्सवर्थ और कीट्स; रूसो और वाल्टेयर; गेलियो, न्यूटन और डार्विन—इन तेजस्वी मनीषियों की तुलना में बारहवीं से उन्नीसवीं सदी तक के भारतीय लेखक-विचारक टिमटिमाते दीपकों से मालूम पड़ते हैं। उनकी समकक्षता का दावा करने के लिए हमें अपने देश के प्राचीन विचारकों और लेखकों की ओर ही देखना पड़ेगा।

कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान सार्वभौम वस्तु है, अतः भारतीय विज्ञान—भारतीय भौतिकशास्त्र, भारतीय रसायनशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि—की भांति भारतीय दर्शन की बात करना अयुक्त है। पर यह ठीक नहीं। कारण यह है कि जहाँ वैज्ञानिक सत्य बहुत अंशों तक जीवन के मूल्यों से निरपेक्ष है वहाँ दर्शन का सत्य एवं साहित्य के मनोभाव किसी देश या जाति की विशिष्ट जीवन-दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं—बल्कि कहना चाहिये कि उस दृष्टि का स्वरूप

निर्धारित करते हैं। यही कारण है कि बढ़े हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के इस युग में भी हम ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, अमरीका, आदि की स्वतन्त्र दार्शनिक, साहित्यक एवं समीक्षात्मक परम्पराओं का जिक्र करते हैं। इन क्षेत्रों में चीन, भारत, फारस और अरब आदि एशियाई देशों की परम्पराएँ भी काफी भिन्न हैं।

नये जीवन-दर्शन के निर्माण के लिए कुछ परिस्थितियाँ अपेक्षित होती हैं जिन में मुख्य है—किसी देश या जाति की अनुभव-परिधि का निरन्तर विस्तार। अन्ततः दर्शन जीवन के अनुभवों को समझने एवं उनके आलोक में जीवन की दिशा निर्धारित करने का प्रयत्न है, फलतः बदलती हुई अनुभव-राशि नई दर्शन-पद्धतियों के निर्माण की प्रेरणा देती है। विज्ञान के क्षेत्र में भी अवेक्षण या प्रयोगों द्वारा नये तथ्यों का उद्घाटन नये वादों या सिद्धान्तों को जन्म देता है। यों इतिहास की किसी भी कालावधि में मनुष्य के अनुभव इतने विस्तृत और विविध होते हैं कि उनके आधार पर अनेक विश्व-दृष्टियों, अर्थात् दर्शन-पद्धतियों का, निर्माण किया जा सकता है। इसीलिये एक ही युग में, एक ही आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था में, वैज्ञानिक प्रगति की एक ही भूमिका में अनेक 'दर्शन' उदभूत होते दिखाई देते हैं। हो सकता है एक युग के दर्शनों में एक कुल के सदस्यों की भाँति कुछ समानता हो; सम्भव है ऐसी समानता न भी हो। प्राचीन भारतीय दर्शनों में जहाँ कतिपय समानताएँ हैं वहाँ अनेक विषमताएँ भी हैं; एक ही समाज-व्यवस्था में ग्रथित बौद्ध और हिन्दू दर्शनों में आश्चर्यजनक भिन्नताएँ हैं।

रिनेसाँ (पुनर्जागृति) के बाद के योरप में नवीन दर्शन-पद्धतियों की जो बाढ़-सी आई दीखती है उसका प्रधान कारण वहाँ वैज्ञानिक खोजों द्वारा मानवीय अनुभूति का अनवरत विस्तार है और उक्त कालावधि में भारतीय मस्तिष्क की आपेक्षिक अनुर्वरता का मुख्य हेतु यहाँ के अनुभव-क्षितिज का अपरिवर्तित रहना है। योरपीयों के

आगमन और अंग्रेजी भाषा के प्रसार के बाद ही हमारे देश की इस परिस्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ।

किन्तु अंग्रेजों के राजत्वकाल में भी हमने किसी महत्वपूर्ण नवीन दर्शन-पद्धति का निर्माण नहीं किया—किसी ऐसे विचारक को उत्पन्न नहीं किया जो समसामयिक हेगेल, बर्गसाँ, ब्रेडले, क्रोचे एवं अति आधुनिक रसेल, ह्वाइटहेड आदि का समकक्ष हो सके। इसके कारणों का विचार करते हुए हम इस निबन्ध के मुख्य विषय पर आते हैं।

हमने कहा कि साहित्य-सृष्टि की भांति दार्शनिक चिंतन एक जातीय प्रयत्न है। कवि और दार्शनिक दोनों अपने देश या जाति के लिए लिखते-सोचते हैं—उनका प्रयत्न शून्य में घटित नहीं होता। एक पराधीन जाति या देश का, विशेषतः यदि वह पहले सभ्य रह चुका है और उसमें स्वाभिमान है, एक ही लक्ष्य होता है—स्वाधीनता; और उसके समस्त प्रयत्न उसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनुष्ठित होते हैं। पराधीन देश की जनता इसी प्रकार के प्रयत्नों का अभिनन्दन करती है। फलतः हमारे देश में विद्रोह-मूलक संघर्ष का व्यावहारिक दर्शन ही उद्भूत हो सकता था; गान्धी जी ने हमें वैसा दर्शन दिया। सत्याग्रह और असहयोग भारतीय दार्शनिक मास्तिष्क की व्यावहारिक धरातल पर प्रतिक्रिया है।

हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिए यह भी ज़रूरी था कि हममें स्वाभिमान अर्थात् राष्ट्रीय गर्व जागृत रहे। इसके लिए हमने विदेशियों के सम्मुख अपनी सांस्कृतिक कृतियों के अनुवाद रक्खे। विदेशी पंडितों की गुणग्राहकता भी इस दिशा में सहायक सिद्ध हुई। साथ ही भारतीय दर्शन और संस्कृति की नवीन युगोचित व्याख्याएँ भी की गई—दयानन्द, राममोहनराय, विवेकानन्द, रवीन्द्र आदि ने यही किया। किंतु प्राचीन की नई-से-नई व्याख्या एक ऐसे जीवन-दर्शन का स्थान नहीं ले सकती जो युग की विविध बौद्धिक एवं नैतिक मांगों को संतुष्ट कर सके। इसीलिए हम दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेका-

नन्द अथवा रवीन्द्रनाथ को दार्शनिक का पद नहीं दे सकते। वस्तुतः स्वाधीनता-संग्राम की आवश्यकताओं ने ही हमें नवीन जीवन-दर्शन को उत्पन्न करने से रोका। जब कोई देश या जाति अपने ढंग से जीवित रहने को स्वतंत्र होती है तभी वह अपने स्वतन्त्र जीवन-तंत्र का निर्माण करती है।

स्वतंत्रता के साथ समृद्धि और अवकाश भी अपेक्षित हैं। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं, भोजन, वस्त्र आदि के लिए प्रखर संघर्ष का समय किसी देश या जाति के सांस्कृतिक विकास के लिए उपयुक्त नहीं होता। पिछली जिन शताब्दियों में योरप ने वेग से सांस्कृतिक प्रगति की है वे पूँजीवाद के प्रसार अर्थात् समृद्धि की शताब्दियां रही हैं। यही बात भारतीय इतिहास के मौर्य-काल और गुप्त-युग पर लागू है। दुर्भाग्यवश साम्पत्तिक दृष्टि से हमारे देश का यह आपत्काल है, अतः निकट भविष्य में यह आशा नहीं है कि हम सांस्कृतिक क्षेत्रों में विशेष कार्य कर सकेंगे। तथापि यह आशा रखते हुए कि स्वतन्त्र सरकार देश को आर्थिक संकट से मुक्त करने का उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्न करती रहेगी हम अपनी सांस्कृतिक प्रगति तेज करने के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

साधारणतः इस प्रकार की विचारणा अपेक्षित नहीं होती। जब कोई देश या जाति स्वतन्त्र होती है और उसमें पर्याप्त शिक्षा, समृद्धि एवं अवकाश रहता है, जब जनता का एक बड़ा अंश मौलिक लेखकों का आदर एवं सम्मान करता और उनसे नवीन ज्ञान की माँग करता है—जब देश के शिक्षित जन-समुदाय और लेखकों-विचारकों में सहज अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है—तब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि वहाँ की सांस्कृतिक प्रगति को किस प्रकार प्रोत्साहित या उत्तेजित किया जाय। हमारे देश में यह प्रश्न उठाना आवश्यक है। इसका मुख्य कारण यहाँ के सुशिक्षित विद्वानों का देश की जनता से न्यूनाधिक विच्छेद है।

इस विच्छेद की परिस्थितियाँ विदेशी राज्य ने उत्पन्न कीं। उसने देश के युवकों को अंग्रेजी पढ़ने को प्रेरित एवं विवश किया। किन्तु यहउतनी बुरी बात न थी। बुराई तब हुई जब देश के विद्वान अपनी-अपनी भाषाओं की उपेक्षा करके अंग्रेजी में लिखने-पढ़ने लगे। इस व्यवहार से उन विद्वानों को—और उनमें देश-भक्त कम थे, देश-विमुख अधिक—जहाँ गवर्नमेंट का प्रश्रय एवं प्रोत्साहन मिला वहाँ उन्हें जन-समुदाय की उपेक्षा का भाजन भी होना पड़ा। परन्तु विश्वविद्यालयों तथा सरकारी पदों में अंग्रेजी भाषा का सम्मान था, अतः उन्हें आर्थिक दृष्टि से कोई क्षति नहीं उठानी पड़ी। इस प्रकार के विद्वान्, विशेषतः वे जो भारतीय संस्कृति से अपरिचित थे, देश के सांस्कृतिक विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योग न दे सके।

रविबाबू, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि कतिपय नेताओं ने अपनी-अपनी भाषाओं में पुस्तकें लिखकर देशी भाषाओं के प्रति प्रकट की जाने वाली उपेक्षा को रोकने या कम करने का प्रयत्न किया। उनमें संभवतः रवि बाबू के प्रान्त में उन्हें विशेष सफलता मिली। आज शायद ही कोई बंगाली विद्वान हो जो मातृभाषा में ग्रन्थ-रचना को हीनदृष्टि से देखता हो। पर दुर्भाग्यवश हिन्दी के प्रान्तों में अभी तक पूर्वकालीन उपेक्षा-भावना जीवित है। आज भी हमारे यहां ऐसे विद्वान् हैं जो समझते हैं कि उच्च कोटि के सांस्कृतिक प्रयत्नों के लिये देश की जनता की शिक्षा एवं देशी भाषाओं का विकास आवश्यक नहीं है, कि हम योरोपीय विचारकों की अपेक्षा में सोचते-लिखते हुए उच्चतम मौलिक विचार-पद्धतियों को जन्म दे सकते हैं और यह कि उच्च श्रेणी का चिन्तन देश की परिस्थितियों की अपेक्षा नहीं करता।

इस प्रकार के विद्वान्, और उनमें काफी प्रतिभाशाली लोग सम्मिलित हैं,मन से सन्तुष्ट दीखने की चेष्टा करते हैं,पर वास्तव में उनकी दशा बड़ी दयनीय है। उनकी कृतियों अथवा विचारों का

भारतीय परम्परा में कोई स्थान नहीं है; बाहर भी कहीं उस प्रकार की स्थिति नहीं। न जाने हमारे देश के कितने साहित्य-प्रेमी अध्यापकों ने शेक्सपियर और कोट्स के सम्बन्ध में आलोचना-ग्रन्थ लिखे हैं, पर उनमें से कितनों का, अथवा किसका नाम अंग्रेजी आलोचना के के इतिहास में आया है या आ सकेगा? शेक्सपियर का कौन भारतीय आलोचक ए० सी० ब्रेडले अथवा डाउडेन के बराबर भी प्रसिद्धि पा सका है और काण्ट, हेगेल, ब्रैडले आदि के किस धुरन्धर भारतीय पंडित की योरप में ख्याति हुई है? इसके विपरीत पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान जो विश्व-साहित्य की उपेक्षा न करते हुए भी भारतीय साहित्य की अपेक्षा में सोचते-लिखते रहे, भारतीय आलोचना के इतिहास में अमरत्व के अधिकारी बन गये। वैसे ही रवीन्द्र के 'प्राचीन साहित्य' तथा 'साहित्य का स्वरूप' नामक निबन्धों का बँगला आलोचना-साहित्य में एक स्थान रहेगा।

वास्तविकता यह है कि साहित्य कभी स्वदेश और स्वभाषा से विच्छिन्न नहीं हो सकता। यही कारण है कि अंग्रेजी के धुरन्धर ज्ञाता माइकेल मधुसूदनदत्त को 'मेघनाथवध' बँगला में लिखना पड़ा। अपनी भाषा के आश्रित रहने के कारण ही आज प्रांतीय भाषाओं के साहित्य—काव्य, उपन्यास और आलोचना—उत्तरोत्तर उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित होते जा रहे हैं जब कि दर्शन के क्षेत्र में उस प्रकार की कोई प्रगति दिखाई नहीं देती।

आगे हम दर्शन की ही विशेष चर्चा करेंगे। इस क्षेत्र में हमारे यहां प्रतिभा की कमी नहीं है, पर वह प्रतिभा दुरुपयोग द्वारा व्यर्थ हो रही है। हमारे प्रतिभाशाली युवक अपने अन्वेषण और चिन्तन का फल अंग्रेजी के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं इस आशा में कि (१) उस पर देश के समस्त विद्वानों की दृष्टि पड़ेगी और उन्हें विश्वविद्यालयों में उचित स्थान मिलने में सुविधा होगी; और (२) यदि कहीं विदेशी विद्वानों की प्रशंसा मिल गई तो स्वदेश में और भी अधिक सम्मान एवं सुविधाएँ

मिल सकेंगी। संक्षेप में हमारे अधिकांश विद्वानों का दृष्टिकोण घोर व्यक्तिवादी रहता है और उन्हें देश की विचार-परम्परा को आगे बढ़ाने का कोई खयाल नहीं रहता। अधिक प्रतिभाशालियों को यह भी भय रहता है कि स्वदेशी जनता और विद्वान उनका ठीक मूल्यांकन न कर सकेंगे।

उनकी उक्त आशाएँ और भय निराधार नहीं हैं। किसी भी एक प्रांत में प्रांतीय भाषा के जानकार दार्शनिक विद्वानों की संख्या कम होगी, अतः उस भाषा में लिखनेवाले को समुचित आदर न मिलने की सम्भावना है। वहाँ लेखक का मूल्यांकन एवं आदर करने के लिए साधारण शिक्षित जनता ही सुलभ होगी। प्रान्तीय सरकारों और विश्व-विद्यालयों को इस परिस्थिति पर विचार करना चाहिए।

यह ध्रुव सत्य है कि यदि हमें भारतीय विचार-परम्पराकी पुनः स्थापना करके उसे आगे बढ़ाना है तो हमें अनिवार्य रूप से देशी भाषाओं को अपनाना पड़ेगा। **भारतीय भाषा में अनूदित होते ही एक प्रश्न या समस्या भारतीय मालूम पड़ने लगती है और उसका अनुसंधान देश की विचार-परम्परा का अंग जान पड़ने लगता है।**

कुछ लोगों को आशंका है कि देशी भाषाओं को, जिनमें सब प्रकार के साहित्य की बेहद कमी है, आलोचना और चिन्तन का माध्यम बना लेने पर विचारों का धरातल निम्न हो जायगा। उस दशा में हम उन्नत देशों के ही नहीं स्वदेश के भी उच्चतर धरातल से च्युत होजायँगे। यह आशंका निर्मूल नहीं, किन्तु फिर भी हमें इस दिशा में काम तो शुरू करना ही है। और यदि उसमें काफी विद्वान् लोग दिलचस्पी लें तो आरम्भ उतना खराब भी न होगा। दर्शन के क्षेत्र में हम उन पंडितों को भी साथ ले सकते हैं जो प्राचीन समुन्नत दर्शन-साहित्य से सुपरिचित हैं।

हम अपनी समस्या को कुछ स्पष्ट रूप में सामने रक्खें। हम चाहते हैं कि विश्व-दर्शन के प्रश्नों या समस्याओं को भारतीय बाना

पहनाकर हम उन पर स्वतन्त्र भारतीय ढंग से विचार करें। आज हम योरपीय दर्शन द्वारा उठाये हुये प्रश्नों पर वहीं के संदर्भ में विचार करते हैं—हम देखते हैं कि हेगेल या ब्रेडले के विरुद्ध शोपेनहावर अथवा विलियमजेम्स ने क्या कहा, और उसके प्रत्युत्तर में क्या कहा गया। इसके बदले हम उन प्रश्नों और तर्कों को या तो निर्वैयक्तिक रूप में सामने रक्खेंगे, अथवा उन्हें भारतीय दर्शनों की समस्याओं से सम्बन्धित करके उनके प्रति स्वतंत्र प्रतिक्रिया करेंगे।

यहाँ पाठक नोट करें--हम यह नहीं कह रहे हैं कि हमें योरपीय दर्शन की विशिष्ट समस्याओं की उपेक्षा करनी चाहिए। वैसा करना तो हमारे लिये घातक होगा। आज के युग में दार्शनिक चिन्तन का अर्थ यह कभी भी नहीं हो सकता कि हम प्राचीन भारतीय दर्शनों के वाद-विवादों को दुहराते रहें। यह काम तो काशी की पंडित मंडली सदियों से करती आई है—हम देख रहे हैं कि इस कार्य ने भारत में नवीन दर्शन का उदय होने में कोई मदद नहीं की है। हमें योरपीय दर्शन की समस्याओं को लेना ही होगा। योरपीय विज्ञान की भाँति हम योरप के दर्शन की उपेक्षा करने की कल्पना तक नहीं कर सकते। इसका प्रमुख कारण यह है कि योरप के जिस नये जीवन एवं परिवेश ने नई समस्याओं को जन्म दिया है वह जीवन और परिवेश आज चारों ओर से हमें भी आक्रान्त कर रहा है। यह नहीं हो सकता कि हम योरप से वैज्ञानिक यंत्रों, उद्योग-धंधों, तथा प्रजातन्त्र आदि शासन-प्रणालियों को ले लें और उन प्रश्नों को न लें जो इन परिवर्तनों के कारण वहाँ के वातावरण में उठते रहे हैं।

वस्तुतः आज के नये युग में हम नये प्रश्नों के विमर्श में ही रुचि ले सकते हैं। यदि प्राचीन भारतीय दर्शन की कुछ समस्यायें आज पुरानी पड़ गई हैं और आज के विचारकों के लिये आकर्षण खो बैठी हैं तो हमें अनिवार्य रूप में उनकी उपेक्षा करनी पड़ेगी। उदाहरण के लिये आज हमारी दृष्टि में मंगलाचरण, शब्द की नित्यता,

पिठरपाक और पीलुपाक, अन्धकार की स्वतन्त्र द्रव्यता आदि से सम्बद्ध विवाद सर्वथा अर्थहीन हो गये हैं, और आज हम उनके विमर्श में अभिरुचि नहीं ले सकते। इसी प्रकार वेदान्त के अध्यास और मोक्ष की समस्यायें भी आज हमें कम सार्थक जान पड़ती हैं। आज सांख्य के बुद्धि, अहंकार आदि तत्व बहुत हद तक कल्पित जान पड़ते हैं। इसके विपरीत डार्विन का विकास-सिद्धान्त, आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद, मनोविज्ञान का "गैस्टाल्ट" सिद्धान्त आदि अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ते हैं।

दर्शन के क्षेत्र में हमारे लिये बड़े सौभाग्य एवं गौरव की बात यह है कि हमारे प्राचीन विचारकों ने बहुत-से ऐसे प्रश्न उठाये थे जिन पर आज भी बराबर विमर्श चल रहा है। डा० आत्रेय ने "योगवाशिष्ठ ऐन्ड मॉडर्न थाट" पुस्तक में यह दिखाने का सफल प्रयत्न किया है कि उक्त ग्रन्थ के चिन्तन-उद्गारों और आधुनिकतम विचारों में आश्चर्यजनक साम्य है। "योगवाशिष्ठ" ही नहीं, प्राचीन भारत के किसी भी प्रौढ़ दार्शनिक ग्रन्थ के सम्बन्ध में वैसा दावा किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन के पाठक जानते हैं कि यहाँ दर्शनों का विस्तार टीकाओं एवं उपटीकाओं के माध्यम से हुआ। हमारे देश में भाष्यकार और टीकाकार मूल लेखकों से कम अच्छे विचारक नहीं होते थे। बाद में आनेवाले टीकाकार प्रायः दर्शन-विशेष को उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते थे। उदाहरण के लिये वात्स्यायन के "न्याय-भाष्य" की अपेक्षा उद्योतकर का "न्यायवार्तिक" प्रौढ़तर ग्रन्थ है। इसी प्रकार दिङ्नाग के मूल ग्रन्थ से धर्मकीर्ति का "प्रमाण-वार्तिक" अधिक प्रौढ़ कृति है। बाद में आने वाले टीकाकार उन सब तर्कों का उत्तर दे देते थे जो मूल ग्रन्थ की रचना के बाद उसके विरुद्ध उठाये जाते थे। हम कह रहे हैं कि प्राचीन भारतीय दर्शन में ऐसे बहुत से प्रश्न उठाये गये थे जिन पर आज भी विचार

हो रहा है। आज हम इन प्रश्नों पर विचार करना प्रारम्भ करके स्वतन्त्र भारतीय दर्शन की नींव डाल सकते हैं। किन्तु अपने इन विमर्षों में हम प्राचीन भारतीय दर्शन की युक्तियों को ही नहीं दुहरायेंगे; इसके विपरीत हमें उन युक्तियों का आकलन भी करना होगा जो वर्तमान योरप के विचारकों द्वारा उपस्थापित की गई हैं। उदाहरण के लिये 'कोई सत्य या कथन निरपेक्ष रूप में सच्चा होता है या नहीं' इस प्रश्न पर विचार करते हुये जहाँ हम स्याद्वादी जैन विचारकों की उक्तियों पर विचार करेंगे वहाँ योरप के संगतिवादी ज्ञान-मीमांसकों के विमर्षों पर भी उतना ही ध्यान देंगे। इस प्रकार योरपीय विचारों की उपेक्षा न करते हुए और महत्वपूर्ण भारतीय चिन्तन-पद्धतियों का उपयोग करते हुये हम अपने देश में वर्तमान योरपीय दर्शन से उच्चतर दर्शन अर्थात दार्शनिक-चिन्तन की अवतारणा कर सकते है। कम-से-कम इतना निश्चित है कि इस पद्धति से हम अपने देश में स्वतन्त्र चिन्तन-परम्परा की प्रतिष्ठा कर सकते हैं।

योरपीय दर्शन की किसी भी समस्या पर विचार करते हुऐ हमें प्रायः यह विश्वास नहीं हो पाता कि हम समस्त योरप में उस सम्बन्ध में व्यक्त किये हुए मत-मतान्तरों से सुपरिचित हैं; फलतः हमें कभी यह दावा करने का साहस नहीं होता कि हम उस समस्या पर कोई नई बात सोच या कह रहे हैं। उस सम्बन्ध में हमारे अधिकांश विचार योरपीय स्रोतों से आते हैं और हमारे भाग्य में उनका प्रतिपादन अथवा स्पष्टीकरण मात्र ही रह जाता है। अपने देश में स्वतन्त्र रीति से चिन्तन करते हुऐ ही हम इस दैन्य से मुक्त हो सकेंगे।

युक्तिगत सूक्ष्मता और चिन्तनात्मक गहराई दोनो दृष्टियों से प्राचीन भारत के विचारक आधुनिक योरप के तत्व-चिन्तकों से पीछे नहीं हैं। उन समस्याओं पर जो प्राचीन भारतीय दर्शन तथा आधुनिक योरपीय दर्शन में सामान्य हैं, भारतीय दार्शनिकों के विचार आज भी महत्व रखते हैं। विशेषतः ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय

दर्शन की तीन-चौथाई समस्यायें आज भी ज्वलन्त प्रश्न बनी हुई हैं और उनके सम्बन्ध में भारतीय विचारकों द्वारा दिये गये समाधान उतना ही महत्व रखते है जितना कि वर्तमान योरपीय विचारकों के समाधान-प्रयत्न ।

प्रसिद्ध विचारक डा० सी० डी० ब्राड ने अपनी एक पुस्तक में एक समस्या के सम्बन्ध में विनोदपूर्वक लिखा हैं—

'अनेक संभाव्य वादों या व्याख्याओं के कारण इस समस्या पर लम्बी विवाद-रूप प्रगति की आशा की जा सकती है, यदि वैज्ञानिक और देशभक्त मिल कर सभ्यता और उसके साथ तटस्थ अथवा निरुपयोगी चिन्तन को ही खत्म न कर दें !' नीचे हम भारतीय दर्शन की कुछ ऐसी ही 'बहुव्याख्या सह' समस्याओं का आभास देकर इस निबन्ध को समाप्त करेंगे ।

(१) – प्रमाण का स्वरूप । 'अनुभूति ही प्रमाण है ; वह स्मृति से भिन्न है' २ (प्रभाकर) । यथार्थ, अगृहीत को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है, ३ (भाट्टमत) । अविसंवादी अर्थात व्यवहार में धोखा न देने वाला ज्ञान ही प्रमाण है । ज्ञान से भिन्न इन्द्रियार्थ-संनिकर्ष आदि प्रमाण नहीं हैं, ४ (धर्मकीर्ति) । प्रमा के कारण अर्थात् सबसे

१—It is this extreme variety of alternative theories which gives a legitimate hope for indefinite progress with the problem under discussion, provided the scientists and the patriots between them do not destroy civilization, and with it all disinterested thinking. (Scientific Thought, p. 271.)

२—प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या । (प्रकरणपंचिका)

३—यथार्थं (कारणदोषबाधकज्ञानरहितं वा) अगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् । [शास्त्रदीपिका, १।१।५]

४—प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम् । (प्रमाणवार्तिक, १।३) नाज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षादि । (मनोरथनन्दी)

महत्वपूर्ण साधन को प्रमाण कहते हैं * (न्याय)।

(२) प्रत्यक्ष का स्वरूप—प्रत्यक्ष कल्पना-रहित होता है; यह बात प्रत्यक्ष-सिद्ध है, १ (दिङ्नाग और धर्मकीर्ति)। [कल्पना का अर्थ है जाति, गुण आदि की योजना, (न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका)।]

इन्द्रियार्थ संनिकर्ष-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है २। वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, सविकल्पक और निर्विकल्पक ३।

निर्विकल्पक का अर्थ है कुछ विशेषों से वियुक्त का ग्रहण, न कि सब विशेषों से वियुक्त का ४ (रामानुज)।

समस्त ज्ञान सविकल्पक होता है यह मन्तव्य अनुभव-विरुद्ध है, ५ (पार्थसारथि मिश्र)।

जिस वस्तु का ज्ञान है उसी वस्तु से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, ६ (वसुबन्धु)।

(३) अनुमान से वस्तु की उपस्थिति मात्र का बोध होता है, ७

---

*—विषयान्तरं प्रति करणसाधनं प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। (न्यायवार्तिक, १।१।३)

१—प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति। (प्रमाणवार्तिक, २।१२३)

२—न्याय भाष्य और वार्तिक।

३—न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका। (१।१।४)

४—निर्विकल्पकं नाम केनचिद् विशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणं, न सर्वविशेषरहितस्य। (श्रीभाष्य, १।१।१)

५—केचित्तु सविकल्पमेव सर्वं ज्ञानं न निर्विकल्पकं नाम किंचिदस्तीति मन्यन्ते। तत्तु प्रतीतिविरुद्धम्। (शास्त्रदीपिका, १।१।४)

६—ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्। (न्यायवार्तिक में उद्धृत, १।१।४)

७—सन्मात्रग्राह्यनुमानं भवति। (बृहती—दे० पूर्व मीमांसा इन् इट्स सोर्सेज़, गंगानाथझाकृत, पृष्ठ ८१)

(प्रभाकर) । अनुमान का विषय भी विशेषयुक्त होता है, १ (रामानुज)।

(४) प्रत्यक्ष अर्थ का होता है न कि अर्थ-बुद्धि (ज्ञान) का, २ (शबरस्वामी)। एक ही विज्ञान नील-रूप में और नील-बोध के रूप में अनुभूत होता है ३ (विज्ञानवादी)।

(५) सामान्यतत्व—परमार्थतः पदार्थ न एक-दूसरे से समानता रखते हैं, न भिन्नता; उनमें साम्य और वैषम्य की प्रतीति बुद्धि की भ्रान्ति है। समान और भिन्न का व्यवहार बौद्धिक (बुद्धि-कल्पित) अर्थ में हैं, स्वलक्षण (निराले अस्तित्व वाली वस्तुओं) में नहीं, ४ (धर्मकीर्ति)।

सामान्य का अस्तित्व प्रत्यक्ष-सिद्ध है। क्योंकि सारे अनुमान सामान्य पर निर्भर करते हैं, अतः अनुमान प्रमाण भी सामान्य का खण्डन नहीं कर सकता ५ (पार्थसारथि मिश्र)।

यदि सामान्य का अस्तित्व नहीं है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का सामान्य ? ६ (व्योमशिवाचार्य)।

१—अनुमानमपि सविशेषविषयमेव। (श्रीभाष्य, १।१।१)

२—अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्धिविषया। (झा, वही, पृ० ८०)

३—तस्माद् द्विरूपमस्त्येकं यदेवमनुभूयते। (प्रमाणवार्तिक २।३३७)

४—संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः रूपमेकमनेकञ्च तत्र बुद्धेरुपप्लवः। भेदस्ततोऽपि बौद्धेऽर्थे सामान्यं भेद इत्यपि। (प्रमाणवार्तिक ३।८६,८७)

५—प्रत्यक्षबलसिद्धस्य सामान्यस्य कुतर्कतः, न शक्योऽपह्नवः कर्त्तुम्। किञ्चानुमानान्यपि सामान्यापेक्षत्वात् सुतरां सामान्यं समर्थयन्ते, न तु बाधितुं शक्नुवन्ति। (शास्त्रदीपिका, १।१।५)

६—यदि चाऽसत्त्वं सामान्यस्य, कथं स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षं सामान्यविषयमनुमानमितिस्यात् (व्योमवती)।

भेदप्रतीति न होने के कारण गुण द्रव्यात्मक है, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। इसी प्रकार सामान्य, विशेष आदि द्रव्यात्मक हैं। १ (शंकराचा

ऊपर की समस्याएँ उदाहरण-रूप में दी गई हैं। सामान्यतः प्रमाणों, भ्रम, कारणता आदि से सम्बद्ध सारी आलोचनाएँ इसी प्रकार की हैं। उनका भारतीय दर्शन की अपरीक्षित अथवा अल्प-परीक्षित मान्यताओं (जैसे मोक्षवाद) से कोई सम्बन्ध नहीं है। तत्वमीमांसा के क्षेत्र में बौद्ध दर्शन के मन्तव्य बड़े क्रांतिकारी और आधुनिक हैं। जहां वेदांत धार्मिक हेतुओं से प्रपंच को मिथ्या बतलाता है वहाँ धर्मकीर्ति स्वलक्षणों के जगत् को परमार्थ सत् एवं अशेष बौद्धिक विकल्पनाओं को संवृतिसत् घोषित करता है। २

हमारे यहां उत्तरकालीन दर्शन-ग्रन्थों को प्रत्यक्षादि परिच्छेदों में विभक्त करने की प्रथा पाई जाती है। विश्वनाथ की 'कारिकावली', धर्मराजाध्वरीन्द्र की 'वेदान्त-परिभाषा' आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इस प्रथा का अनुसरण स्पष्ट चिन्तन के लिये हितकर होगा; वह भारतीय दर्शन के स्वतन्त्र अस्तित्व का भी प्रबल प्रतीक होगा।

१—एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता। (ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।३)

२—अर्थक्रिया समर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्, अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे। (प्रमाणवार्तिक, २।३)

सहायक (उद्धृत) ग्रन्थों की सूची

(१) संस्कृत और हिन्दी

ईशादि दशोपनिषद शांकर भाष्य सहित, वाणीविलास संस्कृत पुस्तकालय

उपदेश साहस्री रामतीर्थ कृत टीका सहित निर्णय सागर प्रेस, १९१४

श्वेताश्वेतरोपनिषद गीता प्रेस, गोरखपुर

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य रत्नप्रभा, भामती, न्याय निर्णय सहित, निर्णय सागर प्रेस, १९३४।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य नव टीका सहित, कलकत्ता संस्कृतसीरीज़, १।

पञ्चपादिका विवरणम्, विजयानगरम्संस्करण।

श्री मद्भगवद्गीता।

नैष्कर्म्य सिद्धि, ज्ञानोत्तम कृत चन्द्रिका सहित, हिरियन्ना द्वारा संपादित बम्बई, १९३५।

वेदान्त परिभाषा, शिखामणि-मणिप्रभा सहित, वेङ्कटेश्वर प्रेस, १९०१।

न्याय दर्शन, वात्स्यायन भाष्य सहित (चौखम्बा संस्करण)।

न्याय वार्त्तिक (चौखम्बा संस्करण)।

सांख्य तत्त्व कौमुदी

योगसूत्र, व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी सहित, पूना, १९१७।

शास्त्रदीपिका सटीक, निर्णय सागर प्रेस, १९१५।

सर्वदर्शनसंग्रह, आनन्दाश्रम संस्करण।

श्रीभाष्य चतुस्सूत्री, श्रुतप्रकाशिका सहित, नि० सा० प्रेस १९१६

मूलमध्यमककारिका, पूसें द्वारा सम्पादित।

प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दी की वृत्ति सहित, राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित

मनुस्मृति
पदार्थधर्मसंग्रह व्योमवत्यादि सहित (चौखम्बा संस्करण) ।
तर्कसंग्रह दीपिका सहित ।
स्याद्वादमञ्जरी, बाम्बे संस्कृत ऐण्ड प्राकृत सीरीज़ ।
बृहदारण्यकोपनिषद शांकर भाष्य, आनंदाश्रम संस्करण ।
सम्बन्धवार्तिक, आनन्दाश्रम संस्करण ।
विवरणप्रमेयसंग्रह, विजयानगरम् संस्करण ।
दर्शनदिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन कृत ।
तिलककृत गीतारहस्य, हिन्दी अनुवाद, माधवराव सप्रे ।

(२) अंग्रेज़ी

Adamson, The Development of Greek Philosophy (1904)
Alexaneder, S. Space, Time and Deity (1920)
Arnold, Thomas, The Islamic Faith (1928)
Baldwin, Dictionary of Philosopy & Psychology (1918)
Bergson, H. Creative Evolution (Macmillon, 1928)
Introduction to Metaphysics (1913)
Besant, Annie, Four Great Religions (1906)
Boer, History of Philosophy in Islam (1933)
Bosanquet, B. Logic Vols I & II (Second Edn.)
Bradley, F. H. Appearance & Reality (1930)
Essays on truth and Reality (1914)
Broad, C. D. Scientific Thught (1923)
Burnet Greek Philosophy (1920)
Caird E. Hegel (Blackwood, 1903)
Chatterji, S. C. The Nyaya Theory of Knowledge (Calcutta, 1939)

Cattel, R. B. Psychology and the Religious Quest (1938)

Das Gupta, S. N. A History of Indian Philosophy Vol. I. (1922) Vol. II (1932)
Indian Idealism (Cambridge, 1933)

Deussen, P. The system of Vedanta (Chicago, 1912)

Dutt, N. K. The Vedanta (Calcutta, 1931)

Ewing, A. C. Idealism: A Critical Survey (London, 1934)
A Short Commentary on Kant's Critique of Pure Reason (Mathuen, 1938)

Falckenberg, History of Modern Philosophy (3rd Edn.)

Fung Yu-Lan A History of Chinese Philosophy (Allen & Unwin, 1937)

Hiriyanna, M. Outlines of Indian Philosophy (Londan, 1932)

Hoffding A History of Modern Philosophy (1920)

Hughes, E. R. Chinese Philosophy in Classical Times (Everyman, 1937)

Huxley, A. Ends and Means (1940)

James, W. Pragmatism (1907)

Joseph Introduction to Logic (Second Edn. 1916)

Keith, A. B Buddhist Philosophy (Oxford, 1923)
Indian Logic and Atomism (1921)

Lin Yutang	The Wisdom of China (1948)
Mc Govern	An Introduction to Mahayana Buddhism (1922)
Mc Dougall	An Outline of Psychology (1923)
Mc Taggart	Studies in Hegelian Cosmology (1918)
Morgan, L.	Emergent Evolution (1923)
Morris	Idealislic Logic (1933)
Mukerji, A. C.	The Nature of Self (Allahabad, 1938)
Paulsen	Introduction to Metaphysics (1930)
Perry, R.B.	The Present Conflict of Ideals. (Longmans, Green & Co. 1918)
Pringle Pattison	Man's Place in the Cosmos and Other Essays (London, 1902)
	The Idea of God (1930)
Radhakrishnan	An Idealist View of Life (Allen and Unwin, 1929)
	East and West in Religion (1933)
Rand	Modern Classical Philosophers
Sidwick, H.	History of Ethics (1931)
Smith, N. K.	Commentary to the Critique of Pure Reason (Macmillan, 1923)
Seal, B. N.	Positive Sciences of the Ancient Hindus
Sogen, Y.	Systems of Buddhist Thought.
Stalin, J.	Dialectical and Historical Materialism (Moscow, 1942)
Stcherbatsky.	Buddhist Logic. Vol. I. (Leningrad, 1932)
	The Conception of Budhist Nirvana (1927)

Suzuki D. T. Outlines of Mahayana Buddhism (London, 1907).

Sweitzer, Albert Indian Thought and Its Development

Vidyabhushan, S. C. History of Indian Logic.

Wallace, W. Logic of Hegel (1892).

Weber and Perry History of Philosophy. (1925)

Whitehead, A.N. Science and the Modern World (Pelican, 1938).

Windelband A History of Philosophy (London, 1900).

Wundt Ethics.

China (United Nations Series, University of California Press, 1946).

Encyclopaedia Britannica (14th Edn.)

Textbook of Marxist Philosophy (Kitab Mahal, 1944).

Twentieth Century Philosophy (Philosophical Library, New York, 1943)

English Philosophers from Bacon to Mill—

Berkeley's A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge (Modern Library, 1937).

अनुक्रमणिका

सूचनाः—प्रायः महत्त्वपूर्ण पृष्ठ-संकेतों का ही समावेश किया गया है।

लेखक की अन्य कृतियाँ

दर्शन

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास
(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)

योरूपीय दर्शन (अप्राप्य)

साहित्य

प्रणय-गीत (कविता)

जीवन-रश्मि (कविता)

छायावाद का पतन (आलोचना)
(वाणी मंदिर, छपरा)

साहित्य-चिन्ता
(गौतम बुकडिपो, नई सड़क, दिल्ली)

आगामी कृतियाँ

पथ की खोज (उपन्यास—प्रेस में)

उल्लास और उद्वेग (कविता)

Reality, Imagination and Culture

पहले संस्करण पर कुछ सम्मतियाँ

साहित्य संदेश (जून, १६४५)

पुस्तक बहुत विद्वत्तापूर्ण लिखी गई है और दर्शन का स्वाध्याय करनेवालों के लिये बड़ी उपयोगी है।

विशाल भारत (नवंबर, १६४५)

पुस्तक का आकार छोटा है पर उसके भीतर जितनी सामग्री आई है वह कम नहीं है। इस पुस्तक से यह समझने में बहुत सहायता मिलेगी कि भारत और योरप के तत्त्वचिन्तकों की विचार-धारा में भेद क्या है तथा उस भेद का कारण क्या है।...मैं डॉ० देवराज के इस सुन्दर प्रबन्ध का स्वागत करता हूँ।

डॉ० धीरेन्द्रमोहनदत्त अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, पटना कालेज:—

प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन मातृभाषा में करके आपने न केवल उसकी श्रीवृद्धि की है अपितु एक पथ-प्रदर्शक का काम किया है। उभय शास्त्रों में आपके ज्ञान का परिचय पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर है।

The Modern Review (Feb. 1946)

Here is a...**compendium....of the diverse contributions made in East and in West, down the ages, to the sum and substance of the philosophic thought of humanity**...The learned doctor has avoided the use of highly involved language. His coining of Hindi equivalents...is quite happy. For the layman, keen on acquainting himself with the principal concepts of Eastern and Western philosophy, **no better book than the book under review could be recommended.**